मुग़ल साम्राज्य और राजपूत

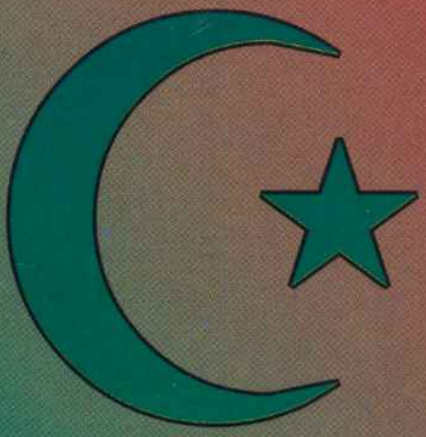

डॉ० प्रदीप शुक्ल

मुग़ल साम्राज्य और राजपूत

डॉ० प्रदीप शुक्ल

मुग़ल साम्राज्य और राजपूत

डॉ० प्रदीप शुक्ल
रीडर एवं अध्यक्ष
इतिहास विभाग, विश्वविद्यालय शिक्षण विभाग
गुरु घासीदास विश्वविद्यालय बिलासपुर, छत्तीसगढ़

बाल भारती प्रकाशन
30, पुराना अल्लापुर, इलाहाबाद - 211006

ISBN : 81 - 86297 - 20 - 2

प्रकाशक	:	बाल भारती प्रकाशन 30, पुराना अल्लापुर, इलाहाबाद-211006
लेखक	:	डॉ0 प्रदीप शुक्ल
मुद्रक	:	भार्गव आफसेट बाई का बाग, इलाहाबाद-211006
टाइप सेटिंग	:	शकील कम्प्यूटर्स इलाहाबाद
संस्करण	:	प्रथम, 2006
मूल्य	:	दो सौ पचास रुपये मात्र

प्रस्तावना

भारत के इतिहास में ईस्वी सन् 1526 एक नए युग का प्रस्थान बिंदु माना जाता है। जब पिता की ओर से तैमूर का वंशज और माता की ओर से चंगेज खां से संबंधित बाबर ने हिन्दुस्तान में मुग़ल साम्राज्य की नींव डाली। मुग़लिया सल्तनत के प्रारंभिक 150 वर्ष भारतीय इतिहास में अविस्मरणीय हैं। मुग़लों ने भारत में राजनीतिक एकता स्थापित करके सम्पूर्ण भारत को क्रियात्मक रूप में एक राष्ट्र राज्य बनाने का यत्न किया, मुग़लों ने अपने साम्राज्य के सभी भू-भागों में एक समान शासन व्यवस्था, एक भाषा (फ़ारसी) तथा एक समान आर्थिक-वाणिज्यिक प्रणाली अपना कर भारत की एकता को पुनर्स्थापित किया। मुग़ल शासनकाल में भारत बाह्य आक्रमणों से सुरक्षित रहा, सुदृढ़ आंतरिक व्यवस्था कायम हुई, कृषि व्यापार व वाणिज्य को प्रोत्साहन मिला तथा राष्ट्र का आर्थिक विकास संभव हो सका। इसके अतिरिक्त मुग़ल शासन व्यवस्था में हिन्दू-मुस्लिम संबंध अपेक्षाकृत अधिक सौहाद्रपूर्ण रहे और देश में गंगा-जमुनी संस्कृति, कला-कौशल, शिक्षा, साहित्य व ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में एक पृथक् शैली का विकास हुआ।

राजपूत जो तत्कालीन भारत की शक्तिशाली सैनिक जाति थी, परम्परानुरूप मुग़लों से विशेष रूप से बाबर से, जमकर लड़ाईयाँ लड़ीं । लेकिन जिस प्रकार तालिकोटा की लड़ाई (1565 ई.) में विजयनगर साम्राज्य पूर्णत: नष्ट नहीं हुआ, उसी तरह खानुआ की लड़ाई (1527 ई.) में राजपूत शक्ति पूर्णत: नष्ट नहीं हुई। मुग़लों, विशेषकर अकबर की धार्मिक नीति, विशेषकर राजपूतों के प्रति नीति ने उन्हें (राजपूतों को) मुग़ल सल्तनत के विराधी के स्थान पर भरोसेमंद समर्थक बना दिया। अकबर एक बेहतरीन राजनीतिज्ञ और उदार विचारों वाला मनुष्य था। मुग़लों को राजपूतों के सैन्य पराक्रम और शौर्ययुक्त साहस का अच्छा ज्ञान था। अकबर ने ठीक ही सोचा कि यदि राजपूतों की शत्रुता खतरनाक है, तो उनकी मित्रता भी उतनी ही काम की होगी। अकबर के नवस्थापित साम्राज्य के लिए यह आवश्यक भी था कि राजपूत उसके नियंत्रण में रहें, अत: उसने (अकबर) राजपूतों के प्रति मैत्रीपूर्ण नीति अपना कर उन्हें (राजपूतों को) साम्राज्य का सम्माननीय समर्थक बना लिया। बदले में राजपूतों ने सेना, शासन, अर्थनीति, साहित्य और कला आदि विभिन्न क्षेत्रों में मुग़ल साम्राज्य की अविस्मरणीय सेवा की। इस प्रकार मुग़ल राजपूत मैत्री ने उस राजनीतिक एकता, शासन की योग्यता

और सांस्कृतिक चमत्कार की प्रेरित में अभूतपूर्व योगदान दिया जो इस काल के पूर्व केवल मौर्य-काल या गुप्त-काल में देखने को मिलती है। अकबर की नीति थोड़े बहुत संशोधन के साथ जहाँगीर और शाहजहाँ तक चलती रही और इसके साथ-साथ मुग़ल साम्राज्य अपनी स्वर्णिम आभा के साथ ऊचाईयों की ओर बढ़ता रहा। किन्तु औरंगजेब ने अपने परबाबा की राजपूत नीति में आमूलचूल परिर्वतन किया और एक धर्मान्ध व्यक्ति के रूप में शासन किया। इन कार्यों ने साम्राज्य के हितों पर विपरीत प्रभाव डाला। मुग़ल साम्राज्य अब राजपूतों की भक्ति और साहस का उपयोग विद्रोहों को दबाने और युद्धों में नहीं कर सकता था। औरंगजेब ने युद्ध और शांति दोनों दशाओं में असफलता की फसल काटी।

उपर्युक्त पृष्ठभूमि में इस पुस्तक का मूल उद्देश्य सन् 1526 से 1707 तक की अवधि में मुग़लों एवं राजपूतों के मध्य संबंधों का विश्लेषणात्मक अध्ययन करना है। मुझे विश्वास है कि यह पुस्तक अपने उद्देश्यों में सफल सिद्ध होगी। इस पुस्तक की लेखन यात्रा में अनेक मित्रों एवं शुभचिंतकों का सहयोग मिला, उन सभी का मैं आभारी हूँ। डॉ. रोपित बाजपेयी का मैं विशेष रूप से आभारी हूँ जिन्होंने अपने बहुमूल्य सुझावों से इस पुस्तक के महती लेखन कार्य को सफल बनाया। अत: मैं यह पुस्तक सुधी विद्वत्जनों के हाथों सौंपते हुए यह आशा करता हूँ कि वे इसका समुचित मूल्यांकन करेंगे।

धन्यवाद,

'सिद्ध सदन'
सर्किट हाउस मार्ग,
बिलासपुर (छत्तीसगढ़)

डॉ0 प्रदीप शुक्ल

अनुक्रम

मुगल साम्राज्य की स्थापना	–	9–44
बाबर और राजपूत	–	45–85
हुमायूं एवं राजपूत	–	86–116
अकबर एवं राजपूत	–	117–154
जहांगीर एवं राजपूत	–	155–168
शाहजहां एवं राजपूत	–	169–207
औरंगजेब एवं राजपूत	–	208–245
संदर्भ एवं ग्रन्थ	–	246–249

मुग़ल साम्राज्य की स्थापना

> "मैं तो मुद्दतों से हिन्दुस्तान लेने की सोच रहा था ..... दूसरी बात यह कि बहीरा, खुशाब, चीनाव और चीनीवत को मिलाकर मुल्क की यह पूरी पट्री कभी तुर्कों की थी। इसलिए इसे हम अपना ही माने हुए थे। मुझे पूरा भरोसा था कि चाहे तलवार से हो, चाहे सुलह से, इसे तो हम लेंगे ही।"
>
> बाबर (बाबरनामा पृ० 278)

भारत में मुग़ल साम्राज्य का संस्थापक बाबर स्वयं को तैमूर का वारिस मानता था और इस नाते तैमूर के सारे साम्राज्य पर अपना अधिकार समझता था। तैमूर के मध्य एशियाई साम्राज्य पर कब्जे के लिए शैफानी खाँ उजबेक से कई लडाईयाँ हारने के बाद बाबर ने दक्षिण एशिया के समृद्ध भू-भाग हिन्दुस्तान की ओर नजर की। तैमूर इसके एक इलाके को जीत चुका था और बाबर नैसर्गिक रूप से इस पर अपना अधिकार मानता था। मध्य एशिया की हार और दक्षिण के समृद्ध भू-भागों पर नैसर्गिक अधिकार के अभिमान ने बाबर को हिन्दुस्तान की राह दिखाई और बाबर हिन्दुस्तान विजय के लिए चल पड़ा।

सन् 1526 भारतीय इतिहास में एक नए युग का प्रस्थान बिंदु का माना जाता है, जब पिता की ओर से तैमूर का वंशज तथा माता की ओर से चंगेज खाँ से संबंधित चुगताई तुर्क जहीरूद्दीन मोहम्मद बाबर ने हिन्दुस्तान पर मुग़ल साम्राज्य की नींव रखी। 21 अप्रैल सन् 1526 को पानीपत के प्रथम युद्ध में बाबर ने दिल्ली के सुल्तान इब्राहिम लोदी को हराकर अपनी व्यापक महत्त्वाकांक्षाओं को सुदृढ़ अभिव्यक्ति प्रदान की। पूर्वी एशिया की इस युगांतकारी घटना की तुलना इसके चालीस वर्ष पूर्व सन् 1485 में यूरोप के प्रसिद्ध बासवर्थ के युद्ध से की जा सकती है, जबकि युद्ध में विजयी हेनरी सप्तम ने इंग्लैंड में एक नया राजवंश स्थापित किया। मुग़लिया सल्तनत के लगभग 250 वर्ष भारतीय इतिहास में उसी तरह अविस्मरणीय हैं जैसे इंग्लैंड में ट्यूडर शासकों का युग प्रसिद्ध है।

मुगलों के पहले दिल्ली की गद्दी पर तुर्क और अफगान मुस्लिम शासकों ने लगभग तीन सौ वर्षों तक शासन किया। लेकिन हिन्दुस्तान के इतिहास में इस काल की अपेक्षा मुग़ल-काल का अधिक महत्त्व है। मुग़लों ने हिन्दुस्तान के सम्पूर्ण

उत्तरी भू-भाग और दक्षिण के अधिकांश भू-भागों में राजनीतिक एकता स्थापित करके समूचे हिन्दुस्तान को क्रियात्मक रूप से एक राज्य बनाने का यत्न किया। मुग़लों ने अपने साम्राज्य के सभी भू-भागों में एक समान शासन-व्यवस्था, एक भाषा (फ़ारसी) तथा एक समान आर्थिक प्रणाली अपनाकर हिन्दुस्तान की एकता को पुनर्स्थापित किया। मुग़लों ने एशिया, अफ्रीका एवं यूरोप के देशों में राजनीतिक, आर्थिक संबंध पुनः स्थापित किए। मुग़ल शासनकाल में हिन्दुस्तान लगभग दो सौ पचास वर्षों तक बाह्य आक्रमणों से सुरक्षित रहा, आंतरिक व्यवस्था कायम हुई, देश का आर्थिक विकास संभव हुआ। मुग़ल शासनकाल में हिन्दू-मुसलमानों के आपसी संबंध अपेक्षाकृत अधिक सौहद्रपूर्ण रहे और देश में गंगा-जमुनी सभ्यता, कला-कौशल, शिक्षा, साहित्य तथा ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में एक पृथक् शैली का विकास हुआ।

बाबर को इस महान मुग़ल साम्राज्य का संस्थापक माना जाता है। लेनपुल लिखता है "भारत के साथ उसका संबंध उसके जीवन के अंतिम 12 वर्षों में ही स्थापित हुआ। उसका यौवन स्वदेश में अपनी सत्ता कायम रखने की कोशिश में बीता। ..... 36 वर्ष की उम्र में जाकर उसने हिन्दुस्तान की ओर नजर उठाई। .... .. और पाँचवे हमले में उसकी जीत हुई"। यह समय दिल्ली सल्तनत के पतन का समय था और अपने पैतृक राज्य फरगाना से बेदखल बाबर के लिए एक सुनहरा अवसर भी ताकि वह अपनी एक शानदार विरासत छोड़कर जाए। बाबर की जांबाजी उसके साथ थी तथा तकदीर उसके पक्ष में और फिर सन् 1526 को भारतीय इतिहास का अविस्मरणीय वर्ष बनना ही था।

बाबर के आगमन के पूर्व की राजनीतिक दशाएँ

बाबर की सफलता में हिन्दुस्तान को तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। बाबर के समय के हिन्दुस्तान में केन्द्रीय सत्ता के अभाव में चारों ओर अराजकता और अशांति छाई हुई थी। सन् 1192 के तराईन के युद्ध में पराजित राजपूत शक्तियों की समाधि पर जिस विशाल तुर्क अफगान साम्राज्य के महल का निर्माण किया गया वह सन् 1526 आते-आते खोखला और शक्तिहीन हो गया। इन परिस्थितियों में विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति के ताकतवर हो जाने से हिन्दुस्तान अनेक छोटे बड़े स्वतंत्र राज्यों में बँटा हुआ था। इन राज्यों के बीच परस्पर वैमनस्य एवं ईर्ष्या की प्रबल भावना विद्यमान थी तथा आपसी एकता एवं सहयोग

का नितांत अभाव था। बाबर ने अपनी आत्मकथा में तत्कालीन हिन्दुस्तान के 5 मुस्लिम शासित एवं दो हिन्दूशासित राज्यों का वर्णन किया है। बाबर लिखता है कि "मेरी जीत के दिनों में यहाँ पाँच मुसलमान बादशाह और दो काफिर थे। इनका सब ओर मान था और ये किसी के मातहत न थे। .... सुलतान बहलोल लोदी और उसके बेटे ने दिल्ली और जौनपुर को लेकर दोनों की एक सल्तनत बनाई। दूसरा गुजरात में सुलतान मुहम्मद मुजफ्फर था .... तीसरा दकन में बहमनी था अब भी है परन्तु उसमें दम न रहा। ..... चौथा मालवा में सुल्तान महमूद था....पाँचवा नुसरत शाह बंगाल में था।..... काफिरों में बीजानगर का राजा मुल्क और लश्कर दोनों तरह से बड़ा है। दूसरा राजा साँगा है उसका अपना मुल्क चित्तौड़ है।" तत्कालीन हिन्दुस्तान में इन बड़े सात राज्यों के अलावा भी अनेक छोटे-छोटे राज्य थे जो इन बड़े राज्यों की नाममात्र की अधीनता को स्वीकारे हुए थे। बाबर के समय की राजनीतिक दशा का वर्णन करते हुए लेनपुल लिखता है कि "दिल्ली का साम्राज्य विलीन हो चुका था। बड़े-बड़े प्रान्तों में अलग-अलग राजा राज्य करते थे। छोटे-छोटे जिले और शहरों तक के अपने अलग-अलग सरदार थे जिन पर किसी प्रकार का अंकुश न था। बादशाह का आदेश सर्वोच्च नहीं माना जाता था। यह छोटे राजाओं का मुलुक-अत-तवायफ का जमाना था।" साफ है कि सन् 1526 की राजनीतिक परिस्थितियाँ बाबर के लिए अनुकूल थी। हिन्दुस्तान के तत्कालीन छोटे-बड़े राज्यों में से कुछ का संक्षिप्त परिचय निम्नानुसार है–

उत्तर हिन्दुस्तान के मुस्लिम राज्य

दिल्ली सल्तनत

बाबर के आक्रमण के समय दिल्ली की स्थिति अत्यंत दयनीय थी। दिल्ली सल्तनत में इस समय दिल्ली, आगरा, जौनपुर, दोआब, बिहार के कुछ क्षेत्र और बयाना ही रह गए थे। जिस दिल्ली में बलबन (1265-1287), अलाउद्दीन खिलजी (1296-1316), मुहम्मद बिन तुगलक (1325-1351) जैसे शक्तिशाली शासकों ने राज्य किया और सल्तनत की प्रतिष्ठा पर चारचाँद लगाए। वह परम्परा समाप्त हो गई थी। लोदी वंश, जिसके संस्थापक बहलोल लोदी और बाद में सिकन्दर लोदी ने संगठित और विस्तृत कर शक्तिशाली बनाया था, अब पतनोन्मुख था। लोदी वंश का सबसे प्रतापी एवं योग्य शासक सिकन्दर लोदी था। 21 नम्बर, सन् 1517 को उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र इब्राहिम लोदी दिल्ली की गद्दी पर बैठा।

उसके शासन काल में दिल्ली सल्तनत की स्थिति और बिगड़ गई तथा सल्तनत स्वतंत्र राज्यों, प्रान्तों और जागीरों का समूह मात्र बनकर रह गई। इब्राहिम लोदी वीर और साहसी होने के बावजूद स्वभाव से उद्दण्ड, उग्र, मूर्ख एवं हठी था। वह अपनी अदूरदर्शिता के कारण अपने समय की माँग को पूरा कर सकने में असमर्थ था। वह अपने अफगान सरदारों के स्वभाव और चरित्र को समझने में असफल रहा। बादशाह के खुदाई अधिकार के सिद्धांत में भरोसा रखने के कारण उसने अपने दरबार में कठोर राजकीय अनुशासन और रीति स्थापित करने के प्रयत्न किए। अफगान सरदारों की परम्परागत स्वाभिमानिता और हठी स्वभाव का ध्यान रखकर बहलोल लोदी एवं सिंकदर लोदी जैसे ताकतवर शासकों ने भी उनके साथ समानता का व्यवहार किया था। लेकिन इब्राहिम ने अपने कठोर दरबारी नियमों को लागू करके इन अफगान सरदारों की दरबार में स्थिति को अत्यंत अशोभनीय बना दिया। जो अफगान सांमत लोदी, लोहानी, नियासी जैसे वर्गों में विभक्त थे, वे अब एक साथ मिलकर इब्राहिम लोदी को जड़ से उखाड़ फेकने हेतु अधीर हो उठे। सारे राज्य में विद्रोह की आग सुलगने लगी। इब्राहिम लोदी के रिश्ते के चाचा आलम खाँ लोदी ने दिल्ली की गद्दी पर अपने अधिकार का दावा किया। इब्राहिम लोदी ने पंजाब के सुबेदार दौलत खाँ लोदी के लड़के गाजी खाँ से दुर्व्यवहार किया था, अतः इन दोनों ने चिढ़कर न सिर्फ अपनी स्वतंत्रता की घोषणा की वरन् आलम खाँ के साथ मिलकर काबुल के शासक बाबर को हिन्दुस्तान में आक्रमण का न्यौता भी दिया। इधर बिहार ने अफगान सरदारों ने दरिया खाँ लोहानी के नेतृत्व में बगावत शुरू कर दी। इस तरह बाबर जब हिन्दुस्तान पर अपनी पाँचवी और अंतिम चढ़ाई की तैयारी कर रहा था तब विद्रोह और अशांति की आग में झुलस रही दिल्ली सल्तनत अपनी ऐतिहासिक नियति की तैयारी कर रही थी।

वस्तुतः दिल्ली सल्तनत का पतन मुहम्मद बिन तुगलक (सन् 1325-सन् 1351) के अंतिम दिनों में उत्पन्न परिस्थितियों में अनिवार्य हो चला था। उसके उत्तराधिकारी फिरोज तुगलक (सन् 1351- सन् 1388) की मृत्यु तथा पानीपत के प्रथम युद्ध (सन् 1526) में इब्राहिम लोदी की बाबर के हाथों पराजय के बीच के 138 वर्षों के कालखंड में हिन्दुस्तान में वैसी ही राजनीतिक अराजकता छाई रही जिस तरह हर्ष की मृत्यु (सन् 647) तथा तराईन के युद्ध (सन् 1192) में पृथ्वीराज चौहान की मुहम्मद गोरी के हाथों पराजय के बीच के कालखंड में रही थी। दिल्ली सल्तनत के साम्राज्यीय उत्कर्ष की पराकाष्ठा (सन् 1311ई०) में हुई, जब मालिक

काफुर को मदुरा की जीत प्राप्त हुई और केवल चौथाई शताब्दी भर (सन् 1335 ई०) तक कायम रही। मुहम्मद तुगलक के शासनकाल के शेष सोलह वर्षों में (सन् 1335-सन् 1351) में साम्राज्य सिकुड़कर विंध्याचल के उत्तरी भागों तक सिमट कर रह गया। बंगाल सन् 1337 में ही दिल्ली से अलग हो गया और गुजरात तथा दौलताबाद पर भी उसका अधिकार ढीला-ढाला सा ही बच रहा था। जब सन् 1347 में हसन गंगू बहमनशाह ने बहमनी राज्य की स्थापना की तो दौलताबाद पर दिल्ली सल्तनत का बचा-खुचा आधिपत्य भी उठ गया। मुहम्मद बिन तुगलक के उत्तराधिकारी फिरोजशाह तुगलक ने सल्तनत को बनाये रखने के तथा सरदारों के विद्रोह को शांत करने के उद्देश्य से जागीर प्रथा को नियमित व्यवस्था में बदल दिया इसलिए फिरोज की मृत्यु के पश्चात् इनका अराजकतापूर्ण परिणाम हुआ। फिरोज के बाद उसके छह उत्तराधिकारी हुए-तुगलगशाह द्वितीय (सन् 1388), अबूबकर (सन् 1388-सन् 1390), मुहम्मद द्वितीय (सन् 1390-सन् 1394), सिकंदर (सन् 1394), महमूद और नुसरत दो मिलकर (सन् 1394-सन् 1398) और फिर महमूद (सन् 1399-सन् 1412)। तुगलक वंश के आखिरी शासक महमूद का प्रतिद्वन्दी उसका चचेरा भाई नुसरत शाह था। दोनों ने अपने अलग-अलग स्वतंत्र दरबार स्थापित किए- महमूद ने पुरानी दिल्ली में तो नुसरत ने राजधानी फिरोजाबाद में। दोनों नाममात्र के सुल्तान थे तथा अपने ताकतवर परन्तु कुचक्री अमीरों मल्लू खाँ, सआदत खाँ और मुक़र्रब खाँ आदि के हाथों की कठपुतली बने रहे। जब दिल्ली षड्यंत्रों और गृहयुद्धों का अड्डा बनी थी तब इसी समय समरकंद का अमीर तैमूरलंग हिन्दुस्तान की ओर रवाना हुआ।

तैमूर का हमला (सन् 1398-1399 ई०)

दिल्ली सल्तनत के पतन की प्रक्रिया को सन् 1398 ई० में तैमूर के हमले ने और गति प्रदान की। "एक बाहरी संकट ने जिसे सहज ही दिल्ली सल्तनत के बढ़ते हुए पतन का लक्षण समझा जा सकता था, इसके अंत को लाने में शीघ्रता कर दी। आंतरिक कलह तो इसकी जीवन शक्ति को नष्ट कर ही रहा था। उस पर से तैमूर के आक्रमण ने इसकी संबद्धता को नष्ट कर दिया।" अमीर तैमूर बरलास तुर्कों की गुरकन शाखा के नायक अमीर तुर्गे का पुत्र था। उसका जन्म मध्य एशिया के ट्रांस-आक्सियाना में केश नामक स्थान में सन् 1336 में हुआ था। सन् 1369 में तैंतीस वर्ष की अवस्था में तैमूर समरकंद के सिंहासन पर बैठा। अत्यधिक साहसी और महत्त्वाकांक्षी होने के कारण तैमूर ने मध्य एशिया के अनेक प्रदेशों को

जीता, उसने खारिज्म, मेसोपोटामिया, फारस, अफगानिस्तान पर सफल आक्रमण किए। हिन्दुस्तान की अपार सम्पत्ति ने स्वभावत: उसे प्रलोभित किया। लेकिन अपने सरदारों और सिपाहियों का समर्थन पाने के लिए (जो इस सूदूर भूमि पर उसके प्रस्तावित हमले के पक्ष में नहीं थे) तैमूर ने धर्म का आधार लिया। अपनी आत्मकथा ''मलफुसाते तैमूरी'' में तैमूर लिखता है कि ''हिन्दुस्तान पर हमला करने का मेरा उद्देश्य है काफिरों से विरुद्ध युद्ध करना, पैगम्बर की आज्ञानुसार उन्हें सच्चा धर्म (इस्लाम) स्वीकार करने के लिए बाध्य करना, देश को बहुदेववाद और अंधविश्वास से मुक्त करके पवित्र करना तथा मंदिरों और मूर्तियों का उन्मूलन करना जिससे हम मजहब तथा खुदा के समर्थक और सिपाही बनकर गाजी और मुजाहिद का पद प्राप्त करेंगे।'' अपने 92000 घुड़सवारों की विशाल सेना के साथ तैमूर रास्ते में पड़ने वाले प्रदेशों में लूटमार और मारकाट के अनगिनत किस्से छोड़ता हुआ दिसम्बर 1398 में दिल्ली के दरवाजे पर पहुँच गया। 17 दिसम्बर, 1398 को हुई लड़ाई में सुल्तान महमूद के नेतृत्व में हिन्दुस्तानी सिपाहियों ने वीरता दिखाई परन्तु वे अमीर तैमूर की विशाल संगठित और गतिशील सेना के सामने टिक नहीं पाये। लेकिन हिन्दुस्तानियों के साहस का कायल तैमूर को होना पड़ा। तैमूर स्वीकार करता है कि ''हिन्दुस्तानी सिपाहियों में साहस का अभाव नहीं था और उन्होंने मर्दों की तरह लड़ाई लड़ी।'' अगले दिन सुबह दिल्ली ने आत्मसमपर्ण कर दिया। दिल्ली निवासियों और तैमूर के सिपाहियों के झगड़े ने दिल्ली को लूट और कत्लेआम का उपहार दिया। कई दिनों तक वहाँ (दिल्ली) लूट-खसोट चलती रही। इस भाग्यहीन नगर (दिल्ली) के बहुत से निवासियों को भयंकर तुर्की सैनिकों ने निर्दयता से कत्ल कर डाला अथवा बंदी बना लिया। उनमें से जो कारीगर थे उनको विख्यात जामा मस्जिद बनाने के लिए समरकंद भेज दिया गया जिसका ढांचा तैमूर ने स्वयं तैयार किया था। इस प्रकार दिल्ली के सुल्तानों की राजधानी पर दुर्भाग्य छा गया। तैमूर स्वयं अपनी आत्मकथा में लिखता है कि ''मेरी तमाम सेना आवेश में आकर नगर पर टूट पड़ी और मारने लूटने तथा दास बनाने के अतिरिक्त तीन दिनों तक उसने और कुछ नहीं किया।'' तैमूर के सैनिकों के द्वारा दिल्ली में किए गए कत्लेआम और लूट का ताण्डव भारतीय इतिहास की एक अत्यंत रक्तरंजित एवं लोमहर्षक गाथा है। तैमूर का हिन्दुस्तान पर हमला एक ऐसी आँधी की तरह था जो अपने पीछे भयंकर तबाही छोड़ जाती है। तैमूर दिल्ली तक पहुँचने के अपने रास्ते में पड़ने वाले लाहौर (पंजाब), अटक, मुल्तान,

दीयालपुर, भटनेर, सिरसूती को तथा वाषस जाने के रास्ते में फिरोजाबाद, मेरठ, हरिद्वार, कांगड़ा, जम्मू इत्यादि को उजाड़ता गया, धन-सम्पदा लूटता गया, लाखों निर्दोष नागरिकों का बध करता गया तथा अपने पीछे अराजकता, दुर्भिक्ष व महामारी छोड़ता गया।

इस भयावह हमले से उत्पन्न संकटमय परिस्थितियों में दिल्ली के निवासियों के लिए प्रकृति भी निष्ठुर बन जाती है। बदायूँनी लिखता है कि इस समय दिल्ली में ऐसी कहर और महामारी हुई कि नगर पूर्णत: नष्ट हो गया तथा जो निवासी बचे थे, वे भी मर गए। और दो महीनों तक तो एक पक्षी ने भी दिल्ली में पंख नहीं फड़फड़ाया। तैमूर के हमले के बाद मुग़ल साम्राज्य की स्थापना के पहले तक दिल्ली फिर कभी पनप न पाई।

तैमूर के वापस जाने के बाद सात वर्षों तक (सन् 1399 से सन् 1405) दिल्ली पर वजीरमल्लू इकबाल खाँ का अधिकार रहा। नुसरतशाह को भगा दिया गया और महमूद ने अपना अलग दरबार कन्नौज में बनाया। मुल्तान के सूबेदार खिज्र खाँ द्वारा सन् 1405 को एक युद्ध में इकबाल खाँ मारे जाने के बाद ही महमूद ने दिल्ली में प्रवेश पाया। सन् 1412 में महमूद तुगलक की मृत्यु के बाद सैयद वंश के खिज्र खाँ और उसके तीन उत्तराधिकारियों ने सन् 1414 से सन् 1451 तक कुल 37 वर्षों तक दिल्ली पर राज दिया। सैयदों के शासन काल में नौबत यहाँ तक आ गई कि दिल्ली से बीस कोस की दूरी पर ऐसे अमीर बन गए जिन्होंने सल्तनत के प्रभुत्व का जुआ उतार फेंका और प्रतिरोध की तैयारी करने लगे। आखिरी सैयद शासक अलाउद्दीन आलम शाह सन् 1451 में दिल्ली की गद्दी बहलोल लोदी को सौंपकर बदायूँ चला गया। लोदियों यथा बहलोल, सिकन्दर और इब्राहिम ने सन् 1451 से सन् 1526 तक कुल पचहत्तर वर्ष दिल्ली पर शासन किया। इन तीनों में सिकन्दर निस्संदेह सबसे अधिक योग्य था। उसने अपने राज्य में विस्तार किया तथा पूर्व में जौनपुर एवं बिहार तथा दक्षिण में धौलपुर, नागौर, मालवा को जीतकर सम्मिलित किया।

दिल्ली सल्तनत के पश्चातवर्ती सुल्तानों के सरदारों के आपसी झगड़ों एवं षड़यंत्रों ने समूची सल्तनत को अराजकता, अव्यवस्था एवं गड़बड़ी में डुबो दिया। इन सुल्तानों ने इन्हें सुधारने का कोई यत्न भी नहीं किया। जैसे ही केन्द्रीय शक्ति दुर्बल पड़ी दिल्ली सल्तनत के खण्डहरों पर बहुत से स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गए।

जौनपुर

दिल्ली के सुल्तान फिरोजशाह तुगलक ने अपने द्वितीय बंगाल आक्रमण (सन् 1359-1360) के समय अपने चचेरे भाई और पूर्ववर्ती सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक जिसे जूना खाँ भी कहते थे, की स्मृति में जौनपुर नामक शहर को बसाया। जफराबाद के सामने गोमती नदी के किनारे बसा यह शहर शीघ्र ही उन्नति के शिखर पर पहुँचा और उसने कुछ समय के लिए दिल्ली को भी आच्छादित कर लिया था। जौनपुर की ऐतिहासिक महत्ता का श्रेय उसके दो शासकों ख्वाजाजहाँ और इब्राहिमशाह शर्की को जाता है। ख्वाजाजहाँ का असली नाम सरवर था और वह हिजड़ा था। सन्1394 में मुहम्मद तुगलक द्वितीय ने इसे मलिक-उल-शर्क की उपाधि देकर जौनपुर भेजा। इसी उपाधि के कारण जौनपुर शासक वंश को शर्की वंश के नाम से जाना जाता है। एक महत्त्वाकांक्षी और विस्तार वादी होने के कारण ख्वाजाजहाँ ने अवध में राज्य के विस्तार करने के साथ-साथ पूर्व में बिहार और तिरहुत तक तथा पश्चिम में कीलप्रदेश (अलीगढ़) तक विजय प्राप्त की। उसने लखनौती और जाजनगर के राजाओं से कर वसूले। सन् 1399 में ख्वाजाजहाँ की मृत्यु हो गई।

तैमूर के हमले (सन् 1398) के बाद ध्वस्त दिल्ली सल्तनत के खण्डहरों पर जो नए प्रांतीय राज्य उदित हुए उनमें जौनपुर एक प्रमुख राज्य था। ख्वाजाजहाँ की मृत्यु के बाद उसका दत्तक पुत्र मलिक करनफूल मुबारकशाह (1399-1402) के नाम से गद्दी पर बैठा और दिल्ली सल्तनत से अपनी औपचारिक स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। वह शर्की वंश का पहला शासक था जो सुल्तान कहलाया जिसके नाम से सिक्के ढाले गए और खुतबे पढ़े गये।

सन् 1402 में मुबारकशाह शर्की की मृत्यु के बाद उसका छोटा भाई इब्राहिमशाह शर्की (सन् 1402-1436) जौनपुर का सुल्तान बना। नया सुल्तान शर्की वंश का सर्वश्रेष्ठ सुल्तान साबित हुआ। इसी के राज्यकाल में जौनपुर शीराजे-हिन्द के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इब्राहिमशाह एक सुसंस्कृत व्यक्ति तथा कला एवं विद्या का महान प्रेमी था। हिन्दू प्रभाव वाले सुंदर भवनों का निर्माण किया गया तथा साधारण ढंग की मीनारों से रहित मस्जिदें बनाई गईं। स्थापत्य की यह शैली शर्की शैली के नाम से प्रसिद्ध हुई। प्रसिद्ध अटाला मस्जिद जो अब भी शर्की-शैली के देदीप्यमान नमूने के रूप में खड़ी है। सन् 1408 में पूरी हुई थी। इब्राहिमशाह संगीत और अन्य ललित कलाओं का भी प्रेमी था। उसके शासनकाल में जौनपुर मुस्लिम शिक्षा व संस्कृति का एक प्रधान केन्द्र बन गया था। इब्राहिम की मृत्यु के पश्चात् उसका

पुत्र महमूदशाह (सन् 1436-1457) जौनपुर का सुल्तान बना। इसने दिल्ली पर भी हमला किया परन्तु असफल रहा। महमूद शाह एक योग्य शासक होने के साथ-साथ शिक्षा, साहित्य एवं कला-कौशल का प्रेमी थी। सन् 1457 में इसकी मृत्यु के पश्चात् इसका पुत्र भीखन मुहम्मदशाह के नाम से गद्दी पर बैठा पर वह बड़ा ही अत्याचारी, निर्दयी और अदूरदर्शी था। उसके कार्यों और नीतियों से नाराज अमीरों ने उसका वध करके उसके भाई हुसैनशाह को गद्दी पर बैठा दिया। हुसैनशाह (सन् 1458-1477) शर्की वंश का अंतिम शासक था। हुसैनशाह ने प्रारंभ में कुछ सफलताएँ पाई। उसने तिरहुत के जमींदारों का दमन किया, उड़ीसा की लूट की, सन् 1466 में ग्वालियर पर चढ़ाई की और राजा मानसिंह से भारी हर्जाना वसूला। सन् 1477 में कन्नौज के पास हुई लड़ाई में हुसैनशाह दिल्ली के बहलोल लोदी से हार गया और बंगाल निर्वासित किया गया। जहाँ सन् 1500 में उसकी मृत्यु हुई। जौनपुर में लगभग पचासी वर्षों के शर्की शासनकाल की विशेषताएँ थीं- समृद्धि, शिल्पकला का विकास तथा एक विशिष्ट श्रेणी की संस्कृति का प्रस्फुटन; जिसके कारण इस नगर को इब्राहिम के राज्यकाल में ही शीराजे-हिन्द की उपाधि मिली।

बहलोल लोदी ने अपने पुत्र बारबकशाह को जौनपुर का शासक घोषित किया और उसे राजकीय उपाधि का प्रयोग करने एवं सिक्के ढालने की अनुमति दी। सिंकदर लोदी (सन् 1489-1517) के शासक काल में जौनपुर को दिल्ली सल्तनत में औपचारिक रूप से विलीन कर लिया गया। इब्राहिम लोदी (सन् 1517-1520) के शासन काल में यह प्रयोग दोहराया गया जबकि उसके भाई जलाल खाँ को जौनपुर का सुल्तान बनाया गया। लेकिन शीघ्र ही जलाल खाँ का वध कर दिया गया।

बंगाल

मुहम्मद गौरी के सेनापति इख्तियारुद्दीन मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजी के द्वारा बारहवीं सदी के अंतिम वर्ष में बंगाल पर किए गए आक्रमण में राजा लक्ष्मनसेन की पराजय और पलायन के बाद से बंगाल मुस्लिम आधिपत्य में ही रहा। परन्तु "बंगाल पर दिल्ली के सुल्तानों का अधिकार सदैव अनिश्चित रहा तथा यह सर्वप्रथम स्वतंत्रता स्थापित करने वाले राज्यों में एक था। दिल्ली से इसकी दूरी एवं इसकी अत्यधिक सम्पत्ति से प्राय: इसके शासकों को केन्द्रीय शक्ति के विरुद्ध विद्रोह करने का लोभ हो जाता था।" तुगरिल के विद्रोह के बाद सन् 1282 ई० में बलबन ने अपने पुत्र बुगरा खाँ को बंगाल का सूबेदार नियुक्त

किया। बुगरा खाँ ने बंगाल में एक नये वंश की स्थापना की जो दिल्ली से लगभग पूर्ण स्वतंत्र होकर शासन करता रहा। सन् 1297 ई० आते-आते पूर्वी और पश्चिमी बंगाल में दो पृथक् राज्य बन गए। जिनकी राजधानियाँ क्रमशः सोनारगाँव और लखनौती बनी। इलियास खाँ (सन् 1340-1357) ने सन् 1352 में दोनों को संयुक्त किया। इसी वंश के सिकन्दर शाह (सन् 1357-1393) अपनी राजधानी पडुआ ले गया जहाँ उसने अनेक वैभवशाली भवनों और विख्यात अदीना मस्जिद का निर्माण किया जिसे स्थापत्य कला का एक उत्कृष्ट नमूना माना जाता है। सिकन्दर के बाद उसका पुत्र गयासुद्दीन आजम (सन् 1393-1409) बंगाल का शासक बना। इसके शासनकाल में चीन से एक राजदूत बंगाल आया और बंगाल से एक राजदूत चीन गया। आजम का उत्तराधिकारी सैफुद्दीन हम्जा शाह निकम्मा और शक्तिहीन शासक था। अतः मनुरिया और दीनाजपुर के हिन्दू राजा गणेश ने बंगाल की सत्ता हथिया ली (सन् 1414), बाद में गणेश का पुत्र यदु इस्लाम स्वीकार करके जलालुद्दीन मुहम्मद शाह के नाम से बंगाल की गद्दी पर बैठा। सन् 1442 में इलियास के एक वंशज इस्लाम शाह ने पुनः बंगाल पर अधिकार कर लिया। उसने अपने सत्रह वर्षों के शासनकाल में अनेक मस्जिदें बनवाईं जिनमें सनग्राम की मस्जिद विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सन् 1460 में उसकी मृत्यु होने पर उसका पुत्र सकनूद्दीन बारबक शाह बंगाल की गद्दी पर बैठा। वह हिन्दुस्तान का ऐसा सबसे पहला शासक था जिसके पास अत्यधिक संख्या में अबिसीनियन (हब्शी) दास थे। बारवक शाह की सन् 1474 में मृत्यु होने पर उसका पुत्र शम्सुद्दीन युसुफ शाह ने सन् 1481 तक राज्य किया। शम्सुद्दीन के बाद उसके पुत्र सिकंदर और फिर जलालुद्दीन फतह शाह को गद्दी पर बैठाया गया। अबिसीनियनों के बढ़ते प्रभाव के संभावित खतरों को समझने के कारण फतह शाह ने इसे रोकने का प्रयत्न किया जिसका मूल्य उसे अपनी जान देकर चुकाना पड़ा। अबिसीनियनों ने सन् 1486 में फतह शाह की हत्या कर दी। बाद में सन् 1493 तक बंगाल में हब्शियों का शासन रहा।

सन् 1493 में एक अरब सैय्यद जिसका नाम अलाउद्दीन हुसैन शाह (सन् 1493-1518) था ने बंगाल पर अधिकार करके हुसैन शाही वंश की नींव डाली। यह बंगाल का सबसे योग्य शासक था। वी०ए० स्मिथ लिखते हैं कि "उसका नाम अब भी सारे बंगाल में सुपरिचित है और उसके चौबीस वर्षों के शासनकाल में कोई विद्रोह या उपद्रव नहीं हुआ। उसका शासन शांतिपूर्ण और सुखमय रहा, प्रजा उससे

प्रेम करती और पड़ोसी उसका सम्मान करते थे।'' सन् 1494 में उसने जौनपुर के अंतिम शासक अपने हमनाम हुसैन शाह शर्की जो दिल्ली के सिकन्दर लोदी से हारकर आया, का आदर सहित स्वागत-सत्कार किया और उसे कहलगाँव (बिहार भागलपुर के निकट) में रहने की अनुमति दी, जहाँ सन् 1500 में उसकी मृत्यु हुई। हुसैन शाह जिसने बंगाल पर सन् 1516 तक (अपनी मृत्यु होने तक) राज्य किया, अत्यन्त उदार और साहित्य-कला में अभिरुचि रखने वाला शासक था। उसकी बनवाई इमारतों में बड़ासोना मस्जिद एवं कदम्बरसूल मस्जिद विशेष उल्लेखनीय है। हुसैन शाह के बाद उसका लड़का नसीब खाँ नुसरत शाह (सन् 1518-1533) के नाम से गद्दी पर बैठा। बंगाल साहित्य में उसकी गहरी अभिरुचि रही और उसके शासनकाल में बंगला साहित्य का भरपूर विकास हुआ। उसी की आज्ञा से महाभारत का बांग्ला में अनुवाद किया गया। पुराने बांग्ला साहित्य में इस बात के पर्याप्त उल्लेख हैं कि सुल्तान हुसैन शाह और उसके पुत्र नुसरत शाह के प्रति हिन्दू अत्यंत आदर भाव रखते थे। वस्तुत: सच्चाई यह है कि ''हिन्दू राजाओं के दरबारों में बांग्ला भाषा को मान्यता मिलने के पूर्व ही मुस्लिम सुल्तानों और सरदारों ने सबसे पहले बांग्ला को अपना संरक्षण और समर्थन प्रदान किया, जबकि हिन्दू राजा अपने ब्राह्मण अध्यापकों की प्रेरणा से संस्कृत को ही अधिक प्रोत्साहन देना चाहते थे।'' बंगाल का अंतिम स्वतंत्र शासक गयासुद्दीन महमूद शाह था जिसे शेरशाह सूरी ने हराया और बंगाल की संप्रभुता यहीं समाप्त हो गयी।

गुजरात

रेगिस्तान से परे तथा विंध्य एवं अरावली पर्वत से घिरा हुआ गुजरात दिल्ली पर मुस्लिम अधिकार के लगभग तीन चौथाई सदी बाद दिल्ली के प्रत्यक्ष नियंत्रण में आया, जब अलाउद्दीन खिलजी ने गुजरात के राजा कर्ण सिंह बघेल को सन् 1297 में हराकर वहाँ अपने सूबेदार नियुक्त किए। गुजरात पश्चिम भारत का एक धन सम्पन्न और समृद्ध राज्य था। समुद्र ने गुजरात को विशेष सुविधाएँ दे रखी है। फारस, अरब और लाल सागर के साथ हिन्दुस्तान का व्यापार-वाणिज्य गुजरात के बंदरगाहों के मार्फत ही होता था। यद्यपि महमूद गजनवी ने सन् 1025 में सोमनाथ लूटकर गुजरात की सम्पदा को आक्रमणकारी शक्तियों के ध्यान में ला दिया था, परन्तु यह राज्य दिल्ली के प्रत्यक्ष नियंत्रण में सन् 1297 ई० में ही आया। लगभग एक सदी के बाद सन् 1401 में जफर खाँ (एक राजपूत से मुसलमान बने हुए का पुत्र) ने, जिसे फिरोज तुगलक के कनिष्ठ पुत्र मुहम्मद शाह ने सन् 1391 ई० में

गुजरात का सूबेदार नियुक्त किया था, विधिवत् स्वतंत्रता धारण की। दो वर्ष बाद उसके पुत्र तातार खाँ ने उसे बंदी बनाकर स्वयं नासिरुद्दीन मुहम्मद शाह के नाम से गद्दी पर बैठा। कुछ समय पश्चात् पिता ने पुत्र को विष देकर मार डाला और स्वयं मुजफ्फर शाह (सन् 1403-1411) के नाम से गद्दी पर बैठा। सन् 1411 में मुजफ्फर शाह के पौत्र अलप खाँ ने उसे विष देकर मार डाला और अहमद शाह (सन् 1411-1442) के नाम से गद्दी पर बैठा। अहमद शाह को स्वतंत्र गुजरात राज्य का वास्तविक संस्थापक माना जाता है। उसने अपने शासनकाल में पराजय का मुँह नहीं देखा। उसकी सेनाओं ने मालवा, असीरगढ़ और राजपूताना के शासकों को युद्ध में हराया। अहमद शाह ने अहमदाबाद नगर की स्थापना की जिसके बारे में समकालीन यात्रियों का मत है कि इतना सुंदर और आकर्षक नगर उन्होंने सारी दुनिया में नहीं देखा। अहमद शाह की मृत्यु (16 अगस्त, 1442) के बाद 1458 तक तीन सुल्तान गद्दी पर बैठे।

अहमद शाह का पौत्र फतह खाँ तेरह वर्ष की उम्र में, गुजरात की गद्दी पर महमूद बेगड़ा के नाम से सन् 1458 में बैठा और उसने लगभग आधी शताब्दी तक (सन् 1511 तक) शासन किया। महमूद बेगड़ा अपने वंश का और गुजरात का सबसे प्रतापी शासक ही नहीं था, बल्कि उसकी गणना समकालीन भारत के सर्वाधिक प्रमुख शासकों में की जाती है। वह वीर योद्धा, महान विजेता और सफल शासक था। उसका शासनकाल इसलिए भी स्मरणीय है क्योंकि उसमें पहली बार ईसाइयों और मुसलमानों में टक्कर हुई थी। महमूद ने पुर्तगालियों को भगाने के लिए तुर्क, मिस्त्र और कालीक के राजाओं से संधि की। गुजरात और तुर्की के जहाजी बेड़ों ने सन् 1508 में कठियावाड़ के निकट ड्यु के द्वीप के पुर्तगालियों की समुद्री सेना को हराया। इतालवी पर्यटक लियोविदो दि वारथेमा ने महमूद की कीर्ति यूरोप तक पहुँचाई।

महमूद की मौत के बाद उसका लड़का मुजफ्फर द्वितीय (सन् 1511 से 1526) गद्दी पर बैठा। इसने राजपूतों के विरुद्ध सफल युद्ध किए। 7 अप्रैल, 1526 को मुजफ्फर की मृत्यु के पश्चात् सिकन्दर और नासिर खाँ के अति संक्षिप्त शासनकाल के पश्चात् जुलाई 1526 को उसके अत्यधिक साहसी पुत्र बहादुर शाह (सन् 1526-1537) गद्दी पर बैठा। नया सुल्तान अपने दादा जैसा पराक्रमी था। उसने न केवल 1531 में मालवा के महमूद द्वितीय को हराकर उसका राज्य अपने राज्य में मिला लिया बल्कि अपने वंश के पुराने शत्रु चित्तौड़ को 1534 में हराकर

उसे तहस-नहस कर दिया। सन् 1535 में हुमायूँ के विरुद्ध युद्ध में उसे पराजित होना पड़ा और मालवा सहित राज्य के अधिकतर भाग से हाथ धोना पड़ा। परन्तु जैसे ही हुमायूँ वापस गया उसने अपने राज्य पर पुनः कब्जा जमा लिया। सन् 1537 में पुर्तगाली शासक नुन्हों डा कुन्डा से समझौता वार्ता करने जब बहादुर शाह पुर्तगाली जहाज पर गया तो पुर्तगालियों ने छलपूर्वक उसकी हत्या कर दी। इसके बाद गुजरात में अराजकता और गड़बड़ियों का नाच शुरू हुआ जो अकबर द्वारा सन् 1572 में गुजरात पर कब्जे के पश्चात् समाप्त हुआ।

मालवा

मालवा के इतिहास का गुजरात, मेवाड़, खानदेश एवं दख्खिन के इतिहास से गहरा संबंध रहा है। सन् 1310 में अलाउद्दीन खिलजी ने मालवा को जीतकर दिल्ली सल्तनत में शामिल कर लिया था। इसके बाद सन् 1398 तक मालवा दिल्ली का अंग बना रहा। तैमूर आक्रमण (सन् 1398) के पश्चात् दिल्ली की दुर्बलता का लाभ उठाते हुए तत्कालीन सूबेदार दिलावर खाँ गोरी ने मालवा में एक स्वंतत्र राज्य स्थापित किया। उसके लड़के हुशंग शाह (सन् 1406-1435) ने उसे जहर देकर मार डाला और स्वयं गद्दी पर बैठा। उसने मांडू को अपनी राजधानी बनाया एवं होशंगाबाद शहर को बसाया। होशंग शाह के पुत्र गाजी खाँ का उसके ही बजीर महमूद खिलजी ने वध कर दिया और स्वयं गद्दी पर सन् 1436 में बैठा। वह मालवा का सर्वश्रेष्ठ शासक कहलाया। उसने अपने शासनकाल (सन् 1436-1469) में गुजरात के अहमद शाह, दिल्ली के मुहम्मद शाह, बहमनी सुल्तान मुहम्मद शाह द्वितीय तथा मेवाड़ के राजा कुम्भा के खिलाफ युद्ध किए। राजा कुम्भा के साथ युद्ध में परस्पर विरोधी दावे किए गये। उधर राजा ने चित्तौड़ में विजय-स्तम्भ बनवाया तो इधर महमूद ने भी मांडू में कीर्ति-स्तम्भ बनवाया। महमूद ने अपने राज्य की सीमा को दक्षिण में सतपुड़ा पर्वतश्रेणी तक, पश्चिम में गुजरात की सरहद तक, पूर्व में बुदेलखंड तक तथा उत्तर में मेवाड़ और हरौती तक बढ़ाया। उसकी ख्याति भारत के बाहर भी थी। मिस्र के खलीफा ने उसका सुल्तान पद स्वीकृत किया था। फरिश्ता के अनुसार वह नम्र, वीर, न्यायी एवं विद्वान था। उसके राज्य में उसकी प्रजा (हिन्दू और मुसलमान दोनों) प्रसन्न थी। सन् 1469 में उसकी मृत्यु के पश्चात् निकम्मे और अयोग्य शासकों गयासुद्दीन द्वितीय (सन् 1469-1500) एवं नासिरुद्दीन शाह (सन् 1500 से 1510) ने शासन किया। नासिरूद्दीन के पश्चात् महमूद खिलजी द्वितीय (सन् 1510-1531)

मालवा का सुल्तान बना जिसके शासनकाल में मालवा तेजी से पतन की ओर बढ़ा। चंदेरी का मेदिनीराय पहले महमूद खिलजी द्वितीय का मंत्री था जो बाद में मतभेद के चलते राजा सांगा से मिल गया था। सन् 1531 में गुजरात के बहादुर शाह ने माण्डू जीत लिया और महमूद खिलजी द्वितीय की सपरिवार हत्या कर इसे अपने राज्य गुजरात में मिला लिया। मालवा के सुल्तान कला प्रेमी थे, उन्होंने माण्डू में अनेक सुंदर भवनों का निर्माण किया जिसमें जहाज महल जैसी इमारतें विशेष उल्लेखनीय हैं।

सिन्ध एवं मुलतान

सन् 712 ई० में मुहम्मद बिन कासिम की सिंध पर जीत तक सिंध पर हिन्दू राजाओं का अधिकार था, इस आक्रमण ने सिंध और मुलतान पर मुस्लिम शासन का आधार रखा। सन् 1010 ई० में महमूद गजनवी ने इसे जीता और अगले 50 वर्षों तक यह गजनी के अधीन रहा। इसके बाद सिंध के सुमरा राजपूतों ने दक्षिण सिंध पर अपना कब्जा साबित किया और वे अगले दो शताब्दी तक शासन करते रहे।

सन् 1210 में सिंध पर नासिरुद्दीन कुबाचा का अधिकार हो गया। सिंध दिल्ली सल्तनत के प्रत्यक्ष नियंत्रण में कभी नहीं रहा यद्यपि मुहम्मदबिन तुगलक ने सिंध विजय की और फिरोज ने थट्टा के जमा शाह को परास्त किया। सन् 1351 ई० से सिंध पर कच्छ के सम्मा राजपूतों ने अधिकार जमा लिया जिन्होंने बाद में मुस्लिम धर्म स्वीकार कर लिया और "जाम" कहलाए। जब बाबर ने प्रसिद्ध मंगोल नेता चंगेज खाँ के वंशज और कांधार के शासक अरगुज कबीले के सरदार शाहबेग अर्गुन को हराकर भगाया तो वह सिंध आया और उसने अंतिम जाम फिरोज को सिंध से निकाल बाहर किया और स्वयं सिंध का शासक बना (सन् 1516)। शाहबेग अर्गुन की सन् 1524 में मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र शाह हुसैन (सन् 1524) सिंध की गद्दी पर बैठा। उसने सुल्तान हुसैन लंगा द्वितीय पर हमला करके मुलतान भी छीन लिया। बाबर के इमले के समय सिंध और मुलतान पर हुसैन शाह के अधीन अर्गुन राज्य अपने चरमोत्कर्ष में रहा। बहुत बाद में सन् 1592 में अकबर ने सिंध और मुलतान को जीतकर वहाँ सूबेदार नियुक्त किए।

पंजाब

यद्यपि पंजाब दिल्ली के लोदी सुल्तानों के अधीन माना जाता था परन्तु यह व्यावहारिक रूप में स्वतंत्र था। बाबर के हमले के समय पंजाब में अफगान सरदार

दौलत खाँ का शासन था। वह दिल्ली के सुल्तान इब्राहिम लोदी की अधीनता और नियंत्रण से स्वतंत्र हो चुका था। इब्राहिम से पारस्परिक वैमनस्य और संघर्ष के कारण और अपनी नवनिर्मित स्वतंत्रता और नवीन राज्य की सुरक्षा करने के उद्देश्य से दौलत खाँ ने बाबर की सहायता प्रदान करने के प्रयास किए। वास्तव में दौलत खाँ स्वयं दिल्ली का सुल्तान बनने का महात्त्वाकाँक्षी था।

काश्मीर

चौदहवीं शती के आरंभ तक काश्मीर पर हिन्दू राजाओं का अधिकार रहा। सन् 1339 ई० में शाह मिर्जा नामक फ़ारसी मूल का व्यक्ति जो काश्मीर में मंत्री था, ने राजा उदयन देव की मृत्यु के पश्चात् विधवा रानी से विद्रोह कर स्वयं काश्मीर की गद्दी पर बैठ गया। सुल्तान बनने के बाद उसने शमसुद्दीन (1339-1349) की उपाधि धारण की और 1349 ई० तक शासन करता रहा। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके वंशजों ने बारी-बारी से छियालीस वर्षों (सन् 1349-1394 ई०) तक शासन किया। ये शासक थे- जमशेद, अलाउद्दीन, शिहाबुद्दीन और कुतुबुद्दीन। कुतुबुद्दीन की मृत्य के पश्चात् उसका पुत्र सिकन्दर (सन् 1394-1416) गद्दी पर बैठा। वह एक निरकुंश, स्वेच्छाचारी और धर्मान्ध शासक था। उसने हिन्दुओं पर अनेक अत्याचार किए, बड़ी संख्या में हिन्दू मंदिरों के विध्वंस करने के कारण उसे "बुतशिकिन" (मूर्तिभंजक) भी कहा जाता था। सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र नूर खाँ अली शाह के नाम से गद्दी पर बैठा। जल्दी ही अलीशाह की मृत्यु हो गई और उसका भाई शाही खाँ जैनुल आबिदीन (सन् 1417-1470 ई०) के नाम से गद्दी पर बैठा। यह उदार और सहिष्णु था। उसने सिकन्दर के शासन काल में निर्वासित हिन्दुओं को वापस बुलाया, नष्ट मंदिरों को फिर से बनवाया। जजिया कर हटा दिया, गो-वध का निषेध कर दिया। साहित्य और कला को उसने यथेष्ट प्रोत्साहन दिया। अपनी उदारता और प्रगतिशील नीति के कारण जैनुल आबिदीन को कश्मीर का अकबर भी कहते हैं।

जैनुल आबदीन के सभी वंशज अयोग्य और निकम्मे निकले। शाहमिर्जा के वंश का अंतिम सुल्तान मुहम्मद शाह (सन् 1499 से सन् 1526) था। उसकी मृत्यु के बाद उसका मंत्री काजी चक ने उसके उत्तराधिकारी को हटाकर स्वयं गद्दी पर कब्जा जमाया। यद्यपि बाबर की सेना ने काश्मीर पर विजय पाई, परन्तु वह स्थायी नहीं रहीं। सन् 1540 में बाबर के संबंधी मिर्जा हैदर ने काश्मीर पर अपनी सत्ता

जमाई। लेकिन वास्तविकता यह है कि काश्मीर पर दिल्ली से सीधा नियंत्रण अकबर ने ही स्थापित किया जब सन् 1586 में उसने काश्मीर जीता।

उत्तर भारत के हिन्दू राज्य

मेवाड़

बाबर के हमले के समय उत्तरी भारत में दिल्ली सल्तनत के बाद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण राज्य मेवाड़ था। उस समय मेवाड़ पर राणा संग्राम सिंह (सन् 1509–1528) जिसे राणा सांगा भी कहा जाता रहा, का शासन था। इतिहास प्रसिद्ध गुहिल वंश में उत्पन्न राणा सांगा अपने वंश के प्रसिद्ध राजाओं बप्पा रावल, हमीर, राणा कुम्भा की परम्परा का एक रणकुशल वीर योद्धा तथा सफल सेनापति था। "सांगा विलक्षण सैनिक प्रतिभा से सम्पन्न था ..... उस वीर ने एक सौ युद्ध लड़े थे..... एक आँख से अंधे होने तथा एक पैर से लंगड़े होने के अतिरिक्त उसके शरीर में अस्सी जख्मों के दाग थे।" इन्हीं विशेषताओं के चलते कर्नल टाड ने इसे "सैनिक का भग्नावशेष" कहकर पुकारा है। राणा सांगा ने मालवा के सुल्तान महमूद द्वितीय को पराजित कर बंदी बना लिया, परन्तु बाद में उदारता पूर्वक उसका राज्य वापस कर उसे मुक्त कर दिया। भीलसा, सांरगपुर, चंदेरी, रणथम्भौर के राजपूत शासकों ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी तथा अंबर, ग्वालियर, सीकरी, बूँदी, आबू, रामपुर, अजमेर, रेसनी, कालपी के शासक उसे सामंती भेंट भेजा करते थे। बाबर स्वयं लिखता है कि "राणा सांगा है जिसकी ख्याति अभी पिछले दिनों में हुई है। उसकी यह ख्याति स्वयं उसकी वीरता और शस्त्र बल के कारण हुई है। उसका राज्य चित्तौड़ है।" राणा सांगा एक वीर और योग्य सेनापति ही नहीं था, वरन् एक सफल और महत्त्वाकांक्षी राजनीतिक भी था। यह उसकी राजनीतिक कुशलता ही थी कि उसने राजस्थान के राज्यों के ऊपर चित्तौड़ की राजनीतिक प्रभुता की स्थापना की। इस प्रकार उसके और किसी भी अन्य शक्ति (जो इतिहास के प्रवाह में बाबर के रूप में उदित हुई) जो उस समय उत्तरी भारत में प्रभुता स्थापित करने की कोशिश करती, संघर्ष अनिवार्य ही था। खानुवा का युद्ध (सन् 1527) इस तथ्य का तर्कसंगत परिणाम ही था। राणा सांगा के समय मेवाड़ की राजनीतिक एवं सैनिक ताकत इतनी बढ़ी चढ़ी हुई थी कि सन् 1527 में खानुवा के युद्ध में जीत के बाद भी बाबर ने मेवाड़ विजय करने का साहस नहीं दिखाया। मुग़लों के विरुद्ध मेवाड़ निरंतर संघर्षरत रहा। यहाँ तक कि अकबर भी

मेवाड़ को समुचित रूप में मुग़ल-साम्राज्य में सम्मिलित नहीं कर पाया। जहाँगीर के समय मेवाड़ के राणा अमरसिंह ने सीमित अर्थों में मुग़लों के प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया।

मारवाड़

राजपूताने का एक अन्य महत्त्वपूर्ण राज्य मारवाड़ था, जिसे वर्तमान में जोधपुर कहते है। इस पर प्राचीन राष्ट्रकूटों के वंशज राठौर राजपूत शासन करते थे। मारवाड़ का आधुनिक इतिहास चुन्द (सन् 1394 से सन् 1421) से प्रारंभ होता है। उसका एक उत्तराधिकारी जोधा (सन् 1438 से सन् 1488) बड़ा प्रसिद्ध शासक हुआ, जिसने जोधपुर नगर बसाया एवं किले का निर्माण कर उसे अपनी राजधानी बनाया। जोधा ने ही मंदौर का किला बनवाया। जोधा के एक पुत्र बिक्का ने सन् 1464 में बीकानेर शहर बसाया और आधुनिक बीकानेर राज्य की स्थापना की। परन्तु मारवाड़ का सर्वाधिक शक्तिशाली और महत्त्वपूर्ण शासक मालदेव (सन् 1532 से 1562) हुआ। शेर शाह को भी मालदेव के विरुद्ध सफलता नहीं मिली और उसने संधि की थी। बाबर के हमले के समय जोधपुर की गद्दी पर राव गांगा (सन् 1515-1531) शासन कर रहा था, उसने खानुवा के युद्ध में राणा सांगा की सहायता की थी।

आमेर

बाबर के हमले के समय आमेर पर सूर्यवंशी कछवाहा राजपूत राज्य करते थे। आमेर के राज्य की स्थापना दसवीं-ग्यारहवीं सदी में की गई, परन्तु इसके राजनीतिक महत्त्व का विकास चौदहवीं सदी से पूर्व नहीं हो पाया। मुग़लकाल में आमेर प्रथम श्रेणी का एक राज्य था। आमेर के राजा भारमल ने सन् 1516 में अकबर की अधीनता स्वीकार ली थी।

उड़ीसा

उत्तर भारत के अन्य प्रांतीय राज्यों की तरह उड़ीसा भी इस कालखंड में स्वतंत्र अस्तित्व कायम किए रहा। तत्कालीन उड़ीसा गंगा के डेल्टा से लेकर गोदावरी के मुहाने तक फैला हुआ था और इसका संगठन अनन्तवर्मन चोल (सन् 1077-1148) नामक एक असाधारण वीर एवं शक्तिशाली राजा ने किया। कला, धर्म और साहित्य (विशेषकर संस्कृत व तेलुगु साहित्य) के पोषक अनंतवर्मन ने ही पुरी में जगन्नाथमंदिर का निर्माण शुरू कराया। इस मंदिर का निर्माण कार्य

उसके उत्तराधिकारी नरसिंह प्रथम (सन् 1148-1164) के काल में सम्पन्न हुआ। नरसिंह प्रथम ने कोणार्क के सूर्य मंदिर का भी निर्माण कराया था। उसकी मृत्यु के पश्चात् इस वंश का पराभव हो गया। सन् 1434 के आस-पास कपिलेन्द्र ने उड़ीसा में एक नए राजवंश की स्थापना की जो लगभग एक सदी से अधिक समय तक स्थापित रहा। कपिलेन्द्र एक योग्य और साहसी शासक था। उसने विजयनगर एवं बहमनी शासकों के आक्रमण से न केवल राज्य की सफलतापूर्वक रक्षा की, बल्कि अपने राज्य की सीमा में विस्तार भी किया। कपिलेन्द्र के बाद पुरुषोत्तम (सन् 1471-1497) एवं प्रतापरुद्र (सन् 1498-1540) ने राज्य किया। प्रतापरुद्र को गोदावरी के दक्षिण के अपने राज्य का आधा भाग विजयनगर को देना पड़ा। उसे गोलकुण्डा के सुल्तान से अपमानजनक शर्तों पर संधि भी करनी पड़ी। सन् 1541-42 के लगभग कपिलेन्द्र वंश के स्थान पर भोई वंश की स्थापना हुई, जिसका संस्थापक गोविन्द भोई था। अंत में अकबर के शासनकाल में जाकर सन् 1568 में मुग़लों ने उड़ीसा जीता और उसे बंगाल प्रान्त में सम्मिलित कर दिया।

कामरूप

तेरहवीं शती के प्रारंभिक वर्षों में ब्रह्मपुत्र की घाटी में अनेक स्वतंत्र राज्य थे जिनमें कामरूप या आधुनिक आसाम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण राज्य था। कामरूप का राज्य पूर्व में अहोमों एवं पश्चिम में बंगाल के सुल्तानों से घिरा हुआ था। पंद्रहवीं शती में खैन जाति के लोगों ने कामरूप पर अपना अधिकार जमा लिया और कूचबिहार के दक्षिण में कुछ मील की दूरी पर स्थित कामतपुर को राजधानी बनाया। इसी वंश के अंतिम राजा नीलाम्बर को बंगाल के सुल्तान अलाउद्दीन हुसैन शाह ने सन् 1498 में पदच्चुत कर दिया। कुछ समय उपरांत सन् 1515 में कूच जाति का विष सिंह कामरूप का राजा बना। इस वंश का महान शासक नरनारायण था, जिसके शासनकाल में कामरूप की प्रतिष्ठा और वैभव अपने चरम पर पहुँची। परन्तु नरनारायण के शासनकाल के बाद के वर्षों में उसके और उसके सामन्तों के मध्य संघर्ष छिड़ गया, जिसकी परिणति राज्य विभाजन के रूप में हुई। आपसी संघर्ष का लाभ पड़ोसियों ने उठाया और सन् 1639 में आसाम के पश्चिमी भाग में मुग़लों का एवं पूर्वी भाग में अहोमो का अधिकार स्थापित हुआ।

दक्षिण भारत के मुस्लिम राज्य

उत्तर भारत में दिल्ली सल्तनत की स्थापना के बहुत दिनों बाद तक भी

दक्षिण के राज्य स्वतंत्र बने रहे। वस्तुत: अलाउद्दीन खिलजी के दक्षिण में किए गए अभियान के पूर्व तक दक्षिणी भू-भाग मुस्लिम हमलों से अछूता बना रहा। अलाउद्दीन खिलजी के दक्षिण अभियान का प्रभाव संक्षिप्त रहा और उसकी मृत्यु के पश्चात् दक्षिण के राज्य पुन: स्वतंत्र हो गए। बाद में मुहम्मद तुगलक के शासनकाल में दक्षिण एक बार पुन: दिल्ली सल्तनत के अधीन हुआ, परन्तु मुहम्मद तुगलक के अंतिम वर्षों में ही दक्षिणी प्रांतों में विद्रोह प्रारंभ हो गए थे। निरंतर विद्रोहों के परिणाम स्वरूप दक्षिण में दो मुख्य मुस्लिम राज्यों का उदय हुआ, बहमनी और खानदेश।

खानदेश

ताप्ती नदी के घाटी में स्थित खानदेश फिरोज तुगलक के शासनकाल के अंत तक दिल्ली सल्तनत का एक प्रांत बना रहा। फिरोज तुगलक के द्वारा नियुक्त सूबेदार मलिक रजा फारूकी ने उसकी (फिरोज तुगलक की) मृत्यु (सन् 1388) के बाद की परिस्थितियों में स्वयं की स्वतंत्रता की घोषणा कर दी और खानदेश में फारूकी वंश की स्थापना की। सन् 1399 में मलिक रजा फारूकी की मृत्यु के पश्चात् उसका लड़का मलिक नासिर (सन् 1399-1438) खानदेश की गद्दी पर बैठा। नासिर ने अपने भाई हसन को हराया और असीरगढ़ के हिन्दू राजा को हराकर किला जीत लिया। यह किला दक्षिण का सिंहद्वार कहलाता है जिसे बहुत बाद में अकबर ने सन् 1600 में जीता। नासिर की मृत्यु के बाद उसका पुत्र आदिल खान प्रथम (सन् 1438-1441) एवं पौत्र मुबारक खान प्रथम (सन् 1441-1457) के शासनकाल बगैर किसी विशेष घटना के पूरे हुए। मुबारक खान का लड़का आदिल खान द्वितीय (सन् 1457-1501) एक योग्य और साहसी सुल्तान था। उसने गोड़वाना पर हमला किया और उसे अपने राज्य में मिला लिया। आदिल खान द्वितीय के बाद उसके भाई दाऊद खान (सन् 1501-1508) एवं दाऊद खान का पुत्र गाजी खाँ (सन् 1508, जिसे राज्यारोहण के 10 दिनों पश्चात् विष देकर हत्या कर दी गई) के कम महत्त्वपूर्ण शासनकाल के पश्चात् खानदेश अव्यवस्था में डूब गया और पड़ोसी राज्यों गुलवर्गा और गुजरात के सुल्तानों ने आंतरिक दुर्बलताओं का फायदा उठाया। अंत में गुजरात का सुल्तान महमूद बेगड़ा अपने उम्मीदवार आदिल खाँ तृतीय को गद्दी पर बिठा पाने में सफल रहा, जिसने सन् 1520 तक राज्य किया। उसके उत्तराधिकारी और अधिक दुर्बल निकले। सन् 1601 में अकबर ने खानदेश को मुग़ल साम्राज्य में मिला लिया।

बहमनी राज्य

बाबर ने अपने संस्मरणों में बहमनी राज्य को हिन्दुस्तान के पाँच बड़े मुस्लिम राज्यों में तीसरे नम्बर पर रखा था। बाबर लिखता है कि "तीसरा दकन में बहमनी था.... अब भी है पर उसमें दम न रहा। उसका मुल्क उसके अमीरों में बँट गया है, वह आप उन अमीरों का मुहताज है।" स्पष्ट है, बाबर के समय बहमनी राज्य पतनोन्मुख था। दख्खिन का यह प्रसिद्ध राज्य अपनी स्थापना से लेकर छिन्न-भिन्न होने तक लगभग 180 वर्ष (सन् 1347-1526) कायम रहा। इस काल में चौदह मुसलमानों (सुल्तानों) ने उत्तर में वैण गंगा नदी से लेकर दक्षिण में कृष्णा (नदी) तथा पश्चिमी में कोनकन (कोंकण) से लेकर पूर्व में भोंगिर (बाद में निजाम राज्य) तक फैले हुए राज्य पर शासन किया। बहमनी सुल्तानों के गुजरात, मालवा, तेलगांना, उड़ीसा आदि सभी पड़ोसी राज्यों से निरंतर संघर्ष होते रहे, परन्तु सबसे गहरा एवं लगातार संघर्ष दक्षिण के विजयनगर साम्राज्य के विरुद्ध चला।

फरिश्ता ने बहमनी नाम की उत्पत्ति के लिए एक कहानी दी है, जिसके अनुसार हसन दिल्ली का रहने वाला तथा गंगू नामक ब्राह्मण का नौकर था। ब्राह्मण ने हसन के साथ उदारता पूर्वक व्यवहार किया और उसके सुल्तान बनने की भविष्य वाणी की। हसन ने ब्राम्हण के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए सन् 1347 को अबुल मुजफ्फर अलाउद्दीन हसन गंगु बहमन शाह (सन् 1347-1358) के नाम से गद्दी पर बैठा। "बहमन" शब्द हेतु एक अन्य कथा भी है। जिसका बर्णन बुरहान-ए-मयाशीर एवं तबकात-ए-अकबरी में किया गया। इसके अनुसार हसन स्वयं को ईरान के इस्फन्दियार के प्रसिद्ध वीर पुत्र "बहमन" का वंशज होने का दावा करता था। इसलिए उसने "बहमनी" की उपाधि धारण की है। हसन गंगू बहमन शाह एक शक्तिशाली सुल्तान था, उसने निरंतर युद्ध करके अपने राज्य की सीमा में वृद्धि की। अपनी राजधानी गुलवर्गा में उसने सुयोग्य शासन व्यवस्था की नींव डाली और अपने राज्य को चार प्रांतों में विभक्त किया- गुलवर्गा, दौलताबाद, बीदर और बरार। उसकी मृत्यु (11 फरवरी, 1358) को होने के पश्चात् मुहम्मद शाह (सन् 1358-1377) गद्दी पर बैठा। वह एक महत्त्वाकांक्षी और साहसी शासक सिद्ध हुआ तथा अपने पिता की विजय और साम्राज्य-विस्तार की नीति को आगे बढ़ाया। उसके शासनकाल में बारंगल और विजयनगर के हिन्दू राजाओं से निरंतर सघर्ष जारी रहा। "विजयनगर और बहमनी राज्यों के बीच संघर्ष का मुख्य कारण रायचुर का समृद्धिशाली दोआब था, जिसको अधिकृत करने के लिए वे

दोनों शक्तियाँ वैसे ही लड़ती रहीं जैसे राइनलैन्ड के लिए फ्रांस और जर्मनी लड़ते रहे।'' मुहम्मद शाह प्रथम को सन् 1361 में मिस्र के खलीफा से मान्यता मिली और खलीफा ने उसे दक्षिण भारत का सुल्तान स्वीकार किया। मुहम्मद शाह प्रथम एक कुशल प्रशासक भी था। उसके मंत्रिमंडल में आठ मंत्री या अधिकारी थे, जिनके नाम हैं- वकील-उस-सल्तनत (सुल्तान का प्रतिनिधि), वजीर-ए-कल (वरिष्ठ राज्य मंत्री), अमीर-ए-जुमला (वित्तमंत्री), वजीर-ए-अशरफ (विदेशमंत्री), नाजिर (वित्तमंत्री का सहायक), पेशवा (वकील-उस-सल्तनत का सहायक, आगे चलकर दोनों पद एक हो गए), कोतवाल (पुलिस का मुख्य अधिकारी एवं मजिस्ट्रेट) तथा सदर-ए-जहाँ (मुख्य न्यायाधीश तथा धर्म-पुण्य विभाग प्रमुख)। यह व्यवस्था मराठा शासन कालतक चलती रही। मुजाहिद शाह (सन् 1377-1377) ने अपने पिता की नीतियों का अनुसरण किया परन्तु उसके चचेरे भाई दाऊद ने उसकी हत्या कर दी। दाऊद भी अयोग्य साबित हुआ। मई 1378 में एक गुलाम के हाथों दाऊद की हत्या के बाद मुहम्मद शाह द्वितीय (सन् 1378-1397) गद्दी पर बैठा। वह अत्यंत उदार एवं लोकप्रिय शासक था। उसने अपने पड़ोसियों से मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित किए। इसके अंतिम दिन दुःख से बीते क्योंकि उसके पुत्रों के मध्य संघर्ष छिड़ गया। अप्रैल 1397 में मुहम्मद द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् गयासुद्दीन और शमसुद्दीन दुर्बल शासक बने। आठवाँ बहमनी शासक फिरोज शाह (1397-1422) ने विजयनगर के हरिहर द्वितीय और बुक्का द्वितीय को दो युद्धों में परास्त किया, परन्तु अंतिम युद्ध (1419) में वीर विजय से बुरी तरह परास्त हुआ। फलस्वरूप उसके भाई अहमद ने फिरोज की हत्या करके अहमद शाह (सन् 1422-1435) के नाम से शासन संभाला। इसने अपनी राजधानी गुलवर्गा से हटाकर बीदर कर ली थी। अहमद शाह प्रतापी सुल्तान था। उसने विजयनगर के देवराय को परास्त किया और सन् 1424-25 से वारंगल जीत कर अपने साम्राज्य में मिला लिया। उसका पुत्र अलाउद्दीन द्वितीय (सन् 1435-1457) उसका उत्तराधिकारी हुआ। इसके राज्य में देशी और विदेशी मुसलमानों का संघर्ष चला। अलाउद्दीन द्वितीय ने कोंकण जीता, संगमेश्वर के राजा की पुत्री से विवाह किया और कुल की परम्परानुरूप विजयनगर पर हमला करके खिराज वसूला। अलाउद्दीन द्वितीय एक प्रजापालक सुल्तान था और उसने अनेक पाठशालाएँ, मस्जिदें बनवाईं। बीदर में उसने एक अस्पताल भी बनवाया। उसका उत्तराधिकारी हुमायूँ (सन् 1457-1461) एक अत्याचारी शासक था। हुमायूँ की मृत्यु के बाद

निजाम शाह (सन् 1461-1463) एवं मुहम्मद शाह तृतीय (सन् 1463-1482) गद्दी पर बैठे। इस अवधि में राज्यसत्ता पर असली नियंत्रण महमूद गवां नामक मंत्री के हाथों में रहा। इस मंत्री को ख्वाजा-जहाँ की उपाधि दी गई। कोंकण एवं विजयनगर के विरुद्ध सफल युद्धों तथा काँची के विध्वंस ने सुल्तान के प्रभाव क्षेत्र में वृद्धि की। लेकिन सन् 1470 के अकाल तथा बाद में सन् 1481 में महमूद गवां की सुल्तान द्वारा की गई हत्या ने बहमनी राज्य को कभी न समाप्त होने वाले संकटों में डाल दिया। मुहम्मद शाह तृतीय की मृत्यु (सन् 1482) के बाद उसका उत्तराधिकारी महमूद शाह (1482-1518) अयोग्य सिद्ध हुआ। राज्य का आकार कम हो गया तथा बीदर के आस-पास तक सिमट कर रह गया। महमूद की मृत्यु के बाद एक के बाद एक तीन सुल्तान हुए जो उसी की भाँति पहले कासिम बरीद-उल-मुमालिक और बाद में उसके पुत्र अमीर अली बरीद के हाथों की कठपुतली बने रहे। अंतिम बहमनी सुल्तान कली मुल्ला शाह की सन् 1527 में मृत्यु के पश्चात् बहमनी राज्य के ध्वसांवशेषों पर पाँच नए राज्य उठ खड़े हुए- बीजापुर का आदिलशाही राज्य, अहमद नगर का निजामशाही राज्य, बरार का इमादशाही राज्य, गोलकुण्डा का कुतुबशाही राज्य तथा बीदर का बीदरशाही राज्य। बीजापुर के आदिलशाही राज्य को सन् 1686 तथा में गोलकुण्डा के कुतुबशाही राज्य को सन् 1687 में औरंगजेब ने जीतकर मुग़ल साम्राज्य मे मिलाया। जबकि बरार क़ो अहमदनगर के सुल्तान ने 1574 में जीतकर अपने राज्य में मिलाया पर बाद में अकबर ने सन् 1600 में इसके सुल्तान को अपना सामंत बना लिया। अहमद नगर सन् 1636 में शाहजाहाँ के शासनकाल में मुग़ल साम्राज्य में अंतिम रूप से मिला लिया गया। बीदर पहले ही 1618-19 में बीजापुर में विलीन हो चुका था।

दक्षिण भारत का हिन्दू राज्य

विजयनगर साम्राज्य

विजयनगर साम्राज्य की उत्पत्ति मुहम्मद बिन तुगलक के शासनकाल की अव्यवस्था के दौरान हुई। बाबर के समय विजयनगर साम्राज्य अपने महानतम् शासक कृष्णदेवराय (सन् 1509-1530) के अधीन था। बाबर ने लिखा है कि बीजानगर (विजयनगर) का राजा मुल्क और लश्कर दोनों तरह से बड़ा है।

विजयनगर साम्राज्य की स्थापना संगम के पाँच पुत्रों में से हरिहर और

बुक्का ने की थी, ये दोनों आरंभ में होय्यसल नरेश वीर बल्लाल तृतीय के यहाँ नौकर थे और उन्होंने दिल्ली के मुहम्मद बिन तुगलक की आक्रमणकारी नीतियों के विरुद्ध संगठित प्रतिरोध खड़ा किया था। संगम वंश के पहले शासक हरिहर (सन् 1336-1353) और दूसरे शासक बुक्का (सन् 1353-1379) ने सम्राट की उपाधि धारण नहीं की। उन दोनों ने अपने लगभग 45 वर्षों के शासनकाल में न सिर्फ उस प्रदेश पर आधिपत्य जमाया जो पूर्ववर्ती होय्यसल राज्य का था, बल्कि नए इलाके भी जीते। बुक्का ने सन् 1374 में अपना एक प्रतिनिधि मंडल चीन भेजा। बुक्का की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र हरिहर द्वितीय (सन् 1374-1404) महाराजाधिराज और राजपरमेश्वर जैसी उपाधियों के साथ गद्दी पर बैठा। इसने त्रिचनापल्ली, चिंगलपुर, मैसूर, काँची जैसे नए इलाकों को जीता और गोवा के मुसलमानों को खदेड़ा। बहमनी शासक मुहम्मद शाह द्वितीय के शासनकाल में दोनों के मध्य शांतिपूर्ण संबंध बने रहे, परन्तु फिरोज शाह के बहमनी शासक बनने पर पुनः युद्ध शुरू हुए। हरिहर द्वितीय फिरोज शाह से परास्त हुआ और उसे एक अपमानजनक संधि भी करनी पड़ी। देवराय प्रथम (सन् 1404-1410) एवं वीर विजय (सन् 1410-1422) ने निरंतर बहमनी राज्य के विरुद्ध संघर्ष किया। देवराय द्वितीय (सन् 1422-1446) संगम वंश का सर्वश्रेष्ठ शासक था और अत्यंत वीर व साहसी योद्धा था। सन् 1443 में बहमनी सुल्तान अलाउद्दीन द्वितीय के साथ हुए युद्ध में देवराय द्वितीय बुरी तरह परास्त हुआ और इसने कर देना स्वीकार किया। देवराय द्वितीय के शासनकाल में ही इटली के निकोलो काउन्टी एवं फारस के अब्दुर्रज्जाक ने क्रमशः सन् 1420 एवं सन् 1443 में दक्षिण भारत की यात्रा की एवं यात्रा वृतांत लिखे। देवराय द्वितीय के बाद उसके उत्तराधिकारियों मल्लिकार्जुन (सन् 1446-1465) एवं विरुपाक्ष (सन् 1465-1486) ने राज्य किया, परन्तु उनकी अयोग्यताओं के कारण साम्राज्य में अशांति और अव्यवस्था छा गयी तथा विद्रोहों व बाह्य आक्रमणों में तेजी आई।

विजयनगर साम्राज्य को इन खतरों से बचाने के लिए विरुपाक्ष के ही एक मंत्री नरसिंह सलुव ने सन् 1486 में विरुपाक्ष को सिंहासनाचुत करके स्वयं राज्य सँभाला और सालुव वंश की स्थापना की। नरसिंह ने बहमनी सुल्तान और उड़ीसा के शासकों से विजयनगर साम्राज्य के खोये हुए भाग को वापस प्राप्त किया। अपने छह वर्षों के शासनकाल में नरसिंह सालुव (सन् 1486-1492) ने प्रशासन और सेना को पुनर्संगठित किया। इसका उत्तराधिकारी इमादिर नरसिंह (सन्

1492-1505) एक अयोग्य एवं दुर्बल शासक सिद्ध हुआ, फलस्वरूप नरसिंह सालुव के विश्वासपात्र सेनापति नरस नायक की शक्ति बहुत बढ़ गयी। बाद में इसी सेनापति के पुत्र वीर नरसिंह ने सालुव वंश समाप्त कर स्वयं गद्दी हथियायी और तुलुव वंश की स्थापना की।

तुलुव वंश की स्थापना वीर नरसिंह (सन् 1505-1509) ने की। इस वंश ने सन् 1505 से सन् 1570 तक पैसठ वर्षों तक राज्य किया। इस वंश का सर्वश्रेष्ठ राजा कृष्णदेवराय (सन् 1509-1530) जो बाबर और राणासांगा का समकालीन था, एक वीर सैनिक, सफल सेनानायक, एक योग्य प्रशासक तथा कुशल संगठनकर्ता था। यह "निस्संदेह विजयनगर का सबसे बड़ा शासक तथा भारत के इतिहास में सबसे प्रसिद्ध राजाओं में से एक है।" कृष्णदेव राय ने अपनी सैनिक योग्यताओं के बल पर विद्रोहों का दमन किया तथा अपने पड़ोसी राज्यों को परास्त कर के राज्य की सीमाओं में विस्तार किया। सन् 1513-14 में उड़ीसा के शासक गजपति प्रतापरूद्ध पर विजय प्राप्त की तथा उसकी पुत्री से विवाह किया। कृष्णदेवराय ने सन् 1520 में रायचूर के निकट बीजापुर के इस्माइल आदिल शाह को बुरी तरह परास्त किया और उसके राज्य को लूटा। कृष्णदेव राय ने पुर्तगालियों से मित्रतापूर्ण संबंध बनाए तथा पुर्तगाली गर्वनर अलबुकर्क को मटकल में दुर्ग निर्माण की अनुमति प्रदान की। पुर्तगाली पर्यटक पीज उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं- "वह सबसे अधिक विद्वान एवं पूर्ण राजा है, जितना संभवत: हुआ जा सकता है ..... स्वभाव से ही प्रसन्न और परम प्रफुल्लित। वह ऐसे व्यक्तियों में से है जो विदेशियों का सम्मान करते हैं और उनका कृपापूर्वक सत्कार करते हैं उनके कार्यों के संबंध में सब कुछ पूछते हैं- चाहे उनकी जो भी अवस्था हो। वह एक महान शासक और न्यायप्रिय व्यक्ति है ..... जितनी सेना एवं प्रदेशों पर उसका अधिकार है। उस हिसाब से वह श्रेणी में किसी से भी बड़ा राजा है। किन्तु सभी बातों में वह इतना शूर और पूर्ण है कि ऐसा प्रतीत होता है कि उसके जैसे व्यक्ति के पास जितना रहना चाहिए उसकी तुलना में वस्तुत: उसके पास कुछ नहीं है"। कृष्णदेव राय के बाद दुर्बल उत्तराधिकारियों ने राज किया। अच्युत राय (सन् 1530-1542) एक कमजोर शासक सिद्ध हुआ। सदाशिव राय (सन् 1542-1570) अपने मंत्री राम राय के नियंत्रण में था। राम राय की नीतियों के कारण विजयनगर के विरुद्ध अहमदनगर, बीजापुर, गोलकुण्डा और बीदर की सेनाओं ने संयुक्त रूप से हमला बोला और तालीकोटा का युद्ध (सन् 1565) विजयनगर साम्राज्य के ताबूत पर

आखिरी कील साबित हुआ। इस युद्ध में विजयनगर की सेना पराजित हुई और विजयी सेनाओं ने नगर को लूटा और उसका विध्वंस किया।

उपर्युक्त प्रांतीय राज्यों के सिंहावलोकन से बाबर के हमले के समय की राजनीतिक दशा के कुछ विशिष्ट तत्त्व दृष्टिगोचार होते हैं। इनमें से पहला— देश में राजनीतिक एकता का अभाव था और सारा हिन्दुस्तान छोटे-छोटे प्रांतीय राज्यों में विभक्त था, जिनके मध्य निरंतर संघर्ष होते रहते थे। दूसरा— प्रांतीय राज्यों के उदय के पश्चात् उनमें पारस्परिक संघर्ष होने के कारण राजनीतिक अस्तव्यस्तता एवं असंतुलन पैदा हो गया। ये राज्य आपसी संघर्ष में इतना उलझ गए कि इन्हें विदेशी आक्रमणकारी की ओर ध्यान ही नहीं रहा। तीसरा— इन प्रांतीय राज्यों में से अधिकांश ने प्रजा के हितों की उपेक्षा की। इनकी सत्ता और प्रशासन प्रजा के विश्वास प्रेम सहयोग और सद्भावना पर आश्रित नहीं था जिसके कारण इन राज्यों में दृढ़ता और स्थायित्व नहीं था। चौथा— बाबर के हमले के समय इन राज्यों की सैनिक व्यवस्था भी दोषपूर्ण थी। हिन्दुतानी सैनिक अभी भी परम्परागत धनुष बाण, ढाल तलवार, भाले बरछी आदि आयुधो पर अत्यधिक निर्भर था जबकि बाबर के सैनिकों को गोलाबारूद और तोप का अनुभव था। पाँचवा— प्रांतीय राज्यों उदय और दिल्ली सल्तनत के पतन के कारण हिन्दुस्तान का पश्चिमी सीमान्त क्षेत्र पूर्णरूपेण असुरक्षित हो गया। सुदृढ़ किलेबंदी का अभाव, प्रशिक्षित सेनिकों एवं योग्य सेनानायकों की अनुपस्थिति ने बाबर को समुचित अवसर प्रदान किए।

बाबर द्वारा मुग़ल साम्राज्य की स्थापना

बाबर का प्रारंभिक जीवन

हिन्दुस्तान में मुग़ल साम्राज्य के पहले शासक के बारे में विलियम एरस्किन् लिखते है कि बाबर निश्चित रूप से सबसे अधिक प्रख्यात शासकों में से एक था जो पूर्व के सिहांसन पर सदैव प्रतिष्ठित रहेगा। जहीरूद्दीन मुहम्मद बाबर का जन्म 6 मुहर्रम 888 हिजरी अंग्रेजी तारीख 14 फरवरी 1483 ईसवी को मध्यएशिया के एक छोटे से राज्य फरगाना में हुआ था। हैदर मिर्जा दोधलत के अनुसार उलुग मिर्जा के एक दरबारी विद्वान मौलाना मुनीर मर्गिनानी ने बाबर की जन्म तिथि "शश मुहर्रम" शब्दों में निकाली। मौलाना हिसामी कराबुली ने बाबर की जन्मतिथि पर एक शेर लिखा था जिससे 888 हिजरी निकलती है। समकालीन ज्योतिषियों के मतानुसार बाबर के जन्म का दिन और तिथि दोनों ही अद्भुत एवं शुभ है। बाबर के जन्म वर्ष की संख्या में 8 का तीन बार एवं दिवस की संख्या में 6 का तीनबार

आना एक अद्वितीय संतुलन है जो एक सुप्रसिद्ध जीवन का परिचायक है। ट्रांस आक्सियाना में उस समय सर्वाधिक सम्मानित धार्मिक गुरू ख्वाजा नसीरूद्दीन ओबेदुल्लाह अहरार (बाबर के पिता इसके शिष्य थे) ने बालक का नाम जहीरूद्दीन मुहम्मद रखा था। परन्तु तुर्कों को इसके उच्चारण में कठिनाई होती थी। अत: छोटा नाम बाबर रखा गया जिसका शाब्दिक अर्थ चीता या वीर है।

बाबर की धमनियों में मध्यकाल के उन दो सर्वश्रेष्ठ व सुविख्यात विजेताओं और साम्राज्य निर्माताओं का रक्त प्रवाहित हो रहा था जो मध्य एशिया में ही नहीं वरन् समूचे विश्व में जाने जाते है। बाबर अपनी माता कुतलुग निगार खानुम की ओर से चगेज खाँ का चौदहवां वंशज एवं पिता उमरशेख मिर्जा की ओर से तैमूरलंग का पाँचवा वंशज था।'' इस प्रकार उसमें मंगोलो की क्रुरता तथा तुर्को की योग्यता और साहस का समन्वय था। इन पितृगत गुणों के अतिरिक्त उसमें ईरानियों की सी विनीत शिष्टता भी विद्यमान थी जो उसे पालन पोषण के कारा उपलब्ध हुई थी। बाबर के जीवन में इन दोनों महान व्यक्तियों के आदर्श एवं उद्देश्यों का प्रभाव पड़ा। उसका वंश तुर्की जाति की चगताई शाखा के अन्तर्गत आता था किन्तु आमतौर पर उसे मुग़ल कहा जाता है। पिता उमरशेख मिर्जा की आकस्मिक मृत्यु के पश्चात् लगभग 12 वर्ष की उम्र में 9 जून 1494 ईसवी को बाबर अपने पैतृत राज्य फरगाना की राजधानी अन्दिजान में गद्दी पर बैठा। बाबर अपनी आत्मकथा की शुरूआत ही इन शब्दों से करता है - सन् 899 हिजरी के रमजान के महिने मे मैं फरगाना का शासक बना। फरगाना का राज्य जो कि बाबर को अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् विरासत में मिला। 50000 वर्ग मील तक फैला हुआ था। उसकी जलवायु उत्तम थी। उपज अच्छी थी और जहाँ शिकार खेलने के लिए अनेक स्थान थे। सन् 1494 ई में फरगाना राज्य पर एक साथ दो तरफ से हमले हुए। बाबर का चाचा और समकंद बुखारा का शासक सुल्तान अहमद मिर्जा ने राजधानी अंदीजान पर और मामा ताशकंद का शासक मंगोल सुल्तान महमूद खाँ ने अख्सी के दुर्ग पर हमला किया। जनता की दृढ़ता और संयोगों ने बाबर का साथ दिया। घातक महामारी से घोड़ो के मरने और काबा नदी का पुल टूटने पर सेना की हानि ने चाचा को वापस भेजा तो दूसरी ओर चाचा की वापसी की खबर सुन झुंझलाया मामा भी वापस चला गया। तथापि बाबर का राज्य सिकुड़कर 80 मील चौड़ाई और कुछ मील लम्बाई मे ही रह गया। युवा बाबर महत्त्वाकांक्षी उत्साही और वीर पुरुष था और तैमूर की राजधानी समरकंद पर

अधिकार के लिए मोहित था। समरकंद पर अधिकार के लिए उसने चार बार घेरा डाला। तीन बार समरकंद उसके हाथ आया और कुछ दिनों के बाद हाथ से निकल भी गया। जुलाई 1494 में चाचा सुल्तान अहमद मिर्जा और प्रत्येक बार जल्द ही जनवरी 1495 में उसके उत्तराधिकारी सुल्तान महमूद मिर्जा की मृत्यु होने पर समरकंद में हुई राजनीतिक अस्तव्यस्तता का लाभ उठाकर बाबर ने सन् 1496 में पहली बार समरकंद का घेरा डाला जो सफल हुआ। बाबर ने सन् 1497 को समरकंद पर दूसरा हमला किया इस बार बिना मुकाबले के समरकंद उसके हाथ में आ गया। सो दिन की बादशाहत के बाद ऐसी परिस्थितियां बनी कि समरकंद और फरगाना दोनों हाथ से निकल गए। बाबर लिखता है कि अंदिजान (फरगान की राजधानी) के लिए समरकंद छोड़ा था अंदिजान भी हाथ से निकल गया। अब हमारा यह हाल था कि न इधर के रहे न उधर के रहे।" अब उसके पास खोजन्द क्षेत्र रह गया। "संकट के दिनों में भी उसने आशा और उत्साह का त्याग नहीं किया था। परमात्मा के प्रति उसकी अविचल निष्ठा बनी रही और अपने भाग्य के प्रति उसका विश्वास कभी नहीं डिगा।" सन् 1500-01 में बाबर ने समरकंद पर फिर प्रयाण किया और उस कब्जा किए बैठे उजबेग सरदार शैबानी खाँ को मार भगाया। आठ माह के संक्षिप्त शासन के बाद सन् 1501 में सर-ए-पुल नामक स्थान पर शैबानी खाँ से हुए युद्ध में हार कर बाबर ने समरकंद और अपनी बहन खानजादा बेग़म को शैबानी खाँ के हवाले किया और खुद तीसरी बार बेधरबार होकर घूमने लगा।" इस युद्ध में बाबर ने एक पाठ ग्रहण किया, जीवन में पहली बार उसने युद्ध प्रणाली के बारे में जानकारी प्राप्त की। उजबेगों की तुलुगमा युद्ध प्रणाली से वह बहुत ही प्रभावित हुआ। इस युद्ध में उजबेगों के लडने का ढंग, सैन्य संचालन, सेनाओं के विभिन्न भागों का किस प्रकार आगे बढ़कर चक्कर लगा कर आक्रमण करना, यह सब उसके लिए नई बातें थी जिसका उसने अनुभव प्राप्त किया। इसी युद्ध प्रणाली का प्रयोग उसने अपने भारतीय युद्ध अभियानों में सफलतापूर्वक किया। दूसरा पाठ, सर-ए-पुल के युद्ध के पश्चात् उसका विश्वास ज्योतिष शास्त्र से उठ गया।"

इसके बाद के तीन वर्ष बाबर के लिए घोर कष्टप्रद रहे। घर विहीन, अर्थ विहीन बाबर अपने मुठ्ठी भर अनुयायियों के साथ लुकता छिपता रहा। "प्रकृति ने अपने प्रकोप द्वारा उसे बलिष्ठ बनाया, कष्टो ने उसके संकल्पों को दृढ़ता प्रदान की और यद्यपि बार-बार उसे आगे बढ़कर पीछे हटना पड़ा, किन्तु जब तक वह अपने

लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल न हुआ तब तक वह शांति से न बैठा। दुर्दिनो में भी, जबकि उसका दुर्भाग्य निरंतर उसके सिर पर मण्डराता रहा , बाबर ने कभी धैर्य नहीं खोया और ऐसा करके उसने अपने व्यक्तित्व को प्रबल बनाया।'' भटकते हुए बाबर ने एक दिन अपने आश्रयदाता ग्रामीण मुखिया की मां 111 वर्ष की वृद्धा से तैमूर की हिन्दुस्तान पर की गई चढ़ाईयों, विजयों और लूटमार का विवरण सुना। तब बाबर ने तैमूर की भांति हिन्दुस्तान विजय करने की सोची।

काबुल पर अधिकार

उजबेगो खास कर उजबेग सरदार शैबानी खाँ की बढ़ती ताकत ने बाबर को इस बात के लिए विवश किया कि वह मध्यएशिया के बजाय दक्षिण पर ध्यान दे। काबुल के शासक उलुग बेग मिर्जा बाबर के चाचा थे और सन् 1501 ईसवी में वे एक बालक पुत्र अब्दुर्रज्जाक मिर्जा को विरासत सौंप अल्ला को प्यारे हो गए। सरदारों के आपसी झगड़े ने राज्य में विद्रोह और अराजकता फैला दी। ''भटकन और प्रतीक्षा के दौरान में बाबर से तिरमिज में कहा गया कि मध्य एशिया में भटकना बेकार है क्यो न अफगानिस्तान में भाग्य की परीक्षा ली जाए। जहाँ शासन जनप्रिय न होने के कारण अस्थायी है। '' बाबर ने जब सन् 1504 की अक्टूबर में काबुल की ओर प्रयाण किया तो काबुल पर अधिकार जमाए बैठै मोहम्मद मुकीम अर्गुनी ने किला छोड़ दिया। बाबर खुद लिखता है कि रवी उल आखिर 910 हिजरी में सर्वशक्तिमान ईश्वर ने काबुल और गजनी तथा उसके मातहत मुल्क को बिना लड़े भिड़े मुझे दिला दिए। काबुल में उसने अपनी स्थिति सुदृढ़ की और सन् 1507 ईसवी में बादशाह की उपाधि ग्रहण की। इतने पर भी बाबर के मन से समरकंद नहीं उतरा था।

दिसम्बर सन् 1510 ईसवी में मर्व के निकट उजबेग सरदार शैबानी खाँ और ईरान के शाह इस्माईल सफवी के बीच एक निर्णायक युद्ध हुआ अपने प्रबल शत्रु शैबानी खाँ की मौत और सफवी की जीत हुई। जिसमें शैबानी खाँ की मौत ने बाबर के मन में समरकंद विजय की लौ फिर भड़का दी। शाह इस्माईल की सहायता से उसने समरकंद को सन् 1511 में जीता। यह उसकी समरकंद पर तीसरी जीत थी। लेकिन शीघ्र ही उजबेगों ने संगठित होकर शैबानी खाँ के भतीजे उबैदुल्ला खाँ के नेतृत्व में हमला बोला और मई सन् 1512 ईसवी में कुल-ए-मलिक की लड़ाई में हारकर बाबर ने तीसरी बार समरकंद खो दिया। इस हार से ''उसकी मध्य एशिया पर शासन करने की आशा चूर-चूर हुई यद्यपि इस आशा की गूंज

आमरण उसके स्वप्न लोक में चक्कर लगाती रही '' इस हार के बाद भी बाबर ने अपना मनोबल नहीं खोया और निरंतर नई तैयारियों में लगा रहा। सन् 1514 ईसवी में ईरानी शाह तथा सुल्ताने रूम सलीम के बीच खल्दिरन के युद्ध में ईरानियों की हार के पीछे उस्मानियों की तोपे थी। इस घटना ने बाबर का ध्यान खींचा उसने शीघ्र ही उस्ताद अली रूमी की सेवाएं प्राप्त कर अपनी सेना को तोप एवं बंदूको के संचालन हेतु प्रशिक्षित किया। जनवरी सन् 1519 को बाबर ने एक अन्य उस्ताद मुस्तफा रूमी की भी सेवाएं ली। इन दोनों तोपचियों ने बाबर को एक शक्तिशाली तोपखाने का स्वामी बना दिया। जिसने हिन्दुस्तान की जीत में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

हिन्दुस्तान पर विजय

बाबर काबुल के बाद हिन्दुस्तान विजय के सपने देखता था। उसने लिखा कि ''सच तो यह है काबूल में पैर रखने के बाद से ही मुझ पर हिन्दुस्तान जीतने की धुन सवार थी। पर कुछ न कुछ अड़चन आ जाने से मन की मन में ही रह गई।'' हिन्दुस्तान पर बाबर ने कुल 5 हमले किए। जनवरी 1519 ईसवी में बाबर ने **पहला हमला** किया। सीमान्त कबीलाई युजुफजाईयों को उनकी उदण्डता का सबक सिखाने के पश्चात् बाबर के बाजौर पर कब्ज किया। झेलम के तटवर्ती नगर भेरा पर तथा खुशाब पर कब्जे के उपरांत बाबर ने अपने सैनिकों को आज्ञा दी कि नागरिकों को किसी भी प्रकार की हानि नहीं पहुचाएगे। बाबर इन प्रदेशों को अपना समझता था क्योकि महान तुर्क तैमूर लंग ने इन भू-भागो पर कब्जा किया था। फिर उसने अपना दूत दिल्ली के इब्राहिम लोदी को भेजा कि वह तुर्को के अधिकृत प्रदेशों को बाबर को सौंप दे। पंजाब के सूबेदार दौलत खाँ लोदी ने उसके दूत को दिल्ली न जाने दिया। बाबर की यह विजय क्षणिक रही क्योंकि बाबर के सिंधु नदी पार करते ही अफगानों ने विजित प्रदेशों पर पुनः अधिकार कर लिया। बाबर ने **दूसरा हमला** सितम्बर सन् 1519 ईसवी को किया। वह खैबर दर्रे से आगे बढ़ा और उसने युसुफजाई अफगानों को अपने नियंत्रण में लिया, वह पेशावर के किले की किलेबंदी और वहां रसद इकट्ठी करना चाहता था। परंतु बदख्शां से उपद्रव की सूचना मिलने पर लक्ष्य पूरे किए बिना बाबर लौट गया। सन् 1520 ईसवी के **तीसरे अभियान** में बाबर ने बाजौर और भेरा नगर पर पुनः अधिकार किया। उसने आगे बढ़कर सियालकोट और सैंयदपुर को अपने अधिकार में लिया। वह और आगे बढ़ता लेकिन कंधार के शासक शाहबेग अर्जुन के धावों की खबर सुन वह

शीघ्रता से काबूल लौट गया। दो निष्फल प्रयत्नों के बाद बाबर ने सुबेदार मौलाना अब्दुल बकी के छलपूर्ण सहयोग से कंधार पर सन् 1522 को अंतिम अधिकार किया। कंधार कब्जे के बाद बाबर अपने पीठ पीछे के मध्य एशियाई संकटों से स्वयं को मुक्त पाने लगा। दिल्ली के सुल्तान और पंजाब के सुबेदार के आपसी झगड़े में पंजाब के सुबेदार ने बाबरको हमले का न्यौता दिया। बाबर जब सन् 1524 में हिन्दुस्तान पर अपने **चौथे अभियान** के अन्तर्गत लाहौर की ओर बढ़ा तो उसके पूर्व ही दिल्ली की फौजों ने लाहौर से दौलत खाँ लोदी को हटाकर अपना कब्जा जमा लिया था। बाबर ने दिल्ली की फौज को लाहौर में परास्त कर लाहौर को लूटा और फिर आगे बढ़ दीपालपुर पर कब्जा किया। दीपालपुर में दौलत खाँ लोदी ने बाबर का साथ दिया। लेकिन बाबर ने पूरा प्रांत अपने कब्जे में रखा और जलधर दौलतखाँ को और सुल्तानपुर दिलावर खाँ को सौप बाबर लौट गया क्योकि उसने और अधिक सेना की आवश्यकता महसूस की। बाबर के लौटते ही दौलत खाँ ने अपने ही पुत्र दिलावर खाँ को भगा दिया और पूरे पंजाब पर कब्जा करके बैठ गया। बाबर का **पाँचवां और अंतिम अभियान** नवम्बर सन् 1525 ईसवी को हुआ। बदख्शां से अपनी सेना लेकर हुमांयू भी आ पहुँचा। बाबर ने मिलवत के दुर्ग पर घेरा डालकर दौलत खाँ को पराजित किया। बंदी दौलतखाँ की भेरा नगर जाते हुए मृत्यु हो गयी। पंजाब पर कब्जा करने के बाद बाबर को हिन्दुस्तान पर शासन करने के लिए वैधानिक अधिकारों की प्राप्ति हेतु दिल्ली सुल्तान इब्राहिम लोदी को हराना अनिवार्य हो गया था।

पानीपत का पहला युद्ध (21 अप्रैल 1526)

बाबर द्वारा हिन्दुस्तान पर अधिकार की "असली लड़ाई 21 अप्रैल सन् 1526 को पानीपत के मैदान में लड़ी गई। लेनपुल के अनुसार – यह वह ऐतिहासिक स्थल है जहाँ भारत का राजमुकुट तीन बार जीता गया।" बाबर 12 अप्रैल 1526को पानीपत के मैदान में पहुँचा। बाबर के कथनानुसार सुल्तान इब्राहिम लोदी की सेना में एक लाख सिपाही और एक हजार हाथी थे और उसने अपने बारह हजार सैनिको की सहायता से उसे परास्त किया। रशब्रुक विलियम्स ने बाबर के सैनिकों की संख्या 8000 आंकी है तो विलियम एरिस्कन इब्राहिम लोदी की सेना में सौ हजार आदमी (एक लाख) और एक हजार हाथी आंकते है। एस आर शर्मा का मत है कि कुल मिलाकर उसके अनुयायियों की संख्या 12000 से अधिक न थी जिसमें 800 से अधिक लड़ने वाले नहीं रहे होगे। रामप्रसाद त्रिपाठी और डॉ० राधेश्याम

इब्राहिम लोदीकी सेना 50000 आंकते है डा. आर्शीवाद लाल श्रीवास्तव का कथन अधिक समीचीन प्रतीत होता है कि पानीपत मे बाबर की सैन्य शक्ति 25000 आदमियों कम नहीं रही होगी और इब्राहिम की युद्ध शक्ति चालीस हजार आदमियों से अधिक नहीं रही होगी जो भी हो मुकाबला दो असमान शक्तियों में था। पानीपत के युद्धमें एक ओर हजारों की संख्या में सैनिक थे तो दूसरी ओर सैनिक और तोपे दोनो थी। बाबर के साथ पिछले 24 वर्षों का मध्यएशिया में लड़े गए अनेक युद्धों का अनुभव था तो इब्राहिम लोदी एक अनुभवहीन लड़ाका था। बाबर 12 अप्रैल से 20 अप्रैल तक मोर्चा बंदी करता रहा लेकिन इब्राहिम ने उस पर हमला नहीं किया। बाबर ने पानीपत में तुलुगमा युद्ध प्रणाली का प्रयोग किया जिसे उसने उजबेगों से सीखा था। इसके साथ उसने तोपखाने का प्रयोग किया जिसकी मार को हिन्दुस्तानी सेना ने पहली बार अनुभव किया। 21 अपैल को सबेरे शुरू हुए युद्ध में बाबर की उत्कृष्ट युद्ध व्यवस्था और संचालन शक्ति ने विजय पाई। सुल्तान इब्राहिम लोदी ने अपने सरदार महमूद खाँ के जान बचाकर भागने के आग्रह को ठुकराकर शहादत देना अधिक श्रेयस्कर समझा। पानीपत की लड़ाई में लोदी वंश का भाग्यसूरज स्थायी रूप से उसी प्रकार अस्त हुआ जिस प्रकार उसके पूर्वज तैमूर के हाथों तुगलक वंश का अंत हुआ था। पानीपत के युद्ध के साथ ही प्रथम अफगान साम्राज्य का अंत हुआ एवं मुग़ल साम्राज्य की स्थापना की शुरूआत हुई। अब बाबर भीड़ा से बिहार तक के प्रदेश का स्वामी था। लेकिन पानीपत की विजय अंतिम नहीं थी। बिहार में अफगान और राजपूताना का राणा सांगा तलवारे खीचे खड़े थे। उन्हें परास्त किए बिना बाबर केवल दिल्ली और आगरा का स्वामी था और उसकी हिन्दुस्तान विजय अधूरी थी।

खानुवा का युद्ध (16 मार्च 1527)

उस युग में हिन्दुस्तान में राजपूती शौर्य का प्रतीक राणा सांगा निस्संदेह एक महान योद्धा था। उसने अब तक लड़े अपने 18 युद्धों में से प्रत्येक को जीता था। लेनपूल ठीक लिखता है-"बाबर को अब हिन्दुस्तान में सबसे भंयकर शत्रु से सामना करना पड़ा ..... राजपूत उत्साही, पराक्रमी और युद्ध प्रेमी होते है, उनमें राष्ट्रीय भावना भरी होती है और वे बहादुर से बहादुर लड़ाको का मुकाबला करते हुए अपनी जान देने को हमेशा तैयार रहते हैं" चित्तौड़ के शासक राणा सांगा ने राजपूताने के सभी राजपूत शासकों को अपने झण्डे के नीचे लाने में सफलता पाई थी। उसके साथ लड़ाई के मैदान में 120 बड़े सरदार 80 हजार घोड़े और 500 हाथी

उतरे थे। मारवाड़ से लेकर चंदेरी तक के कई ठिकानों के सरदार अपने अलग-अलग झण्डों के साथ लड़ाई के मैदान में आए थे। राजपूतों की प्रारंभिक सफलता और उनकी वीरता की कहानियों ने बाबर की सेना में निराशा फैला दी। बाबर ने अपने सैनिकों का मनोबल बढ़ाने के लिए शराब न पीने की प्रतिज्ञा की, मुसलमानों को तमगा (व्यापारिक कर) से मुक्ति की घोषणा की, सैनिकों से काफिर के विरुद्ध जेहाद का आव्हान किया। अन्ततः बाबर के सैनिकों ने कुरान पर हाथ रख मृत्युपर्यन्त युद्ध की शपथ खाई। बाबर ने इस युद्ध में भी पानीपत सरीखी व्यूह रचना की जबकि राजपूतों की सैन्य रचना पारम्परिक थी। प्रातकालः शुरू हुआ युद्ध लगभग 20 घण्टे चला। बीर राजपूतों ने मुग़ल घुड़सवारों औरउनके तोपखाने के हमले का व्यक्तिगत शौर्य और साहस के साथ सामना किया। घुड़सवारों और तोपखाने के कुशल संयोजन, अवसर के अनुकूल साहस और भाग्य ने बाबर को विजय दिलाई। घायल राणा सांगा को सुरक्षित स्थान पर ले जाया गया। जहाँ बाद में अपने ही सरदारों के दिए गए विष के प्रभाव से 30 जनवरी 1528 को उसकी मृत्यु हो गयी।

खानुवा का युद्ध महत्त्वपूर्ण और निर्णायक सिद्ध हुआ। प्रत्येक राजपूती वंश से श्रेष्ठतम योद्धाओं की आहुति ने राजपूतो को राजनीतिक दृष्टि से कमजोर बना दिया। खानुवा के युद्ध के बाद राजपूत कभी भी मुग़लों के विरुद्ध एक संघ बना के नहीं लड़े और दिल्ली आधिपत्य क़ा उनका स्वप्न सदैव के लिए समाप्त हो गया। इस युद्ध ने मुग़लो को हिन्दुस्तान में स्थापित कर दिया तथा बाबर की शक्ति का केन्द्र काबुल से हटकर दिल्ली हो गया। बाबर के जीवन के 24 वर्षों की घुमक्कड़ी और उसका अस्थिर जीवन समाप्त हो गया।

चंदेरी का युद्ध (29 जनवरी 1528)

चंदेरी व्यापारिक और सामरिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान था। वह मालवा और बुंदेलखण्ड की सीमा पर मालवा से उत्तरीभारत जाने वाले मुख्य मार्ग पर स्थित था। चंदेरी के राजा मेदिनीराय ने राजा सांगा के पक्ष से खानुवा के युद्ध से भाग किया था। बाबर ने चंदेरी विजय हेतु 29 जनवरी सन् 1528 को किले पर हमला किया। मेदिनीराय परास्त हुआ, महिलाओ ने जौहर किया, राजपूतों ने केसरिया बाना पहनकर मृत्यु को वरण किया और चंदेरी पर मुग़लो का अधिकार हो गया।

घाघरा का युद्ध (6 मई 1529)

सन् 1528-29 में अफगानों ने पुनः संघर्ष करने का निर्णय लिया। वे पानीपत की हार को भूले नहीं थे। महमूद लोदी ने बिहार में अपने आपको संगठित किया तथा उसे बंगाल के नुसरतशाह से सहायता मिल रही थी। 6 मई सन् 1529 को घाघरा के तट पर बक्सर के पास हुए इस घमासान युद्ध में दोनों ओर से तोपखानों और नाव का प्रयोग किया गया। अफगान पराजित हुए। बंगाल के सुल्तान नुसरतशाह और बाबर के बीच की संधि में दोनों की सर्वोच्च सत्ता का आदर किया गया।

घाघरा का युद्ध हिन्दुस्तान में बाबर का अंतिम युद्ध था। अब बाबर के अधिकार में काबुल कंधार के अलावा सिंध नदी से बिहार तक का तथा हिमालय से ग्वालियर -चंदेरी तक का हिन्दुस्तानी भू-भाग आ चुका था। बाबर का अंतिम समय अब निकट था। अबुल फजल के अनुसार हुमांयु के बीमार पड़ने पर उसने (बाबर) ईश्वर से यह प्रार्थना की कि उसका पुत्र बच जाए और उसका प्राणदान स्वीकृत हो। हुमांयु के चंगे होने के बाद उसका स्वास्थ्य तेजी से गिरता गया और 26 दिसम्बर सन् 1529 को आगरा में बाबर की मृत्य हो गयी। उसके शरीर को बाद में काबुल ले जाकर उसके द्वारा चयनित बाग में दफना दिया गया जहाँ उसकी कब्र पर लिखा है कि-

मृत्यु इस विजेता को विजित नहीं कर सकती।
क्योंकि वह अपने यश रूपी शरीर द्वारा जीवित है।

बाबर की कठिनाईयां

हिन्दुस्तान में बाबर के अधिकार सत्ता की वैधानिकता पानीपत के प्रथम युद्ध ने निश्चित की तथा उस वैधानिकता पर मोहर खानुवा के युद्ध ने लगाई थी। बाद के युद्ध अधिकार सत्ता की प्राप्ति के लिए नहीं हुए बल्कि उसके विस्तार और उसे सुरक्षित रखने के लिए किए गए। यद्यपि हिन्दुस्तान में बिताए गए चार वर्षों की संक्षिप्त अवधि में उसने निरंतर सफलताएं प्राप्त की लेकिन उसकी कठिनाईयों भी कम न थी। पानीपत के बाद बाबर ने दिल्ली और आगरा का स्वामित्व तो प्राप्त कर लिया था लेकिन हिन्दुस्तान बहुत बड़ा था। बाबर के अधिकार क्षेत्र सीमित थे। बाबर ने सैनिक विजय जरूर पाई लेकिन उत्तरीभारत की राजनीतिक प्रभुता उसे अभी नहीं मिली थी। हिन्दुस्तान में फैली राजनीतिक उथल पुथल ने व्यापक

अराजकता को जन्म दिया था। बाबर के लिए स्थानीय जनता का विश्वास जीतना और शांति कायम करना बेहद महत्त्वपूर्ण था। संक्षेप मे बाबर की कठिनाईयां निम्नांकित रही-

1 व्यापक अराजकता

लोदी वंश के शासन काल में अंतिम वर्ष में केन्द्रीय सत्ता के अभाव ने उत्तरीभारत में व्यापक अराजकता उत्पन्न कर दी थी। निरंतर होते युद्धों ने दोआब के इलाके में घनघौर अव्यवस्था का माहौल बना दिया था। कृषि, व्यापार, वाणिज्य सब चौपट हो रहे थे। कृषि क्षेत्र की अव्यवस्था ने सेना के लिए रसद और जनता के लिए खाद्यान्न की कमी उत्पन्न कर दी थी। पशुओ के लिए चारा भी पर्याप्त उपलब्ध नहीं था। युद्धों के कारण राजमार्ग और जलमार्ग असुरक्षित हो गए थे। स्थानीय शासक निरंतर युद्ध में उलझे रहते फलस्वरूप लुटेरो डाकुओं की बन गई थी असुरक्षित राजमार्गो के चलते व्यापार वाणिज्य को विशेष नुकसान हो रहा था। इसके अतिरिक्त युद्धो के पश्चात् फैलने वाली महामरियों से भी लोग मरते थे। बाबर अपने हिन्दुस्तान मे रहने की संक्षिप्त अवधि में स्वयं तो कुछ नहीं कर पाया लेकिन उसने एक महान साम्राज्य की नींव डालकर व्यवस्था और शांति के लिए बीज बो दिए थे।

2 जनसहयोग का अभाव

साधारण जनता बाबर को, उसकी सेना को विदेशी मानती थी। अफगान अमीर बाबर को अपना राज्य छीनने वाला डाकू मानते थे। जनता और स्थानीय अधिकारी बाबर के साथ सहयोग को कतई तत्पर नहीं थे। पानीपत युद्ध जीतने के बाद बाबर जब आगरा बढता है तो उसने अपने अनुभव में लिखा- ''जब मैं आगरा आया, उस समय हम लोगों को न तो अपने लिए अन्न मिल सका और न ही घोड़ो के लिए चारा। हम लोंगो से शत्रुता के कारण गांव के निवासियों ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया, वे चोरी और लूटमार करने लगे, सड़कों पर चलना संटकटास्पद हो गया था।''

बाबर ने अपने संक्षिप्त शासन काल में पंजाब के जाट और गूजर जाति के लुटेरो का दमन किया, अपराधियों को कठोरता से दण्डित किया। प्राचीन सड़कों की मरम्मत कराई ताकि फौज के एक स्थान से दूसरे स्थान जाना कठिनाई रहित हो सके। ग्रामीण और शहरी इलाकों में विजय के बाद उसने अपनी सेना को लूट

करने से मना कर रखा था। इन कार्यो से बाबर ने जनता में अपने प्रति विश्वास की भावना उत्पन्न करने की चेष्ठा की।

3 अमीरों और सैनिकों की घरवापसी का मोह

बाबर की सबसे बड़ी आंतरिक कठिनाई यह थी कि उसके साथ आये अमीर और सैनिक मध्य एशिया के ठंडे प्रदेशों के निवासी थे। वे भारत की गर्म जलवायु सहन नहीं कर पा रहे थे। साथ ही चूंकि उन्हे अपने अपने घरों से निकले लगभग 4 वर्ष हो रहे थे अत: वे अब भारत में अधिक समय नहीं रहना चाहते थे। लेकिन बाबर के द्वारा जीते प्रदेशों की अधिकार सत्ता को बनाये रखना इन सैनिकों की उपस्थिति से ही संभव था। इसलिए बाबर अपने सैनिकों को निरंतर सात्वना देता रहता, धीरज बंधाता रहता और प्रत्येक विजय के बाद मिला लूट का माल उनके बीच बांटता रहता था। बाबर की दृढ़ता और हिन्दुस्तान में रूकने के निर्णय से स्थानीय शासक और सरदार भी बाबर की अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य हो गये।

4 अफगानों और राजपूतों की शत्रुता

पानीपत की हार को अफगानी सरदार भूल नहीं पा रहे थे। सल्तनत काल में वे उच्च पदो पर थे। बाबर के दिल्ली पर अधिकार से उन पदो पर मुग़लों का अधिकार हो गया। इन अफगान सरदारो ने बाबर का घोर विरोध किया और निरंतर विद्रोह किए। यद्यपि बाबर ने अफगानों को घाघराके युद्धमें परास्त किया लेकिन अफगानी शोले बुझे नहीं थे और बाबर की मृत्यु के बाद भड़के शोलो ने अंतिम अफगाग बादशाह शेरशाह सूरी को दिल्ली में बैठा ही दिया।

लोदी वंश के पतन को नजदीक जानकर राजपूतों के मन में दिल्ली विजय की आकांक्षा घर कर गयी थी। परन्तु बाबर ने उनकी आशाओं पर न सिर्फ पानी फेरा बल्कि खानुवा के युद्ध में उनकी रीढ़ तोड़ डाली थी। यद्यपि बाबर को खानुवा के बाद सुदृढ राजपूत प्रतिरोध का सामना नहीं करना पड़ा फिर भी राजपूतों ने उसका साथ भी तो नहीं दिया।

5 आर्थिक अव्यवस्था और रिक्त राजकोष

पानीपत के बाद दिल्ली और आगरा में बाबर ने लोदी राजकोष को लुटा जिससे उसे अपार धनराशि प्राप्त हुई। परन्तु उसने इस धनराशि को उदारतापूर्वक अपने अमीर, उमराव,सरदारों और सैनिकों को बांट दिया। यहाँ तक कि काबुल के

प्रत्येक निवासी के लिए सिक्का भेजा गया। बाबर ने राज्य के आर्थिक सुधारो और आर्थिक संगठन की कोई योजना क्रियान्वित नहीं की। उसने भूमि सुधार भूमिकारों में वृद्धि द्वारा राजकोष की रिक्तता की पूर्ति का कोई उपाय नहीं किया। वस्तुत: उसे यह सब करने का न तो कोई अनुभव था और न ही उसे पास समय था।

बाबर अपनी विरासत में जीता हुआ एक ऐसा मुल्क छोड़ गया था जिसमें उसने एक सेनानायक की तरह कार्य किया, एक शासक की तरह नहीं। क्योकि बाबर की कठिनाईयों ने उसे निरन्तर सैनिक बनाये रखा, एक शासक के लिए आवश्यक शांतिपूर्ण वर्षों का उसके पास अभाव रहा।

◆◆◆

बाबर और राजपूत

बाबर के हिन्दुस्तान आगमन के समय दो प्रमुख हिन्दू शासक यहाँ राज्य कर रहे थे। प्रथम - दक्षिण में विजय नगर साम्राज्य का कृष्णदेवराय (सन् 1509-1529) तथा द्वितीय -उत्तर में मेवाड़ का राणा सांगा (सन् 1508-1528)। इसके अतिरिक्त कई अन्य छोटे-छोटे हिन्दू राजा राज्य कर रहे थे जिनमें परस्पर एकता की भावना का अभाव था, वे सब आपसी वैमनस्य के चलते एक दूसरे का नुकसान होता देखना चाहते थे जिसके लिए उनमें से कोई भी विदेशी शत्रु से मिलकर षडयंत्र भी करते रहते थे।

बाबर लगभग पाँच वर्ष हिन्दुस्तान में रहा। इस अवधि में वह उत्तरी हिन्दुस्तान को जीतने के संघर्ष में लगा रहा इसीलिए न तो वह दक्षिण गया और न ही उसका कोई सम्पर्क विजयनगर साम्राज्य से बन पाया। लेकिन उत्तर में राणा सांगा के नेतृत्व में राजपूतों से उसकी जोरदार टक्कर हुई। इतिहास की कालगति ने राजपूतों को खानुवा में पराजय का मुह देखने का विवश किया लेकिन बाबर औरउसके सिपाहियों को राजपूतो की दुर्दष युद्धप्रियता, रण में कट मरने का संकल्प और जबरदस्त इच्छाशक्ति का अनुभव हो गया।

उत्तर पश्चिम हिन्दुस्तान में आठवी शती के प्रारंभ से जारी मुस्लिम हमलों का दृढ़तापूर्वक सामना राजपूतों ने ही किया। लगातार मुस्लिम हमलो ने राजपूतों के राज्य की सीमाओं को कम किया लेकिन उनके फौलादी इरादों को कम न कर सके। मुस्लिम हमलों की गति को धीमा करने में काबुल के जयपाल शाही और बाद में उसके वंशज पंजाब के आनंदपाल एवं त्रिलोचनपाल, दिल्ली के पृथ्वीराज चौहान, रणथम्भौर के हमीर देव ग्वालियर के मानसिंह तथा मेंवाड़ के बप्पा रावल राणा , हम्मीर, राणा, कुम्भा, राणा सांगा , राणा प्रताप और न जाने कितने नामचीन अनगिनत राजपूतों के असीम बलिदान की अंतहीन कड़ियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है जिनकी शौर्यगाथाएं उस काल के काले आसमान पर ओज से दमकते तारों की तरह बुलंद है।

बाबर के हमले के समय (सन् 1526)में उत्तरी हिन्दुस्तान में मेवाड़ के साथ साथ कुछ अन्य राजपूत राज्य भी थे इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :-

मेवाड़

उत्तरी हिन्दुस्तान के राज्यों में राजस्थान के मेवाड़ का स्थान सबसे अधिक

सम्मानजनक है और सभी राजपूत जातियों में गुहिल वंशी या सिसौदिया वंशी राजपूतों का स्थान सबसे ऊंचा है मेवाड़ के राजवंश का नाम घटनाओं और परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहा। प्रारंभ में सूर्यवंशी,फिर गुहिल या गुहिलोत फिर आहारिया (आटेरिया) और उसके बाद सिसौदिया के नाम से प्रसिद्ध हुए। कर्नल टाड़ के अनुसार '' ये लोग (मेवाड़ के राजा) ''राणा'' उपाधि धारी है और सूर्यवंश की बड़ी शाखा के वंशज है राम के एक पूर्वज के पीछे उन्हें ''रघुवंशी '' भी कहा जाता है। हिन्दू लोग एक स्वर से मेंवाड़ के राजाओं को राम का वैधानिक उत्तराधिकारी मानते है और उन्हें हिन्दुआ सूरज कहते है। छत्तीस राजवंशों में राणा वंश का सबसे श्रेष्ठ स्थान है और उसकी पवित्रता एवं निर्मलता में कभी किसी को कुछ कहने का साहस नहीं हो सकता।'' गुहिल का वंश की उत्पत्ति पर सभी विद्वान एकमत नहीं हैं मुस्लिम इतिहासकारों में अबुलफजल गुहिलों को विदेशीमूल का मानते है और उन्हें ईरान के बादशाह नौशेर वां आदिल का वंशज बताते है। कर्नल टाड भी इन्हें विदेशी मूल का मानते हुए उन्हें शक जाति से संबंधित बतलाते है। व्ही.ए. स्मिथ राजपूतों की उत्पत्ति पर विचार करते हुए इन्हें हुणों से जाड़े देते है जबकि जनसामान्य की मान्यता में यह राजवंश सूर्यवंशी राजा राम के पुत्र लव के वंशजों का है। जनश्रुतियों के अनुसार लव ने लोहकोट (लौहार) को राजधानी बनाकर उत्तर-पश्चिम तथा पश्चिमोंत्तर हिन्दुस्तान पर राज्य किया। लगातार विदेशी आक्रमणों से राज्य की सीमा सिकुड़ कर वर्तमान मेवाड़ तक आ गई।

लेकिन ऐतिहासिक वृंतातों और प्रमाणों से यह सिद्ध है कि इस राजवंश की स्थापना लगभग सन 566 ईसवी में गुहदत्त ने की जिससे इनके वंशज गुहिल या गुहिलौत कहलाए। इस वंश का प्रथम प्रसिद्ध राजा बप्पा रावल है। अरब आक्रमण के प्रतिरोध के कारण सी.वी. वैद्य बप्पा रावल को भारत का चार्ल्स मार्टल कहते है जिसके शौर्य की चट्टान के सामने अरब आक्रमण का ज्वार भाटा टकराकर चूर-चूर हो गया। बप्पा रावल के काल को लेकर इतिहास कारों में मतभेद है। कर्नल टाड के अनुसार इसका समय 728 ई० से 753 ई० है। श्यालदास ने अपने ग्रंथ वीर विनोद में महेन्द्र को बप्पा मानकर 713 ई० से 753 ई० काल निर्धारिण किया परन्तु ओझा इस काल निर्धारण से सहमत होते हुए भी कालभोज को बप्पा मानते है। प्रोफेसर भण्डारकर भी इस काल निर्धारण से सहमत है परन्तु वे खुम्भाण को बप्पा मानते है। ख्यातों के अनुसार बप्पा एक सौ वर्ष की आयु पूर्ण करके मृत्यु को प्राप्त हुए। ऋषि हरित के शिष्य और शिव के भक्त बप्पा ने काश्मीर , कन्धार,

इराक, ईरान, तूरान, काफरिस्ता आदि अनेक राज्यों को परास्त कर वहाँ की राजकुमारियों से विवाह किए। बप्पा ने गायनी (गजनी) के शासक सलीम को परास्त करके उसकी पुत्री के साथ भी विवाह किया। बप्पा की कुल 130 संताने थी जिनमे यवन राजकुमारियों से उत्पन्न संताने नौशेरा पठानों के नाम से विख्यात है। बप्पा का देहांत किस स्थान में हुआ (अर्थात् खुरासान में हुआ या हिन्दुस्तान में) इसे लेकर भी विवाद है। बप्पा की समाधि नागदा (मेवाड़) में एकलिंग जी (कैलाशपुरी) से एक मील की दूरी पर है।

बप्पा के उत्तराधिकारियों में भोज महेन्द्र, नाग, शिलादित्य, कालभोज के नाम मिलते है। कालभोज के पुत्र **खुम्मान प्रथम (812 ई० से 836 ई०)** ने बगदाद के खलीफा अलमामून के द्वारा चित्तौड़ आक्रमण पर उसे हराया और उसे बंदी बनाया। इसके पश्चात् मेवाड़ का पराभव काल शुरू होता है जो तेरहवी शती की शुरूआत में समाप्त होता है। यह समय राष्ट्रकूटों की शक्ति में वृद्धि का तथा प्रतिहारों व परमारों के उदय का समय था। जिसके चलते मेवाड़ का राज्य नागदा के आसपास सिमट कर रह गया और यहाँ के शासक इन शक्तियों के सहायक के रूप में सांमती भूमिका निभाते रहे। **जैत्रसिंह (1213 ईसवी -1250 ईसवी)** के मेवाड़ का शासक बनने पर गुहिलों का पुनः उत्थान शुरू होता है। जैतसिंह ने दिल्ली के सुल्तान इल्तुतमिश के विस्तारवादी आक्रमण का जोरदार प्रतिरोध कर उसे असफल कर दिया (सन् 1222 से 1229 ई०के बीच किसी समय) था। **राणा रतन सिंह (सन् 1302-1303)** के समय चित्तौड़ पर पहला सफल तुर्क आक्रमण अलाउद्दीन खिलजी ने सन् 1303 में किया था। अलाउद्दीन के समय चित्तौड़ एक महत्त्वपूर्ण राजपूत केन्द्र होने के साथ दक्षिण का द्वार भी था। इसके अतिरिक्त रानी पद्मिनी की कहानी और उसका सौन्दर्य इतिहासकारों को अलाउद्दीन के चित्तौड़ आक्रमण का आधार बनाने में मिथकीय श्रद्धा का पुट देता रहता है। 28 जनवरी 1303 ईसवी को अलाउद्दीन खिलजी एक विशाल सेना संग लिए दिल्ली से रवाना हुआ और 26 अगस्त 1303 ई० को उसने चित्तौड़ पर अधिकार किया। लगभग सात माह लम्बे चले घेरे के बाद रतनसिंह की खिलजी के द्वारा छलपूर्वक की गयी कैद और राजपूतों द्वारा रतन सिंह को वापस छुड़ाना,गोरा और बादल का बलिदान, रानी पद्मिनी और हजारों राजपूत स्त्रियों का जौहार (जो चित्तौड़ के इतिहास में पहला शाका कहलाता है) ,रतनसिंह और शेष सैनिकों का केसरिया बान पहन रणभूमि में वीरोंचित अंत का आलिंगन करना जैसी घटनाओं ने चित्तौड़

की प्रथम पराजय को ख्यातों में प्रसिद्ध कर दिया। अलाउद्दीन को पद्मिनी के स्थान पर उसकी राख मिली, उसने तीस हजार हिन्दुओं का कत्ल करके चित्तौड़ का शासन अपने पुत्र खिज्राखाँ को दिया और चित्तौड़ का नाम खिज्राबाद रखा। लेकिन अलाउद्दीन की मृत्यु (सन् 1316 ई०) के पहले ही वीर राजपूतों ने चित्तौड़ से मुसलमानों को निकाल बाहर किया। रतनसिंह के बाद गुहिलों की एक शाखा सिसौदे का **राणा हम्मीर (सन् 1326 -1367 ई०)** मेवाड़ का तैतालिसवां महाराणा बना। वह बड़ा वीर और साहसी पुरुष था। हम्मीद ने मारवाड़ के राजा मालदेव (जो उस समय दिल्ली सुल्तान की ओर से चित्तौड़ को गर्वनर था) को हराया और उसकी पुत्री से विवाह किया तथा चित्तौड़ को पुन: जीता। हम्मीद का उत्तराधिकारी **क्षेत्रसिंह (सन् 1364ई-1382 ई०)** योग्य सिद्ध हुआ और उसने अजमेर, जहाजपुर, माण्डलगढ़ और छप्पन पर अपनी प्रभुसत्ता स्थापित की तथा मालवा के सुल्तान अमीरशाह को परास्त किया। एक पारिवारिक झगड़े में क्षेत्रसिंह की सन् 1382 में मृत्यु होने के बाद उसका पुत्र लक्षसिंह उर्फ **लाखा (सन् 1382 ई०-1420 ई०)** मेवाड़ का राणा बना। उसके समय में मंदौर के राठौर नरेश रणमल ने अपनी बहन हंसा बाई का संबंध राणा के पुत्र चूण्डा से करने हेतु प्रस्ताव भेजा। इस अवसर पर लाखा के एक मजाक के कारण चूण्डा ने विवाह से इंकार कर हंसा का विवाह लाखा से कराया तथा राज्य पर अधिकार इस विवाह के बाद उत्पन्न मोकल के लिए छोड़ दिया। **मोकल (सन् 1420ई० -1433ई०)** ने सन् 1428 ई०से नागौर के मुस्लिम नवाब फिरोज खाँ को हराकर उसकी सारी सेना नष्ट कर दी।

मोकल के बाद उसके पुत्र **महाराणा कुम्भा (सन् 1433 ई० 1468 ई०)** का मेवाड़ की गद्दी पर बैठना एक प्रकार से मेवाड़ की प्रतिष्ठा के नक्षत्र के उदयकाल का आव्हान था। कुम्भा ने अनेक दुर्ग बनवाये, जिनमें कुम्भलगढ़ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रसिद्ध है तथा मालवा गुजरात के सुल्तानों को हराकर मेवाड़ को उत्तरी हिन्दुस्तान के शक्तिसंतुलन की धुरी बना दिया। महाराणा कुम्भा ने मालवा के सुल्तान महमूद खिलजी को न सिर्फ हराया बल्कि उसे कैद कर छै माह चित्तौड़ दुर्ग में रखा। इस महान विजय की स्मृति में कुम्भा ने चित्तौड़ दुर्ग में विजय स्तम्भ का निर्माण किया। कुम्भा अनेक विषयों यथा संगीत, नाट्यशास्त्र, वेद, स्मृति मीमांसा, राजनीति, गणित, व्याकरण और तर्कशास्त्र का अच्छा ज्ञाता था और बड़ी ही सुन्दर काव्यरचना करता था। ऐसे प्रतापी और विद्वान शासक की

दुर्भाग्यपूर्ण हत्या उसके ही पुत्र ऊदा (उदयकरण) द्वारा सन् 1468 ई० से कर दी गई।

ऊदा की महत्त्वाकांक्षा में संकुचितता और अनुदारता थी जिसे स्वाभिमानी राजपूत सामन्त सहन नहीं कर सके। उन्होने निश्चय किया कि ऊदा को हटाकर राणा कुम्भा के छोटे पुत्र रायमल को राज्य दिया जाए। रायमल और उदयकरण के बीच चारों युद्धों (दाड़िमपुर, जावी, पानगढ़ और चित्तौड़) में ऊदा की हार हुई और **रायमल (सन् 1474 ई०-सन् 1508)ई०** ने मेवाड़ की गद्दी संभाली। ऊदा के दो लड़के संहसमल और सूरजमल दिल्ली चले गए। दिल्ली का सुल्तान बहलोल लोदी इन दोनों को लेकर मेवाड़ पर चढ़ आया। धासा नामक स्थान पर जोरदार युद्ध हुआ जिसमें रायमल विजयी रहा। रायमल ने मालवा और गुजरात के सुल्तानों से संघर्ष जारी रखा। रायमल ने मालवा के सुल्तान गयासुद्दीन को कई बार हराया और उसके उत्तराधिकारी नासिरशाह को सन् 1503 में हराकर उससे दण्ड वसूला। रायमल अपनी वंश परम्परा के अनुसार अपने शत्रुओं से निरंतर संघर्षरत रहा परन्तु उसके अपने पुत्रों तथा भाई भतीजों के परस्पर विरोध ने राज्य को निर्बल कर दिया। दिल्ली की कमजोर स्थिति होने के कारण इस समय मेवाड़ पर कोई गंभीर संकट नहीं आया।

राणा रायमज के तरह पुत्रों में से तीन सांगा, पृथ्वीराज और जयमल महापराक्रमी थे। मेवाड़ के दुर्भाग्य से तीनों के मध्य गंभीर तनाव उत्पन्न हो गया। बाद में पृथ्वीराज और जयमल की अलग-अलग घटनाओं में मृत्यु हो जाने के पश्चात् रायमल ने राणा सांगा को अपने पास बुला लिया। **महाराणा सांगा (सन् 1509ई०-1528 ई०)** इस वंश में 16 वी शती के पूर्वार्ध का सबसे प्रबल और प्रतापी राजा था। महाराणा सांगा का कद मंझोला और शरीर हष्ट पुष्ट था। उनके बड़े नेत्र, गौर वर्ण, छोटा माथा जिसमें कूटनीति और बौद्धिक क्षमता कूटकूट कर भरी थी ये सब मिलाकर एक प्रभावशाली व्यक्तित्व का निर्माण करते थे। विभिन्न युद्धों में कई अंग-प्रत्यंग गंवा बैठे सांगा के शरीर में अस्सी घावों के निशान थें। एक आंख सहोदर पृथ्वीराज के साथ झगड़ में चली गई, इब्राहिम लोदी के विरुद्ध लड़े युद्ध में उसका एक हाथ कट गया तथा एक अन्य युद्ध में तोप का गोला फटने से एक पैर अलग हो गया। मालवा के सुल्तान महमूद खिलजी द्वितीय को परास्त कर बंदी बनाकर तथा रणथम्भौर का किला जीतकर अपूर्व पराक्रमी राणा सांगा का यश चारों और फैल गया। राणा सांगा के द्वारा दिल्ली के सुल्तान इब्राहिम लोदी को

सन् 1517 में खतौली के युद्ध में तथा पुन: धौलपुर के युद्ध में पराजित कर दिए जाने के बाद सारे राजपूत राजाओं ने राणासांगा का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया था। बाबर के साथ हुए खानुवा के युद्ध (1527) में सांगा पहली और आखरी बार हारा जबकि इसके पूर्व के सभी अठारह हमलों में खुद राणा सांगा ही जीतते रहे। इस युद्ध में राणा की ओर से 80000 घुड़सवार, उच्च पद वाले सात राजा, नौ राव, 104 रावल और रावत उपाधिधारक सरदार, पाँच हजार हाथी मैदान में उतरे थें। खानुवा का युद्ध हारने के बाद राणा सांगा हिम्मत नहीं हारे थे और उनकी तैयारी बाबर के विरुद्ध निरन्तर थी। 30 जनवरी 1528 को राणा सांगा का अचानक स्वर्गवास हो जाने पर उनके शरीर का अंतिम संस्कार माण्डलगढ़ में किया गया।

मारवाड़

राजस्थान का एक अन्य महत्त्वपूर्ण राज्य मारवाड़ था जिसकी राजधानी जोधपुर था। मारवाड़ पर राठौर राजपूतों का शासन रहा जो प्राचीन राष्ट्रकूटों के वंशज थे। मारवाड़ का आधुनिक इतिहास चुंद या राव चूंडा से प्रारंभ माना जाता है जिसने सन् 1394 ईसवी से 1421 ईसवी तक शासन किया। ख्यातों के अनुसार राठौर वंश की उत्पत्ति श्रीराम के पुत्र कुश से हुई और वे सूर्यवंशी हैं। गाधीपुर अर्थात् कन्नौज राठौरों का आदिस्थान माना जाता है। मुहम्मद गोरी के हमले में पहले दिल्ली के तोमर राजा पृथ्वीराज चौहान (सन् 1193 ई०) की पराजय हुई और फिर कन्नौज के राजा जयचंद (सन् 1193 ई०) की पराजय हुई और इनके राज्यों का पतन हुआ। जयचंद का पौत्र सियाजी (या सीहा) जानबचाकर मारवाड़ आ गया और उसने पाली में इस वंश की नींव रखी। राव सीहा के तीन पुत्र थे आस्थान, सोनक और अज। आस्थान ने पाली से 70 मील पश्चिम में स्थित खेड़ नामक कस्बे को अपनी राजधानी बनाया। राव सीहा के बाद प्रथम दस राठौड़ राजाओं में से छै मुसलमानों के साथ युद्ध करते हुए मारे गए और शेष चार अन्य राजपूतो के साथ लड़ते हुए मृत्यु को पाप्त हुए। दसवे राजा के समय वे पाली और खेड़ में शासन करते थें तथा उनका राज्य जैसलमेर की सीमा से लगा हुआ था।

इस वंश का ग्यारहवां नरेश राव चूंडा (या चुंद) हुआ। **राव चूडा (सन् 1394 ई० -सन् 1421 ई०)** इस वंश का पहला महत्त्वपूर्ण राजा था। मंदौर के परिहार राजा ईदा ने अपनी पुत्री का विवाह राव चूंडा से करके उसे मंदौर दहेज में दे दिया। एक बार मंदौर में स्थापित हो जाने के बाद राव चूंडा ने पाली और खेड़ के अलावा नागौर, नाडौल, खाटू, डीडवाना, सांभर और अजमेर पर भी कब्जा कर

लिया। राव चूंडा के चौदह लड़को में पहले कान्ह और फिर सत्ता उसकी गद्दी पर बैठा। भाईयों के बीच छै साल के झगड़े के बाद राव चूंडा का सबसे बड़ा पुत्र **रणमल सन्** (1427 ई० सन् 1438 ई०) उसका उत्तराधिकारी बना। राव चूंडा की एकमात्र पुत्री हंसा का विवाह मेवाड़ के राणा लाखा से हुआ था। राणा लाखा की मृत्यु के बाद अपने अल्पवयस्क भानजे राणा मोकल के हितों की रक्षा करने के लिए राव रणमल उसका संरक्षक बन कर चित्तौड में रहने लगा और वही से मारवाड़ के राज्य का संचालन करता रहा। यह मानकर कि रणमल मेवाड़ में अपना प्रभुत्व जमाकर अपना शासन स्थापित करना चाहता है, मेवाड़ में एक षडयंत्र के अन्तर्गत पंलग से बांधकर उसकी हत्या सन् 1438 कर दी गई।

राव रणमल का उत्तराधिकारी **रावजोधा सन्** (1438 ई० सन् 1488 ई०) हुआ, जो इस वंश का एक प्रतापी राजा सिद्ध हुआ। जोधा ने सन् 1449 ई० में जोधपुर नगर की नींव रखी , जोधपुर का किला बनवाया और उसे अपनी राजधानी बनाया। जोधा ने एक अन्य महत्त्वपूर्ण किला मंदौर में बनाया। जोधा ने अपने चौदह पुत्रों के साथ राज्य की सीमा चारों ओर बढ़ाई। **उसके छठवें पुत्र बिक्का ने सन् 1464 ई० के लगभग आधुनिक बीकानेर राज्य की नीवं रखी।** राव जोधा के बाद उसका तीसरा पुत्र सातल गद्दी पर बैठा। शीघ्र ही अजमेर का सुबेदार मल्लूखाँ जोधपुर पर चढ़ आया, कोसाना के पास हुए युद्ध में मल्लू खाँ पराजित होकर भाग गया लेकिन सातल (जो बुरी तरह घायल हुआ) ने उसी रात प्राण त्यागे। सातल के बाद उसका बड़ा भाई और जोधा का द्वितीय पुत्र सूजा या **राव सूरजभान सन्** (1488 ई० - सन् 1515 ई०) ने मारवाड़ का राज्य सताईस वर्षों के लिए संभाला।

सूजा की मृत्यु के बाद उसका पोता गांगा सन् 1515 ई० में जोधपुर की गद्दी पर बैठा। **राव गांगा (सन् 1515 ई०-सन् 1531 ई०)** मेवाड़ के राणा सांगा का प्रबल समर्थक और सहयोगी था, तथा बाबर का समकालीन था। जब राणा सांगा की गुजरात के सुल्तान से लड़ाई हुई तो राव गांगा ने राणा की सहायता की। खानुवा की लड़ाई (1527 ई०) में राव गांगा ने राणा सांगा का साथ दिया था और अपने 4000 सैनिक भेजे थे। रांव गांगा का बाद में अपने बड़े भाई बीरम से बड़ा झगड़ा हुआ जिसके बड़े दुष्परिणाम हुए। एक दिन गांगा महलकी खिड़की पर बैठा ऊंध रहा था, अचानक गिर पड़ने से उसका देहांत (1531 ई०) हो गया।

उसका उत्तराधिकारी **मालदेव (सन् 1531 ई० सन् 1562)** मारवाड़ का सर्वाधिक प्रतिष्ठित नरेश हुआ। " मारवाड़ के इतिहास में मालदेव का उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान है जितना मेवाड़ के इतिहास में राणा सांगा या प्रताप का है। "मालदेव को आंतरिक वैमनस्य और विदेशी आक्रमणकारियों दोनों से एक साथ जूझना पड़ा। अपने 31 वर्षीय शासनकाल में राव मालदेव ने जिस तरह अपने राज्य का विस्तार करते हुए उसे सुदृढ़ बनाया, उससे वह इतिहास में अमर हो गया। सन् 1531 में मालदेव जब मारवाड़ की गद्दी पर बैठा तो जोधपुर के अतिरिक्त उसके राज्य में सोजत और मंदौर सम्मिलित थे। उसने सांभर, बीकानेर, पोकरण , बाड़मेर, टोंक, अजमेर समेत 48 जिलों में विजय प्राप्त की। मालदेव ने सन् 1536 ई में जैसलमेर के रावल लूनकरण की बेटी राजकुमारी उमादे से विवाह किया लेकिन जल्द ही पति पत्नि में अनबन हो गयी और उमादे पति से अलग अजमेर में रहने लगी। सन् 1544 में शेरशाह सूरी ने जोधपुर पर आक्रमण किया। राव मालदेव की प्रबल सैन्य शक्ति के आंकलन पर शेरशाह की फौज में घबराहट फैल गई। शेरशाह ने युक्तिपूर्वक मालदेव और उसके विश्वस्त सामंतो जेता और कूंपा के मध्य मतभेद और शंका उत्पन्न कराई। फलस्वरूप 4 जन सन् 1544 ई को मालदेव ने जोधपुर की वापसी का रास्ता पकड़ा। शेष बची सेना (12000 घुड़सवार) ने जेता और कूंपा के नेतृत्व में शेरशाह से **सामेल के युद्ध (5 जन् 1544)** में वीरतापूर्वक लड़े और परास्त हुए। युद्ध समाप्ति पर शेरशाह सूरी ने कहा था कि " मुट्ठी भर बाजरे के लिए मैने हिन्दुस्तान की बादशाहत खो दी होती।" सामेल के युद्ध का सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि इसके साथ राजपूतों के वैभव और स्वतंत्रता का अध्याय समाप्त हो जाती है। मालदेव की इस पराजय के साथ ही राजस्थान ने अपनी स्वतंत्रता खो दी।

बीकानेर

बीकानेर मारवाड़ की ही एक शाखा है और इस राज्य की स्थापना मारवाड़ के प्रसिद्ध शासक राव जोधा के पुत्र बीका ने सन् 1464 ई०के लगभग की थी। बीका ने मारू के रेतीले मैदानों में राठौड़ों के प्रभुत्व की सीमाओं का विस्तार किया। मोहिलो, पूंगल के भारियों, गोदारों आदि को जीतने के बाद बीका ने जोटियाजाटों के क्षेत्र को जीता। भाटियों से छीन गए बागौर क्षेत्र में सन् 1488 ई० में (वैशाख मास के पन्द्रहवे दिन सवंत् 1545) को बीका ने अपनी राजधानी बीकानेर की प्रतिष्ठा की थी। कर्नल टॉड बीका की मृत्यु सन् 1495 ई एवं गोपीनाथ शर्मा

सन् 1504 ई मानते है। बीका के बाद उसका पुत्र राव नरा ने कुछ दिनों शासन किया। राव नरा की मृत्यु के बाद बीका का छोटा पुत्र राव लूनकरण सन् (1504-1526) शासक बना। लूनकरण के बाद उस का छोटा लड़का रावजेतसी (सन् 1526 ई०-1542 ई०) बीकानेर का राजा बना। राव जेतसी के समय में जोधपुर के राव मालदेव ने इस राज्य पर आक्रमण करके सन् (1542) ई इसे मारवाड़ में मिला गया था। राव जेतसी के बाद उसका पुत्र कल्याणमल बीकानेर राज्य की वापसी के लिए राव मालदेव से निरंतर संघर्षरत रहा था। कल्याणमल का लड़का महाराजा रायसिंह (सन् 1574 ई० सन् 1612 ई०) बीकानेर की गद्दी पर बैठा और इस वंश का दूसरा सर्वश्रेष्ठ शासक बना।

जैसलमेर

जैसलमेर नगर ओर इसी नाम से राज्य की स्थापना मध्यकाल में की गई। इसके शासक यदुवंशी भाटी राजपूत थे जो चंद्रवंशी माने जाते रहे। भारत के उत्तर पश्चिम सीमा पर स्थित जैसलमेर के शासकों ने मध्यएशिया से सिंध के रास्ते होने वाले मुस्लिम आक्रमणों का वीरतापूर्वक सामना किया और मध्यकालीन भारतीय इतिहास में अपनी महत्त्वपूर्ण जगह बनाई। निरंतर मुस्लिम आक्रमणकारियों को रेगिस्तान के मार्ग से भारत में प्रवेश करने से रोकने के कारण यहाँ के भाटी शासकों को ''उत्तर भड़किवाड़ भाटी'' की उपाधि से सुशोभित किया गया था। सल्तनत काल में भी भाटी राजपूतों ने अलाउद्दीन खिलजी और मोहम्मद तुगलक के आक्रमणों को वीरतापूर्वक मुकाबला किया था। मुग़लकाल में भी यहाँ के शासक अपनी स्वतंत्रता के लिए निरंतर संघर्षशील रहे।

''कर्नलटाड के अनुसार'' जैसलमेर नगर की स्थापना रावल जैसल द्वारा सावन वदि 12 रविवार को विक्रम संवत 1212 (सन्1156 ई०) में की गयी थी। परन्तु आधुनिक इतिहासकारों यथा डॉ० गोपीनाथ शर्मा, डॉ० दशरथ शर्मा, जगदीश सिंह गहलोत इत्यादि के विश्लेषण से यह सहज निष्कर्ष बनता है कि रावल जैसल द्वारा लौद्रवा को सन् 1175ई में जीता गया और जैसलमेर नगर की स्थापना उसी के लगभग की गई। जैसल ने कई विजय अभियान किए और अपने राज्य की सीमाएं उत्तर में भटनेर, पश्चिम में सिंधनदी, दक्षिण में गुजरात की उत्तरी सीमा एवं पूर्व में मंदौर तक पहुँचा दी। जैसल के जीवन के उत्तरार्ध में उसके राज्य पर बलोचों का हमला एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। भाटियों की पिछली चार पीढ़ियों के दुश्मन बलोचों को जैसल ने खुहड़ी ग्राम में हराया और विजय स्मृति में जैसलमेर नामक

तालाब भी बनवाया। जैसल की शासन अवधि 15 वर्ष मानी गई जिसके आधार पर उसकी मृत्यु सन् 1190 ई मानी जाती है।

रावलजैसल के बाद उसका द्वितीय पुत्र **शालीवाहन द्वितीय (सन् 1190 ई० सन् 1200ई)** उत्तराधिकारी हुआ। इसका पहला विजय अभियान काठी जाति के विरुद्ध हुआ जो उत्तरी गुजरात की सीमा पर निवास करती थी। जैसल द्वारा शुरू किए गए जैसलमेर दुर्ग को पूरा करने का श्रेय भी शालीवाहन द्वितीय को है। इस किले के मुख्य द्वार के बुर्ज को शालीवाहन बुर्ज के नाम से जाना जाता है। खिज्रखाँ बलोच के हमले का प्रतिरोध करते हुए शालीवाहन द्वितीय अपने दीवान मेहता मूलचंद के साथ यहीं मारा गया था। इसका उत्तराधिकारी इसका बड़ा भाई कालण या कल्याण रावल जैसल का ज्येष्ठ पुत्र था जिसे जैसल ने निर्वासित कर दिया था। सांमतों ने **राव केलन (सन् 1200 से 1219 ई०)** को वापस बुलाकर जैसलमेर की गद्दी पर बिठाया। रावल केलन ने बलोच आक्रमणकारी खिज्रखाँ को धमासान युद्ध में परास्त कर किया जिसमें खिज्रखाँ मारा गया। रावल केलन की मृत्यु के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र **रावल चाचगदेव (सन् 1219 ई सन् 1251 ई०)** ने जैसलमेर की उत्तरी पश्चिमी सीमा पर विद्रोह करने वाले चन्ना राजपूतों पर हमलाकर उन्हे अपने अधीन किया, सोढ़ा राजपूतों के अमरकोट दुर्ग को जीता तथा खेड़ा के राठौरों को परास्त किया। रावल चाचगदेव का एकमात्र पुत्र तेजराव की चाचग के जीवन काल में ही मृत्यु हो गयी थी। अत: उसने अपने पौत्र करण (कर्ण सी या कर्ण सिंह) को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। **रावल करण (सन् 1251ई० -1283 ई०)** ने नागौर के सुबेदार मुजफ्फर खाँ को हराकर वाराह राजपूत भगवतीदास की जागीर वापस कराई और उसकी राजकुमारी सहित अनेक स्त्रियों को मुक्त कराकर वापस सौंपा (सन् 1252 ई०)। इस समय दिल्ली में नासिरूद्दीन मुहम्मद का शासन था और नागौर उसका एक सुबा था। रावल जैतसिंह प्रथम (सन् 1284-सन् 1300 ई०) रावल लखण सेन (सन् 1300-सन् 1304) ई० एवं रावल पुण्यपाल (सन् 1304 ई०-सन् 1313 ई०) का कार्यकाल जैसलमेर राज्य की आंतरिक उथल पुथल का काल रहा। **रावल जैतसिंह द्वितीय (सन् 1305 ई०-सन् 1313 ई०)** रावल चाचगदेव का पौत्र था जिसे सांमतों ने गुजरात से बुलाकर जैसलमेर का शासक बनाया था। जैतसिंह द्वितीय ने भाटियों की शक्ति को पुन: संगठित किया और पड़ोसी राज्यों के साथ-साथ सिंध और मुलतान तक धावा मारा। रावल जैतसिंह द्वितीय के समय में अलाउद्दीन खिलजी

की सेनाओं ने जैसलमेर दुर्ग पर घेरा डाला। घेरे के दौरान जैतसिंह की मृत्यु हो जाने पर उसका पुत्र **रावल मूलराज (सन् 1313 ई०-1314-15 ई०)** ने दुर्ग के अंदर रहकर रक्षात्मक रणनीति का पालन करते हुए युद्धजारी रखा। लगभग 6 वर्ष तक चले इस घेरे में जैसलमेर दुर्ग की रसद खत्म कर दी, किले में जौहर हुआ और भाटी राजपूतो ने रावल मूलराज और उसके भाई रलसी के नेतृत्व में मृत्युपर्यत युद्ध किया। खिलजी की सेना ने दुर्ग में ताला लगा दिया। निर्जन दुर्ग पर **रावल दूदा सन् (सन् 1319 ई -1331 ई)** ने अधिकार किया। दिल्ली की फौज ने फिर घेरा डाला और रावल दूदा और उसका भाई तिलोकसी के नेतृत्व में जैसलमेर के भाटियों ने दूसरा "शाका" किया। तुर्कों के हाथ सिवा राख के कुछ नहीं लगा। **रावल घडसी सन्(1343-1361ई०)** जो रावल मूलराज के भाई रत्नसी का लड़का था, ने जैसलमेर की अराजक स्थिति को समाप्त कर उसे पुनः आबाद किया और अपनी कीर्ति को अमर रखने के लिए घड़सीसार नामक विशाल जलाशय का निर्माण किया। रावल घड़सी का राज्य दक्षिण में बाड़मेर, कोटडा, उत्तर मे महेबे, पश्चिम में पारकर तथा पूर्व में बिठनोक तक था। रावल घड़सी की धोखेधड़ी से की गई हत्या के बाद उसकी रानी विमला ने जैसलमेर की बागडोर 6 माह तक अपने हाथ में रखी जो मध्ययुग में राजपूत महिला के अदम्य साहस की अभिव्यक्ति है। **रावल केहर (सन् 1361 ई०-1391 ई०)** रावल मूलराज के लड़के देवराज और मंदौर के राव रूपड़ा की लड़की का पुत्र था। इसके शासन काल में जैसलमेर की सीमाएं सिकुड़ गयी। उसके स्वयं के पुत्र कैलण के मुलतान के शासक की सहायता से राज्य के पश्चिम और उत्तर के भू-भाग जीत कर जैसलमेर से 12 कोस पर नई राजधानी निर्माण के आख्यान मिलते है। **रावल लक्ष्मण (सन् 1396 ई० -1436 ई०)** के समय जोधपुर के राठौर राव रणमल्ल के जैसलमेर पर कई आक्रमण हुए (सन् 1428-1438 ई०)। **रावल बैरसी या बैरसिंह (सन् 1436 ई -1446 ई)** ने राठौर राव रणमल्ल की मेवाड़ में हत्या के बाद उसके पुत्र जोधा को शरण दी थी और उसे सैनिक सहायता देकर राठौरों की राजधानी मंदौर की पुनः प्राप्ति में सहयोग किया था। रावल बैरसी की मृत्यु होने पर उसका पुत्र चाचोजी या **रावलचाचगदेव द्वितीय (सन् 1446 ई०-1470 ई०)** जैसलमेर की गद्दी पर बैठा। उसके समय दिल्ली में सैय्यदों का पतन और लोदी वंश का अभ्युदय हुआ। अमरकोट के सोढ़ा राजपूत राणा प्रताप ने इन्हें अपनी कन्या जामकुंवर से विवाह करने का निमंत्रण देकर धोखे से इनकी हत्या कर दी।

उसके पुत्र **रावल देवीदास (सन्1470ई०-सन् 1506 ई०)** ने अमरकोट पर विजय प्राप्त कर किले को नष्ट कर दिया और किले की ईंटों जैसलमेर में कर्ण महल बनवाया। रावल देवीदास के बीकानेर के संस्थापक राव बीका से भी युद्ध के उल्लेख मिलते है। देवीदास वीर राजा था उसने चन्ना राजपूतों और बलोचों को परास्त किया तथा बाड़मेर और कोटड़िया के राठौरों को हराकर उन भू-भागों को राज्य में मिला गया। रावल देवीदास ने लगातार तुर्क हमलों से छिन्न भिन्न जैसलमेर को पुनः सगठित किया और सीमाओं का विस्तार किया। प्राप्त जानकारियों के अनुसार उसका राज्य दक्षिण में अमरकोट, पश्चिम में देरावर-पुगल, उत्तर में भटनेर एवं पूर्व में बीकमपुर तक विस्तृत था। देवीदास की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी जैतसी या **रावल जैत सिंह तृतीय (सन् 1506-1527 ई०)** के शासनकाल की प्रथम प्रमुख घटना नवनिर्मित राज्य बीकानेर के राव लुणकरण का आक्रमण था। इस आक्रमण की पराजय ने जैतसिंह को न केवल शक्तिहीन किया वरन् उसे एक कमजोर शासक के रूप में प्रतिपादित किया।

जिस समय बाबर दिल्ली के सुल्तान इब्राहिम लोदी और मेवाड़ के राणा सांगा को परास्त करने के बाद दिल्ली में अपने साम्राज्य की स्थापना कर रहा था, उस समय जैसलमेर की गद्दी पर **रावलूणकरण (सन् 1528ई० -1550 ई०)** बैठा था। रावल लूण करण अपने पिता से नाराज होकर कंधार चला गया जहाँ के शासक अलीखाँ का पगड़ी बदल भाई हो गया था रावल ज़ैतसी की मृत्यु होने पर जैतसी के दूसरे पुत्र कर्मसिंह के गद्दी पर बैठने की खबर मिलने पर लूणकरण 800 कंधारी सैनिकों के साथ जैसलमेर पहुँचकर कर्मसिंह को हटाकर स्वयं गद्दी पर बैठा। रावल लूण करण का 22 वर्षों का शासन काल शांतिपूर्वक बीता क्योंकि उस समय दिल्ली की गद्दी के लिए मुग़लों और अफगानों का संघर्ष चल रहा था। इसके अतिरिक्त जैसलमेर के आसपास ऐसा कोई शक्तिशाली राज्य नहीं था जिससे उसका संघर्ष होता। उसने राजनीतिक चतुराई का परिचय देते हुए मारवाड़ के शक्तिशाली राठौर राजा मालदेव से एक-एक कर अपनी दो पुत्रियों का ब्याह करके उसे जीवन पर्यंत मित्र बनाये रखा। अपने अंतिम समय में रावल लूणकरण ने अपने मित्र और कंधार के शासक अलीखाँ को राजनीतिक शरण दी थी। बाद में अलीखाँ ने एक षडयंत्र रचकर जैसलमेर पर कब्जा करना चाहा। फलस्वरूप हुए संघर्ष में रावल लूण करण अपने चार भाईयों और तीन पुत्रों सहित मारा गया। इधर भाटियों ने सम्मान रक्षा के लिए रविवास की सभी स्त्रियों को अपनी ही तलवार से

काट डाला। खबर पाकर लूणकरण के ज्येष्ठ पुत्र रावल मालदेव ने अलीखाँ को मारकर जैसलमेर को मुक्त कराया।

आमेर

आमेर राज्य पर जिसे आजकल जयपुर कहते हैं, में कछवाहा राजपूतों का शासन रहा है। कर्नल टॉड के मतानुसार कछवाहा या कुशवा वंश की उत्पत्ति राजा राम के छोटे पुत्र कुश से हुई थी। कुश की अनेक पीढ़ियों बाद उस वंश के राजा नल ने सन् 295 ई०में नटवर अथवा निषध नामक नगर बसाया और उसे अपनी राजधानी बनाया। राजा नल से तैंतीस पीढ़ियों बाद सोड़ासिंह के पुत्र धोलाराय (ढोला)को पैतृत राज्य से निकाल दिया गया था। इसी ढोला या **राजा धोला राय ने दुढांड राज्य (आमेर) की स्थापना सन् 967 ई०** में की और खोह गांव को राजधानी बनाया। दौसा के बडगुजर राजा ने धोलाराय को न सिर्फ अपनी पुत्री ब्याही बल्कि दौसा का राज्य भी अपने दामाद को दे दिया। शक्ति बढ़ने पर उसने माची के राजा नाटू मीना को परास्त किया और अपनी राजधानी खोह से हटाकर माची ले आया। ढोला ने माची में एक दुर्ग निर्माण करके उसका नाम रामगढ़ रखा। ढोला को मीना लोगों ने मार गिराया। उसकी पत्नि मारूनी ने कुछ समय बाद एक पुत्र काकिल को जन्म दिया। काकिल से लेकर पजून तक कछवाहा राजपूतो और मीणाओं के निरतर संघर्ष के साक्ष्य मिलते है। पजून बारहवी शताब्दी के अंतिम दशकों में आमेर का राजा था और उसने अपनी बहन अजमेर और दिल्ली के चौहानशासक पृथ्वीराज को ब्याही थी। पजून संयोगिता अपहरण कांण्ड के समय कन्नौज की सेना से लड़ते हुए मारा गया था। पजून राय की मृत्यु के बाद उसका पुत्र मलैसी उत्तराधिकारी हुआ। मलैसी के बाद एक-एक करके ग्यारह राजा आमेर की गद्दी पर बैठे जिनमें ग्यारहवां पृथ्वीराज महत्त्वपूर्ण है।

आमेर नरेश पृथ्वीराज ने खानुवा के युद्ध (सन् 1527) में मेवाड़ के महाराजा सांगा के सामंत के रूप में बाबर की सेना से दो दो हाथ किए थे। पृथ्वीराज की मृत्यु (सन् 1527) के बाद उसका छोटा पुत्र पूर्णमल आमेर का राजा बना, इस घटना में पूर्णमल की मां बालाबाई (जो बीकानेर के राव लूणकरण की पुत्री थी) का हाथ था। नाराज भीमदेव (जो पृथ्वीराज का बड़ा लड़का था) ने मौका पाते ही पूर्णमल को हटाकर सन् 1533 में आमेर की गद्दी पर बैठा यही से आमेर राज्य के गृहकलह की शुरूआत होती है। भीमदेव की सन् 1536 ई० में मृत्यु हो जाने के पश्चात् उसका पुत्र रत्नसिंह आमेर की गद्दी पर बैठा, जो एक ऐयाश और

राजकाज से विरत रहने वाला व्यक्ति था। वह शेरशाह की बढ़ती हुई शक्ति का मुकाबला करने में असमर्थ था। फलतः उसने शेरशाह की अधीनता स्वीकार कर ली। रत्नसिंह को उसके चाचा सांगा (जिसने सांगानेर की स्थापना की) का छोटा भाई भारमल ने एक षडयंत्र रचकर विष पिलाकर मार डाला और रत्नसिंह के छोटे भाई आसकरण को आमेर की गद्दी पर बिठाया। शीघ्र ही सामंतों को अपने पक्ष में करके भारमल नें सन् 1547 ई० में आसकरण से गद्दी छीन ली। आसकरण ने आमेर की गद्दी की पुनः प्राप्ति के लिए शेरशाह सूरी के पुत्र सलीम शाह की सहायता से आमेर पर हमला किया। लेकिन भारमाल की कूटनीति ने सलीमशाह के सिपहसालार हाजीखाँ पठान को रिश्वत देकर अपने पक्ष में कर लिया और आसकरण को संतुष्टि के लिए नरवर का राज्य दिया। इसी भारमल ने प्रथम राजपूत शासक के रूप में सन् 1562 में अकबर की अधीनता को स्वीकृति प्रदान की थी।

अन्य राजपूत राज्य

बूंदी

वीरहाड़ा राजपूतों के क्षेत्र "हाड़ावाटी" या हाड़ौती में आज दो राज्य हैं - एक बूंदी और दूसरा कोटा। पहले दोनों राज्य मिलकर एक थे। लगभग चार सौ वर्ष पूर्व हाड़ाओं की कनिष्ठ शाखा ने मूलशाखा से पृथक होकर कोटा राज्य की स्थापना की। इन दोनों राज्यों की विभाजन रेखा चम्बल नदी है।

बूंदी राज्य का संस्थापक राव देवा को माना जाता है जिसने सन् 1342 ई० में मीणाजाति से बूंदी नाल क्षेत्र छीनकर बूंदी राजधानी की प्रतिष्ठा की। हाड़ाओं ने अपनी स्वतत्रंता कायम रखते हुए मेवाड़ की गद्दी की सर्वोच्चता सदैव स्वीकार की। बूंदी के नए राजा को तिलक लगाने का अधिकार मेवाड़ के राजा को ही था। शहाबुद्दीन गोरी के हमले (सन् 1191 ई०) से ही हाड़ाओं ने निरंतर मुस्लिम शासकों के विरुद्ध लड़ाईयां लड़ी। गोरी के समय दिल्ली के चौहान राजा पृथ्वीराज के नेतृत्व में और बाद में मेवाड़ के राणाओं के नेतृत्व में उन्होने अपूर्व वीरता का प्रदर्शन किया। खानुवा के युद्ध में बूंदी के नारायण दास हाड़ा ने राणा सांगा की सेना के वाम पार्श्व में रहकर बाबर की सेना से लड़ाई लड़ी थी। बत्तीस वर्षों के शासन के उपरांत नारायणदास हाड़ा का पुत्र सूरजमल हाड़ा उसका उत्तराधिकारी बना। सूरजमल हाड़ा और मेवाड़ के राणा रत्नसिह की आपस में अनबन हुई जिसकी

परिणति बूंदी के अहेरिया उत्सव में ये दोनों एक दूसरे के शस्त्र से मारे गए। परन्तु राव अर्जुन हाड़ा ने इस शत्रुता को भुलाकर मेवाड़ के राणाओं का मुस्लिम आक्रांताओं के विरुद्ध साथ दिया। गुजरात के बहादुरशाह ने जब चित्तौड़ पर हमला किया (सन् 1533 ई०) तब उस समय अत्यधिक पराक्रम का प्रदर्शन करके चित्तौड़ की रक्षा के लिए हाड़ा सरदार राव अर्जुन ने प्राण न्यौछावर किए थे। अर्जुन के चार पुत्रों में से सबसे बड़ा राव सुरजन हाड़ा (सन् 1533ई-1585 ई०) उसका उत्तराधिकारी हुआ। इसके साथ ही बूंदी के एक नए युग की शुरूआत हुई। राव सुरजन ने बाद में अकबर की अधीनता स्वीकारी (सन् 1569)।

डूगंरपुर

खानुवा के युद्ध में डूंगरपुर का रावत उदय सिंह (सन् 1498-1527 ई०) अपने पुत्र जगपाल के साथ राणा सांगा की ओरसे बाबर की सेना से लड़ा और वीरगति पाई थी। उसके पोते आसकरण (सन् 1549-1580 ई०) ने अन्य राजपूत राजाओं की भांति अकबर की अधीनता स्वाकार कर ली।

बांसवाड़ा

डूंगरपूर की ही भांति बांसवाड़ा के शासक भी परिस्थितियों के अनुसार अपना संबंध गुजरात, मालवा, मेवाड़ और मुग़लों से बनाते रहे। राणा सागां के पक्ष में खानुवा का युद्ध लड़ने वाले बांसवाड़ा के शासकों ने बाद में अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली।

देवलिया - प्रतापगढ़

देवलिया - प्रतापगढ़ के शासक प्रारंभ में मेवाड़ के ही साथ रहे। सूरजमल (सन् 1473-1530 ई) का पुत्र बाघसिंह खानुवा के युद्ध में राणा सांगा की ओर से बाबर से लड़ा। बाद में यहाँ के शासकों ने भी मुग़लों की अधीनता स्वीकार कर ली।

राजपूत राज्यों का क्षेत्रविस्तार

सन् 1388 ई० में दिल्ली के सुल्तान फिरोज तुगलक की मृत्यु के पश्चात् दिल्ली सल्तनत की नींव हिल गयी थी और सन् 1398 ई० में तैमूर के हमले ने सल्तनत शासन को आखरी धक्का दिया। सन् 1398 ई से सन् 1526 ई० तक का समय उत्तरी हिन्दुस्तान में हिन्दू (राजपूत) शासकों के पुनरूथ्थान और राज्य विस्तार का समय था। प्रमुख हिन्दू शासकों का राज्य विस्तार इस प्रकार हुआ।

मेवाड़

राणा कुम्भा (सन् 1433 ई०-1468 ई) मेवाड़ का राज्य विस्तार राणा कुम्भा के राज्यारोहण (सन् 1433 ई०) के साथ प्रारंभ होता है। " मेवाड़ के इतिहास ने उत्थान और पराभव के अनेक काल देखे है लेकिन जो वैभव प्रभुत्व राणा कुम्भा और राणासांगा के काल में देखने को मिला वह वास्तव में मेंवाड़ के चरम उत्कर्ष का काल था।" कुम्भा अपने पिता राणा मोकल (सन् 1421ई०-1433ई०) की षडयंत्र पूर्वक की गई हत्या उपरांत मेवाड़ के शासक बने थे। अत: उनके शुरूआती वर्ष आंतरिक कलह और निरंतर षडयंत्रों का सामना करने में बीता। लेकिन पाँच वर्ष की अवधि में राजा कुम्भा ने घरेलु बखेड़ों को समाप्त कर राज्य को संगठित करने का कार्य शुरू किया।

राणा कुम्भा ने मेवाड़ को एक प्रादेशिक शक्ति के रूप में उदित करने के उद्देश्य से अधीन राज्यों की पुन: स्वाधीनता के प्रयासों में रोक लगाने के साथ-साथ अंत: प्रादेशिक प्रतिद्वंद्विता के सिद्धांत के अनुरूप मालवा और गुजरात से निरंतर युद्ध किए। मेवाड़ मालवा के मध्य हुए संघर्षों के मूल विविध कारणों से दिल्ली सल्तनत की दुर्बल होना, मेवाड़-मालवा के शासकों में विस्तारवादी महत्त्वाकांक्षाओं का होना, दोनों राज्यों की सीमा पर स्थित छोटे राज्यों यथा माण्डलगढ़, जहाजपुर, बिजोलिया, नागौर, बदनौर, डूंगरपुर आदि के आंतरिक झगड़ों के कारण उनकी निष्ठा और मित्रता में निरंतर परिवर्तन, मेवाड़ के असंतुष्टों को मालवा द्वारा शरण देना तथा मालवा के उत्तराधिकार संघर्ष में मेवाड़ का हस्तक्षेप करना- जैसे कारण प्रमुख है। जब मेवाड़ के विद्रोही सरदार महपा पवांर को मालवा सुल्तान महमूद खिलजी प्रथम (सन् 1436ई०-1469 ई०) ने शरण दी तो राणा कुम्भा ने मालवा पर सन्(1437)में हमला किया। कुम्भा ने मंदसौर, जावरा आदि को जीतकर सारंगपुर में हुए युद्ध में सुल्तान को पराजित करने के बाद उसे छै: माह चित्तौड़ में कैद रखा। बाद में उदारता का परिचय देकर उसे रिहा कर दिया। मालवा पर हुई इस महान विजय को अक्षुण्ण रखने के उद्देश्य से कुम्भा ने चित्तौड़ में विजयस्तंभ का निर्माण किया। इसके बाद भी मालवा और मेवाड़ में निरंतर युद्ध होते रहे। राणाकुम्भा ने मालवा से सन् 1442 में रणथम्भौर छीन लिया। सन् 1443 ई० में कुम्भलगढ़ का प्रथम युद्ध, सन् 1446 ई० में माण्डलगढ़ का प्रथम युद्ध, सन् 1456 ई० में माण्डलगढ़ का द्वितीय युद्ध, सन् 1457 ई० में माण्डलगढ़ का तृतीय युद्ध , सन् 1459 ई में कुम्भागढ़ का द्वितीय युद्ध तथा सन् 1467 में जावर का युद्ध जैसे

अनेक युद्धों में मेवाड़ को एक इंच भूमि की हानि नहीं हुई जो राणा कुम्भा के सैन्य संगठन का प्रमाण है।

राणा कुम्भा के शासन काल (सन् 1433 ई० से सन् 1468 ई०) में गुजरात पर पाँच सुल्तानो ने शासन किया। राणा कुम्भा और अहमदशाह (सन् 1411- सन् 1442 ई०) के मध्य किसी संघर्ष के प्रमाण नहीं है और यह समय अर्थात् 1433 ई० से 1442 ई० तक का समय गुजरात मेवाड़ संबंधो में शांति का है। यहाँ तक कि मुहम्मदशाह (सन् 1442 ई० - 1451 ई) के शासन काल में भी गुजरात की मेवाड़ के विरुद्ध हरकतें नगण्य है। राणा कुम्भा को सन् 1451 ई० में कुतुबुद्दीन अहमद (सन् 1451 से सन् 1458 ई०) के सुल्तान बनते ही गुजरात से संघर्ष का सामना करना पड़ा। ये संघर्ष दाउद (जो 1458 ई में कुतुबुद्दीन की मृत्यु के बाद मात्र एक सप्ताह सुल्तान रहा) और अब्दुल फतेहखाँ या महमूद बेगड़ा (सन् 1458 ई० से 1511 ई०) के साथ निरंतर रहे। राणा कुम्भा और गुजरात के सुल्तानों के मध्य संघर्ष के कारणों में नागौर उत्तराधिकार प्रश्न, गुजरात- मालवा संधि और गुजरात के सुल्तान महमूद बेगड़ा की विस्तारवादी नीति - प्रमुख है। सन् 1455 से सन् 1460 के मध्य दोनों राज्यों में छः भयानक टक्करें हुई। कुम्भा और कुतुबुद्दीन के बीच हुए प्रमुख संघर्ष थे-नागौर के उत्तराधिकार को लेकर छिड़ा युद्ध सन् 1456 ई०, आबू और कुम्भलगढ़ पर मालवा का हमला सन् 1456 ई० मालवा और गुजरात का सम्मिलित हमला सन् 1457 ई०, कुम्भा की नागौर विजय सन् 1458 ई० तथा कुम्भलगढ़ में मालवा के सुल्तान की पराजय सन् 1458 ई०। मेवाड़ विजय का अधूरा सपना लिए कुतुबुद्दीन 25 मई 1458 ई० को सदा के लिए संसार से चले गए। राजाकुम्भा का गुजरात के साथ अंतिम बड़ा संघर्ष तब हुआ जब महमूद बेगड़ा ने गुजरात की गद्दी पर बैठते ही जूनागढ़ पर हमला किया। जूनागढ़ का शासक राणाकुम्भा का दामाद था, हमले की खबर पाकर राणा पहुँचा और महमूद को परास्त होकर लौटना पड़ा। मुस्लिमों से निरंतर संघर्ष में मेवाड़ को ही फायदा हुआ और आबू सिरोही, नागौर, मंदसौर इत्यादि स्थानों में मेवाड़ का प्रभुत्व स्थापित हुआ।

राणा कुम्भा ने साम्राज्य वादी नीति का अनुसरण किया। उसने अपने शासन काल के प्रथम 20 वर्ष निरंतर युद्ध और राज्य विस्तार में व्यतीत किए। इस अवधि में कुम्भा ने सन् 1437ई० में गागरोण, 1442 ई० में रणथम्भौर, आमेर टोंक, अलवर, सवाई माधोपुर ; 1446 ई में बदनौर के मेर, 1457 ई० में सिरोही आबू एवं 1458 ई०

में नागौर विजय कर लगभग सम्पूर्ण राजस्थान को एक सूत्र में पिरो दिया। राणा कुम्भा ने मालवा गुजरात, मेड़ता और दिल्ली के सुल्तानों से निरंतर संघर्ष करके अपने विजित राज्य की सीमा को बढ़ाने का कार्य किया। राणा कुंभा के राज्यारोहण के समय उसके पास मेवाड़ का मात्र केन्द्रीय क्षेत्र था जबकि उसकी मृत्यु पर मेवाड़ राज्य की दक्षिणी सीमा आबू व मंदसौर तक उत्तरी सीमा पटौती गुड़गांव तक, पूर्व में आमेर- चाटसू तक तथा पश्चिम में बंसतगढ़- पिंडवाड़ा तक विस्तृत थी। ''पूर्व में ग्वालियर के हिन्दू राजा डूंगरसिंह और पश्चिम में जैसलमेर के हिन्दुराजाओं रावल बैरसी (1436 ई०-1446ई०) तथा रावल चाचग द्वितीय (1446 ई०-1470 ई०) से कुम्भा के मित्रतापूर्ण संबंध थे और इन दोनों राज्यों के बीच का क्षेत्र कुम्भा के पूर्ण प्रभाव में था। वास्तव में वह एक दिग्विजयी महाराणा था जिसने मेवाड़ को साम्राज्य बना दिया।''

राणा सांगा (सन् 1509 ई०-1528 ई०)

राणा सांगा जो राणा कुम्भा के पुत्र रायमल का पुत्र था ने सन् 1509 ई० में अपने पिता की मृत्यु के बाद मेवाड़ का शासन संभाला। रायमल की अयोग्यता और राणा परिवार के आंतरिक झगड़ों ने मेवाड़ में अव्यवस्था उत्पन्न कर दी थी। अपनी वीरता और बुद्धि चातुर्य से राणा सांगा ने न केवल अपनी आंतरिक स्थिति सुदृढ़ की वरन् बाह्य शत्रुओं पर भी निरंतर विजय प्राप्त की। राणा सांगा जब से मेवाड़ की गद्दी पर बैठे थे, तब से 20 वर्ष निरंतर युद्धरत रहे, उनके शरीर के अस्सी घाव उनके तमगे थे, एक आंख एक हाथ एक पैर को युद्ध में खोकर उनका शरीर एक वीरोचित रोमांचक शौर्य का प्रतीक चिन्ह बन गया।

राज्यारोहण के समय सांगा का राज्य चारों ओर से शत्रुओं से घिरा हुआ था। तब दिल्ली में लोदी वंश का सबसे योग्य शासक सिकन्दर लोदी (सन् 1489 ई०-सन् 1517 ई) गुजरात में महमूद शाह बेगड़ा (सन् 1458 ई०-1511ई०) तथा मालवा में नासिरूद्दीन (सन् 1500ई०-1510 ई०) राज्य कर रहे थे। राणा सांगा के इनसे और इनके उत्तराधिकारियों यथा दिल्ली का इब्राहिम लोदी (सन् 1517 ई०-1526 ई०), गुजरात का मुजफ्फरशाह (सन् 1511ई) सन् 1526ई) तथा मालवा का महमूद खिलजी द्वितीय (सन् 1510 ई० 1531 ई०) से निरंतर संघर्ष हुए। इन सभी के विरुद्ध 18 बड़े युद्धों में राणा सांगा को निरंतर सफलता मिली और मेवाड़ अपने वैभव और कीर्ति के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा। यदि राणा सांगा अपने जीवन के आखरी युद्ध (खानुवा का युद्ध सन् 1527 ई०) में बाबर के विरुद्ध

सफल हो जाता तो भारत के मध्यकालीन इतिहास की रूपरेखा बदल जाती।

मालवा और मेवाड़ के बीच पारम्परिक शत्रुता के प्रमुख कारण रहे थें दोनों के शासकों ने विस्तारवादी नीति का पालन किया, दोनों राज्यों की सीमा में स्थित बूंदी, मांडलगढ, जहाजगढ़ आदि क्षेत्रों पर अधिकार को लेकर झगड़े होते रहे। दूसरा- मालवा के उत्तराधिकार संघर्ष में मेवाड़ का हस्ताक्षेप करना, नासिरूद्दीन की मृत्यु के पश्चात् महमूद खिलजी, उसका हिन्द ूवजीर मेदिनीराय एवं अन्य मुस्लिम सरदारों के मध्य हुए षडयंत्रों और झगड़ों में राणा सांगा ने खुलकर मेदिनीराय का साथ दिया। मेदिनीराय जब राणा के पास सहायता के लिए आया तब महमूद खिलजी ने गुजरात के सुल्तान की सहायता से मांडी का किला घेर लिया। मेदिनीराय का लड़का नत्थू इस हमले में मारा गया। " नत्थू का मारा जाना भी मेवाड़ द्वारा मालवा पर हमले का एक कारण था.... राणा की यह धारणा बन गयी कि सहायता में विलम्ब से शरणार्थी का पुत्र मारा गया.... नत्थू की मृत्यु ने युद्ध को और जल्दी शुरू करा दिया। इस युद्ध (सन् 1519 ई०) में महमूद खिलजी द्वितीय को घातक पराजय हुई और उसे गिरफ्तार कर चित्तौड़ में रखा गया। बाद में महमूद ने अपनी रत्न जड़ित ताज सोने की कमरपेटी और बहुत सा धन राणा को भेंट किया तथा एक शहजादे को राणा के दरबार में रखा तब उसे मालवा वापस जाने की अनुमति मिली। इस युद्ध से राणा सांगा को मालवा का आधा राज्य जिसमें अत्यंत उपजाऊ क्षेत्र थे, मिला और राणा की ख्याति में वृद्धि हुई।

मेवाड़ और गुजरात में भी पारम्परिक प्रतिद्वंद्विता थी, जिसके कारणों में प्रमुख थे -पहला राणा कुम्भा ने नागौर की मुस्लिम रियासत को मेवाड़ में मिला लिया था, गुजरात के शासक इसे वापस पाना चाहते थे। दूसरा, गुजरात ने मेदिनीराय के विरुद्ध मालवा की सहायता की थी जबकि मेवाड़ ने मेदिनीराय की अत: यह शत्रु के मित्र को सजा देना एककारण बना। तीसरा, गुजरात और मेवाड़ के मध्य सीमा के क्षेत्रों पर अधिकार को लेकर निरंतर विवाद रहा। तथा चौथा और तत्कालिक कारण था कि ईडर राज्य के उत्तराधिकार का झगड़ा। ईडर मेवाड़ के दक्षिण पश्चिम में सिरोही और डूंगरपूर के मध्य गुजरात मेवाड़ की सीमा पर स्थित सामरिक दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण स्थान था। इस कारण गुजरात और मेवाड़ दोनों अपनी पंसद का शासक चाहते थे। ईडर के राव सूर्यमल की मृत्यु के बाद चले उत्तराधिकार के झगडें में राणा सांगा ने रायमल का तथा मुजफ्फरशाह ने भारमल का पक्ष लिया। महाराणा ने सन् 1518 में चित्तौड़ से कूच किया। एक दिन में ईडर

जीतकर राणा ने आगे बढ़ कर अहमदाबाद का घेरा डाला। राजपूतों ने किले का फाटक तोड़कर उसे लूटा और आगे बढ़कर बड़नगर, बीलनगर तथा गुजरात के अंदरूनी हिस्सों में लूटपाट की और चित्तौड़ वापस लौट गए। इसका बदला लेने के लिए मुजफ्फरशाह ने सन् 1520 ई० में मेवाड़ पर हमला किया बांसवाड़ा कोलूटा परन्तु मंदसौर के पास हुए घमासान युद्ध के बाद गुजरात और मेवाड़ की संधि हो गयी। इस तरह ''सांगा ने अपने सफल अभियान में गुजरात को लूटा ईडर पर अपना प्रभुत्व जमाया और गुजरात के उत्तराधिकारी को अपने यहाँ शरण देकर अपने प्रभुत्व की धाक चारों और फैला दी।

राणा सांगा का तीसरा मुस्लिम प्रतिद्वंदी दिल्ली का सुल्तान इब्राहिम लोदी था। दोनों की बीच प्रतिद्वद्विंता के कारणों में प्रमुख थे - पहला, राणा सांगा और इब्राहिम लोदी दोनों में साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षा थी। दूसरा, राणा सांगा ने अपना राज्य आगरा के नजदीक स्थित बयाना तक बढ़ा लिया जो दिल्ली - आगरा के किसी भी शासक के लिए चुनौती थी। तीसरा, मालवा को अधिगृहित करने को लेकर भी राणा सांगा और इब्राहिम में मध्य मतभेद हुए थे तथा चौथा यह था कि राणा सांगा ने गद्दी पर बैठते ही दिल्ली की आंतरिक फूट का लाभ उठाकर अजमेर पर कब्जा करके अजमेर और नागौर की जागीर कर्मचंद पंवार को सौप दी थी। इब्राहिम लोदी राणा सांगा से अजमेर वापस चाहता था। उपयुक्त कारणों से राणा सांगा और इब्राहिम लोदी के बीच सन् 1517ई० में मेवाड़ के वर्तमान आसीन्द जिलें में खातौली के पास बकरौल के मैदान में भीषण युद्ध हुआ। सुबह नौ बजे से दोपहर दो बजे तक के पाँच घंटे के युद्ध में लोदी का सेनापति मिंया मक्खन भाग गया, दिल्ली की फौज का भीषण संहार हुआ और अंत में स्वयं सुल्तान इब्राहिम को अपने प्राण बचाकर भागना पड़ा। इब्राहिम लोदी ने शीघ्र ही मेवाड़ पर दुबारा हमला किया। धौलपुर के निकट हुए युद्ध में राणा सांगा पुनः विजयी हुआ उसने हाड़ावती और मेवात के क्षेत्र अपने राज्य में मिला लिए, बयाना पर उसका स्थायी अधिकार हो गया। इस विजय ने राणा सांगा को सभी राजपूतों का एक छत्र नेता बना दिया। अब राणा सांगा उत्तर भारत की एकमात्र संगठित शक्ति बन गया और भारत पर प्रभुत्व स्थापित करने की इच्छा रखने वाले किसी भी आक्रमणकारी के लिए राणा सांगा के टकराये बिना आकांक्षा की पूर्ति करना असम्भव हो गया था। यह एक सबसे प्रमुख कारण था। जिसके चलते राणा सांगा और बाबर के मध्य खानुवा में संघर्ष हुआ।

राणा सांगा और बाबर के मध्य प्रतिद्वंद्विता के प्रमुख कारण थे - पहला, जैसा कि ऊपर लिखा गया कि दोनों दिल्ली की गद्दी पर अधिकार के आकांक्षी थे, बाबर को दिल्ली पर अधिकार जमाये रखने हेतु आवश्यक था कि वह राणा सांगा से संघर्ष करे। दूसरा ; राणा सांगा ने यह सोचा था कि बाबर अपने पूर्वज तैमूर और अन्य आक्रमणकारी शक्तियों की तरह देश का माल लूटकर वापस लौट जाएगा लेकिन यह उसका भ्रम था। बाबर के रूक जाने से वह संभावित खतरे के प्रति सचेत हो गया। तीसरा ; बाबर ने अपनी आत्मकथा में यह बयान किया कि काबुल में सांगा के दूत और उसके मध्य यह समझौता हुआ था कि इब्राहिम लोदी पर दिल्ली की ओर से बाबर और आगरा की ओर से सांगा हमला करेगें। सांगा ने यह नहीं करके विश्वासघात किया। चौथा; सांगा ने बाबर पर यह आरोप लगाया कि बाबर ने कालपी धौलपुर और बयाना पर अधिकार किया जबकि समझौते के अनुसार ये इलाके सांगा को मिलने चाहिए। यद्यपि इन समझौता में से प्रथम की पुष्टि बाबर के अतिरिक्त अन्य किसी समकालीन ऐतिहासिक स्त्रोतो से नहीं होती। पाँचवा ; पानीपत के युद्ध के बाद सांगा ने बाबर को दिल्ली का सुल्तान स्वीकार नहीं किया उसने इब्राहिम के भाई महमूद लोदी को दिल्ली का सुल्तान घोषित किया। इन सब कारणों से अलग सबसे महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि पहली बार मध्यकाल में उत्तरी हिन्दुस्तान मे पुनः राजपूत सत्ता स्थापित करने के उद्देश्य से राणा सांगा ने राजस्थान के राजपूतों को संगठित किया था लेकिन वह यह देखकर चकित रह गया कि बाबर के रूप में एक नए तुर्क आक्रमणकारी ने उसकी दिल्ली पर विजय की आकांक्षा को हीन कर दिया।

हिन्दुस्तान के इतिहास में खानुवा का युद्ध 16 मार्च सन् 1527 जो 20 घंटे तक निरंतर चला अत्यंत स्मरणीय और महत्त्वपूर्ण युद्धों में से एक है। खानुवा के युद्ध में राजपूतों की हार और बाद में राणा सांगा की मृत्यु अपने साथ राजपूतों की एकता को भी ले गई। इस युद्ध के बाद पूरे राजपूताना के इतिहास में राजपूत फिर कभी इस तरह एक होकर विदेशी शत्रु से नहीं लड़े। इस युद्ध ने बाबर के खानाबदोश जीवन का अंत कर दिया। अब उसे अपने सिंहासन के लिए युद्ध नहीं लड़ना था। आगे जो भी युद्ध बाबर ने किए वे राज्य विस्तार के लिए थे। हिन्दुस्तान के नेतृत्व की बागडोर राजपूतों के हाथ में आते आते फिसलकर मुग़लों के पास चली गई जिन्होंने सन् 1740 ई तक संचालन किया। खानुवा की पराजय ने राजपूत शक्ति पर इतना जबरदस्त आघात लगाया कि वे खानुवा के युद्ध के पूर्व के स्तर पर

आगे फिर कभी पहुँच ही नहीं सके।

अन्य राजपूत राज्य

बाबर के हमले के समय कोई अन्य राजपूत राज्य उस अर्थ में स्वाधीन नहीं थे कि उनके अलग से क्षेत्र विस्तार की चर्चा की जाए। दरअसल मेवाड़ के राणा कुम्भा और बाद में राणा सांगा ने अपनी तलवार के जोर और बुद्धि चार्तुय के बल से समूचे राजपूताना को अपने झण्डे तले कर लिया था। खानुवा के मैदान में राणा सांगा के नेतृत्व में 80000 घुड़सवार, सात बड़े राजा, नौ राव और 104 अन्य राजपूत सरदारों ने युद्ध में भाग लिया था। इनमें से प्रमुख थे ढूढ़ार (आमेर) का राजा पृथ्वीराज, चंदेरी का मेदनीराय, रामदास सोनगरा, मेड़ता का रायमल राठौर, सिरोही का अक्षयराज, राव नरसिंहदेव, राव ब्रहमदेव, राव दिलीप, डुगरपुर का रावत उदयसिंह, सलुंबर का राव रतन सिंह, आमे रका जगपाल, आमेट का रावजोगा, देवगढ़ का रावत सांगा, देवलिया का बाधसिंह, लावा का करणसिंह, सादड़ी का अज्जर झाला, गोगुन्दा का सज्जा झाला,मेवात का हसन खाँ, मरहूम इब्राहिम लोदी का भाई महमूद लोदी, बूंदी का नारायण दास हाड़ा ,जोधपुर का रावमालदेव, रायसेन का सिलहंदी तंवर, बिजौरिया का गोकुल दास, कोठारिया का चन्द्रभान कर्मचन्द्र परमार डोडियाकर्ण, राजामुकुंद बाघेला आदि। स्पष्ट है सम्पूर्ण राजपूताना ने राणासांगा के झण्डे तले ही युद्ध किया था।

खानुवा के युद्ध के बाद जर्जर मेवाड़ ने कई स्वाधीन और संप्रभु राज्यों को जन्म दिया। मारवाड़, आमेर,जैसलमेर बीकानेर जैसे बड़े राज्यों और अनेक छोटे राज्यों जैसे डूंगरपुर, बूंदी,देवलिया प्रतापगढ़ ने अब मेवाड़ का साथ छोड़कर स्वयं की सत्ता निर्धारित करना शुरू किया और मेवाड़ अपने केन्द्रीय आंतरिक भाग में सिमट कर रहा गया।

राजपूत शासकों का सहयोग आधार

बाबर के समय हिन्दू शासकों (राजपूतों) ने जिस एक्य भाव का प्रदर्शन किया, वैसा वे बाद में कभी न कर सके। खानुवा का युद्ध हिन्दुस्तान में किसी भी विदेशी आक्रमणकारी के प्रतिरोध में राजपूत शक्तियें के एकीकृत शक्ति संगठन का अंतिम प्रदर्शन था। राजपुताने के ये शासक अचानक एकत्र होकर खानुवा में युद्ध करने नहीं पहुँच थे। उनके इस तरह से संगठित होने के पीछे एक लम्बी ऐतिहासिक प्रक्रिया रही है। मध्यकालीन हिन्दू राजपूत शासकों के परस्पर शत्रुता

के अनेक उदाहरणों के बावजूद उनमें परस्पर सहयोग के कुछ आधार कारण मौजूद रहे है। इन आधार कारणों में से कुछ प्रमुख निम्नाकिंत है-

(1) हिन्दू राज्य की पुनः स्थापना का लक्ष्य

चौहान राजपूत वीर पृथ्वीराज दिल्ली का अंतिम हिन्दू सम्राट था जिसे मुस्लिम मुहम्मद गोरी ने तराइन के युद्ध (सन् 1192 ई०) में पराजित कर हिन्दुस्तान पर मुस्लिम राज्य की स्थापना के बीज बोए थे। तब से पन्द्रहवीं सदी के अंत तक राजपूतों को निरंतर मुस्लिम आक्रमण का सामना करना पड़ रहा था। गौरी के पूर्व सम्पूर्ण उत्तरी भारत मे राजपूत सरदारों की जागीरे और राज्य थे। 250- 300 वर्षों के निरंतर मुस्लिम हमलो ने उन्हें राजपूताने तक समेट दिया था। राणा कुम्भा (सन् 1433 ई०-1468 ई०) के नेतृत्व में मेवाड़ के अभ्युदय तथा राणा सांगा सन् (1509 ई-1528 ई०) की मालवा, गुजरात एवं दिल्ली के मुस्लिम शासकों के विरुद्ध निरंतर विजयों ने राजस्थान के हिन्दू राजपूत शासकों के मन में दिल्ली में पुनः हिन्दू राजपूत शक्ति के सिंहासनारोहण की परिकल्पना का भाव उत्पन्न कर दिया था। ''तैमूर के आक्रमण ने दिल्ली के सिंहासन का मुकुट आसमान में उछाल दिया था जिसे कोई भी शक्तिशाली हाथ में पकड़कर कर पहन सकता था। सांगा ने अपने प्रतिद्वदिंयों को पराजित कर मालवा और गुजरात की इच्छाओं को दफना दिया था। दोनों राणा सांगा ने नाम से कांपते थे। उसने दिल्ली के दुर्बल व अयोग्य शासक इब्राहिम लोदी को भी दो बार मैदान में धूल चटवा दी थी। इन परिस्थितियों में उसका दिल्ली के सिंहासन पर बैठ कर भारत को एक हिन्दू राज्य के सूत्र में बांधने का सपना सच्चा हो सकता था।'' राणा सांगा जो अब समस्त हिन्दू भारत का अद्वितीय नेता और सबसे बड़ा राजपूत सरदार था, से ''सभी स्थानीय एवं राजपूत शासक यह अपेक्षा करते थे कि सांगा पतनोन्मुख सल्तनत को समाप्त कर दिल्ली में हिन्दू राज्य को पुनः संस्थापित करेगा।'' और ऐसी आदर्श कल्पना से प्रभावित होकर राजस्थान के समस्त राजपूत शासक एक हो गए थे।

(2) राणा सांगा की व्यक्तिगत योग्यताएं

राणा सांगा ने अपनी राजनीतिक जीवन सैनिक सफलताओं से प्रारंभ किया। जैसी कि मान्यता है कि उसने मालवा, गुजरात, दिल्ली जैसे बड़े राज्यों एवं कई अन्य छोटे राज्यों की सेनाओं पर निरंतर अठारह बार विजय प्रदान की। राणा सांगा ने मालवा के सुल्तान महमूद खिलजी को परास्त कर चित्तौड़ के किले में रखा (सन् 1519), गुजरात पर हमला कर अहमदाबाद और गुजरात के अंदरूनी इलाकों

में लूटमार की, दिल्ली के सुल्तान इब्राहिमलोदी को दो बार परास्त किया तथा एक शाहजादे को कैदकर लिया। राणा सांगा की इन असाधारण सैनिक योग्यताओं ने उसे और मेवाड़ को प्रसिद्धि के शिखर पर पहुँचा दिया। कर्नल टाड लिखते है :- 80000 अश्वारोही, उच्चपद वाले सातराजा, नौ राव , 104 रावल और रावत उपाधि धारक सरदार, पाँच हजार लड़ाकू हाथियों के साथ उसके नेतृत्व मे युद्ध क्षेत्र में चलते थे। मारवाड़ और आमेर के राजा उसको सम्मान देते थे और ग्वालियर अजमेर, सीकरी, रायसीन, कालपी, चंदेरी, बूंदी, गागरौण रामपुरा और आबू के राव लोग उसके करद सामंत बनकर उसकी सेवा करते थे।''

राणा सांगा का व्यक्तित्व इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उसका समय शांति का नहीं था, वह समय परस्पर संघर्ष, निरंतर युद्ध और अस्तित्व रक्षा का था। अवसर की पहचान कर राणा सांगा ने जातीय जीवन को स्थिर करने के लिए और देश के सम्मान में वृद्धि का भरसक प्रयत्न किया। सांगा ने अपने वंश की वीरोचित परम्पराओं का न सिर्फ निर्वहन किया बल्कि उन्हें नई ऊचाईयां प्रदान कर देश के मानमर्यादा में वृद्धि की। राणा सांगा ने परम्परागत हिन्दू संस्कृति का सदैव पालन किया। उसने पराजित राजा या सुल्तान का निरादर नहीं किया। बल्कि उसे नाममात्र की अधीनता स्वीकार करने पर यथोचित आदर सत्कार कर उसका राज्य वापस कर दिया। इसका सबसे बढ़िया उदाहरण मालवा का महमूद खिलजी का प्रकरण है। युद्ध में घायल महमूद की गिरफ्तारी के बाद ''महाराणा ने उदारता से उसे अपने तंबू में पहुँचाया और उसके धावों का वहाँ उपचार किया गया। तदनन्तर उसे चित्तौड ले जाया गया जहाँ से कुछ समय बाद उसे सम्मानपूर्वक अपने राज्य की ओर भेज दिया गया।'' राणा सांगा ने अपने विजित क्षेत्रों में ''सीमित अधिकार नीति'' का पालन किया जिसके अन्तर्गत विजित क्षेत्र के शासक के लिए यह आवश्यक नहीं था कि वे सांगा के दरबार में नियमित उपस्थिति दे या सेना का खर्च उठाए। इस परम्परागत हिन्दुनीतियों के पालन करने के कारण राणा सांगा हिन्दुवा सूर्य का प्रतीक बन गया जिसके चलते राजपूत सरदारों ने उसक साथ निरंतर सहयोग किया।

(3) बाबर - एक विदेशी शक्ति का विरोध

हिन्दू राजपूतों ने निरंतर मुस्लिम आक्रमण सहे थे। सन् 1517 में दिल्ली के सुल्तान सिकन्दर लोदी की मृत्यु के बाद उसके अयोग्य एवं निर्बल उत्तराधिकारी इब्राहिम लोदी की निरंतर असफलताओं तथा इधर राणा सांगा की मुस्लिम शासकों

के विरुद्ध निरंतर सफलताओं ने राजपूतों ने मन में यह विश्वास भर दिया था कि अब दिल्ली पर हिन्दू पदशाही के पुनरावरोहण का समय दूर नहीं है। ऐसे समय में बाबर जो कि विदेशी शक्ति के रूप में भारत आया था, की दिल्ली पर विजय और उसके बाद वहाँ शासन के लिए जमकर बैठ जाने ने हिन्दुओं ने कान खड़े कर दिए। सभी हिन्दू शक्तियों ने यह सोचकर एका किया कि बाबर के बाद राणा सांगा के रूप में उन्हें एक हिन्दू सम्राट दिल्ली की गद्दी पर मिलेगा।

बाबर को एक विदेशी शक्ति मानते हुए ही बाबर का स्वधर्मी मुस्लिम अफगान सरदार हसन खाँ मेवाती और स्वयं इब्राहिम लोदी का भाई महमूद लोदी बाबर के विरुद्ध राणासांगा के साथ थे। इस प्रकार बाबर के विरुद्ध हिन्दुस्तान के हिन्दुओं के साथ साथ मुस्लिमों ने भी कंधे से कंधा मिलाकर लड़ाई लड़ी।

(4) केन्द्रीय शक्ति का ह्रास और हिन्दू राज्यों का राजनीतिक पुनरूत्थान

परवर्ती सल्तनत काल में केन्द्रीय शक्ति का ह्रास हो गया। दिल्ली सल्तनत, जिसके इल्तुतमिश, बलबन, अलाउद्दीन खिलजी, मुहम्मद तुगलक, सिंकदर लोदी जैसे योग्य, प्रतिभाशाली महत्त्वाकांक्षी और महान शासकों ने साम्राज्य को संगठित, शक्तिशाली विस्तृत और समृद्धशाली बनाने का सफल प्रयास किया, अपने परवर्ती काल में दुर्बल और शिथिल होता गया। मोहम्मद तुगलक के अंतिमदिनों मे ही दक्षिण भारत सल्तनत की सत्ता से मुक्त हो गया। फिरोजतुगलक की मृत्यु (सन्1388 ई.) के बाद दिल्ली सल्तनत को बची खुची शक्ति को तैमूर के आक्रमण (सन् 1398ई०) ने ध्वस्त कर दिया। दिल्ली सल्तनत की सीमा सिकुड़ने के साथ साथ नवीन प्रातीय राज्यों का उद्भव हुआ। इनमें सबसे प्रमुख हिन्दू राज्य मेवाड़ था।

मेवाड़ का राजनीतिक पुनस्थान राणा कुम्भा (सन् 1433 ई०-1468 ई०) से शुरू होता है, उस समय दिल्ली में निर्बल सैय्यदों (सन् 1414ई० - 1451 ई०) का शासन था। दिल्ली की डांवाडोल परिस्थितियों ने कुम्भा को राज्य विस्तार का स्वर्णिम अवसर दिया और उसका शासनकाल मेंवाड़ के राज्य विस्तार और संगठन का काल बन गया। उसका पोता राणा सांगा (सन् 1509 ई०-1528ई०) मेवाड़ के राजवंश का चमकता सितारा था। उसके शासनकाल में मेवाड़ की सीमाएं सर्वोच्च पर पहुँची।" उसकी राज्य की सीमाएं उत्तर में बयाना के पास बहने वाली पीली नदी , पूर्व में सिंधु नद, दक्षिण में मालवा और पश्चिम में मेवाड़ की दुर्गम पर्वतमाला तक फैली हुई थी।

दिल्ली सल्तनत के पतन के साथ साथ मेवाड़ के अतिरिक्त जिन दूसर प्रमुख हिन्दू राजपूत राज्यों का उद्‌भव और विकास हुआ उनमें मारवाड़ (जोधपुर) जैसलमेर, बीकानेर और आमेर प्रमुख थे। लेकिन मेवाड़ अपनी सैन्यशक्ति प्रभुसत्ता और सामर्थ्य में इतना बढ़ाचढ़ा था कि मुस्लिम शासकों के विरुद्ध हिन्दू राजाओं के एक होने की अवस्था में नेतृत्व का स्वाभाविक दावेदार था। बाबर के विरुद्ध हिन्दू संगठन में राणा सांगा के नेतृत्व में मारवाड़ (जोधपुर) का राव गांगा (सन् 1515 ई -1531 ई०) बीकानेर का राव लूनकरण (सन् 1504-1527 ई०) जैसलमेर का राव जैतसिंह तृतीय (सन् 1506-1527 ई०)तथा आमेर का राठौर पृथ्वीराज सहित अनेक छोटे बड़े राजा सम्मिलित हुए थे।

(5) राजपूती शासकों के आपसी संबंध

सल्तनत काल में राजपूत शासकों के परस्पर संबंध बहुत अच्छे नहीं थें। फलस्वरूप होने वाली आपसी संघर्षों से राजपूती सैन्यशक्ति का हास होता रहता था। राणा सांगा ने राजपूत शासकों के आपसी मतभेदों को दूर करने का प्रयास करते हुए उन्हें एक सूत्र में बांधा था। राणा सांगा ने अन्य राजपूत राजाओं का अपने साथ मिलाकर रखने हेतु जिस नीति का पालन किया था उससे तब का वृहत्तर मेवाड़ कुछ - कुछ आज के आधुनिक संघात्मक शासन का स्वरूप ग्रहण करता दिखाई देता था। आवश्यकता पड़ने पर सहयोगी राज्यों के पास "पातीपेखन" अर्थात् पत्र पाकर सहायता देने की परम्परा को अपनाया था। बाबर के विरुद्ध युद्ध से पूर्व सांगा ने अपने विश्वासपात्र चतुर सामन्त डंगरसी बालावत (चौहान) को भेजकर अन्य राजपूत हिन्दू राजाओं से सैन्य सहायता और संगठन प्राप्त किया था। समकालीन हिन्दू राजा राणा सांगा की शक्ति का सम्मान करते थे और उसक सैन्य बल व रणनीतिक कौशल से प्रभावित थे। राणा सांगा का संगठन पवित्र भावनाओं और सच्चरित्र सिद्धांतों पर आधारित था। अत: सहयोगी हिन्दू राजा उनके नेतृत्व को स्वीकृत करते हुए उनकी आज्ञा पालन हेतु तत्पर रहते थे। इसके अतिरिक्त राणा सांगा ने अपने राजनीतिक चातुर्य के बल पर मारवाड, बूंदी सहित कई पड़ोसी राव, रावतों से वैवाहिक संबंध निर्मित किए थे। वैवाहिक, राजनीतिक और रणनीतिक संबंधों के आधार पर राणा सांगा हिन्दू साम्राज्य स्थापना के पवित्र उद्‌देश्य हेतु हिन्दू राजपूत राजाओं का संघ बना सकने में सफल हुए थे।

खानुवा का युद्ध पानीपत के युद्ध से भी अधिक महत्त्वपूर्ण और निर्णायक सिद्ध हुआ। राजपूतों के संघ की पराजय ने जहाँ राजपूत शक्तियों को इतना निर्बल

कर दिया कि फिर वे भविष्य में कभी भी इस तरह संगठित प्रतिरोध नहीं कर पाये तो दूसरी ओर मुग़लों की सत्ता भारत में स्थापित हों गई। इस युद्ध में राजस्थान के प्रत्येक राजपूत वंश ने अपने श्रेष्ठतम साहसी योद्धाओं की आहुति दी थी। मेवाड़ का गौरव भी नष्ट हो गया जिसने राजपूतों की एकता को संभव बनाया था, और इसके साथ ही राजपूतों का दिल्ली आधिपत्य का स्वप्न सदैव के लिए इतिहास की कब्र में दफन हो गया। इस युद्ध ने मुग़लों को भी राजपूती तलवार की ताकत का एहसास करा दिया। खानुवा के बाद बाबर ने राजपूताने के अन्दरूनी किसी भी हिस्से पर हमला नहीं किया बल्कि उसने मेवाड़ के उत्तराधिकारी को लेकर चले विवाद में सांगा की एक पत्नि कर्मवती का पक्ष लेकर उससे सहानुभूति ही प्राप्त की बाद में बाबर के पौत्र अकबर ने राजपूत संबंधी नीति में भारी फेरबदल करके राजपूतों को मुग़ल साम्राज्य का शुभचिंतक बनाया।

मुग़लों को राजपूतों के रूप में वीर और साहसी व्यक्तियों का आधार मिला जो इस वंश को आगे 200 वर्ष तक सफलतापूर्वक चलाते रहने में महत्त्वपूर्ण सहायक सिद्ध हुआ।

बाबर का धार्मिक दृष्टिकोण

भारतीय मुग़लों के चरित्र और जीवन में उनके पूर्वजों की श्रेष्ठतम और निम्नतम प्रवृत्तियों का पूर्ण रूप देखने को मिलता हैं। इन पूर्वजों में चंगेज खाँ और तैमूर लंग के नामों में एक खास किस्म की पवित्रता मानी जाती है, जिनमें उनकी जातीय विशेषताएं कितनी ही पीढ़ियों तक बनी रही। मुग़लों की धार्मिक नीति विशेषकर हिन्दुओं से उनके संबंध इन्हीं विशेषताओं पर आधारित हुए। इसलिए इन दोनो महान् विजेताओं के विषय में कुछ तथ्यों की जांच करना उचित होगा।

मंगोल चंगेज खाँ और बारलास जाति का तुर्क तैमूर लंग दोनों ही अपने अथक परिश्रम दुर्दभ्य साहस और खौफनाक भंयकरता के लिए प्रसिद्व थे। पश्चातवर्ती निर्बल और पतनोन्मुख मुग़ल बादशाहों को छोड़कर बाबर से औरगजेब तक के मुग़ल बादशाहों में अपने पूर्वजों की ये विशेषताएं काफी हद तक विद्यमान रही यद्यपि समय के थपेड़ों के साथ पड़े अन्य प्रभावों ने इनकी आदिम खूंखारता पर मानवता के लक्षणों को भी प्रज्जवलित किया।

चंगेज खाँ की धार्मिक नीति

चंगेज खाँ के बनाये कानून (यस्सा) का अध्ययन करने के यह स्पष्ट है कि

भारतीय मुग़लों की मानवीय प्रवृत्तियों का उनके पूर्वजों में निरंतर अभाव नहीं था। मिस्टर हैरोल्ड लैम्ब ने बताया- एक मनोवैज्ञानिक शायद यही कहेगा कि यस्सा के तीन ध्येय थे 1. चंगेज खाँ के आदेश माने जाए। 2. धुमककड जातियां आपस में मिल-जुल कर रहे। 3. अपराधियों को निर्मम दण्ड दिया जाए। चंगेज खाँ स्वंय एक खूखार और हिंसक शासक के रूप में प्रसिद्व भले ही रहा परंतु वह अपनी जनता को उनकी रक्त पात की अतीव महत्त्वकांक्षाओं के लिए रोकता था। भारतीय मुग़लों में दो विशेषताएं मुख्य पाई जाती थी, वे एक ओर लूटमार करने में विशेष आनंद अनुभव करते तो वहीं दूसरी ओर उनमें दूसरी मुस्लिम जातियों की अपेक्षा धार्मिक सहिष्णुता के भाव अधिक थे। चंगेज खाँ ने अपनी जाति के लिए मुख्य रूप से तीन विचार प्रस्तुत किए जो पीढ़ियों का सफर तय करके भारतीय मुग़लों को विरासत में मिलें 1. जो स्वत: अधीन होना चाहता है उसको न मारा जाए 2. जो सामना करे उससे निरंतर युद्व किया जाए 3. सभी धर्मो का एक माना जाए यह तीसरा बिंदु चंगेज खाँ की धार्मिक सहिष्णुता की नीति का परिचायक है। ये बड़े ही आश्चर्य की बात है कि तेरहवी शताब्दी के शुरूआती दशकों में मध्य एशिया को रौदने वाली ताकत, ऐसी ताकत जो जहाँ जाती वहाँ की सभ्यता और संस्कृति को खत्म कर देती, अपने दुश्मनों के विरूद्व किए जाने वाले कृत्यों के विपरीत अपनी प्रजा के लिए धार्मिक सहिष्णु थी। बाबर सहित उसके वंशजों में कम या ज्यादा भाग में इसी धार्मिक सहिष्णुता की नीति का प्रभाव मिलता है।

तैमूर लंग की धार्मिक नीति

भारतीय मुग़लों की अधिकांश अप्रिय विशेषताएं तैमूर लंग की विरासत से आई दिखती है। भारतीय मुग़लों की कट्टरता, निर्दयता, अर्थलोलुपता विजय के प्रति आदिम हिंसात्मक प्रवृत्ति ये सभी तैमूर की विरासत में से अधिक आई है। मुलफुज़ात-ए-तैमूरी में खुद लिखता है"हिन्दुस्तान पर आक्रमण करने का मेरा उद्देश्य यह है कि काफिरों पर चढ़ाई की जाए और मोहम्मद साहब के कानूनानुसार इस देश का लोगों को धर्म परिवर्तन किया जाए। इस देश को हम बहुदेववाद और कुफ्र की गंदगी से हटाकर पवित्र कर दे तथा इनके मंदिरों और मूर्तियों को तोड़कर खुदा के सामने गाजी और मुजाहिद बन जाए।" तैमूर की भारत विजय की वृतान्त उसकी असीम क्रूरता निर्दयता और घोर धार्मिक असहिष्णुता का वृतान्त है जो न ही पढ़ने में और न ही सुनाने में रूचिकर लगता है। भटनैर के किले की जीत के बाद तैमूर लिखता है" इस्लाम की तलवार को काफिरों के रक्त से धोया गया। तमाम

माल असबाब कोष और अन्य सामान जो वर्षो से दुर्ग से संग्रहित थे मेरे सैनिको ने लूट लिया। उन्होंने न आग लगाकर मकानों को राख कर दिया और किले को भस्मीभूत कर दिया।'' तैमूर के हमले के बाद के किसी भी हिन्दुस्तानी शहर और इलाके का यही हाल होता था। तैमूर की क्रूरता की पराकष्ठा वह आदेश था जो उसने दिल्ली पर हमले के ठीक पूर्व अपने खेमे के सैनिकों को दिया और जिसके परिपालन में एक लाख युद्वबंदियों का कत्ल कर दिया गया। लेकिन जो दुश्मन की खोपड़ियों की मीनारे बनवाता था, वही इमारतें भी बनवाता था। हिन्दुस्तान से लौटते वक्त तैमूर अपने साथ बड़ी तादात में कारीगर और मिस्त्री ले गया जिनके द्वारा उसने समरकंद में अनेक भव्य इमारतों, जिनमें प्रसिद्व मस्जिद-ए-जायी भी है, का निर्माण कराया।

दरअसल तैमूर का मूल आकांक्षा हिन्दुस्तान का धन लूटना था, जिसे उसने धर्म की आड़ में पूरा किया।'' उसने सरदारों एवं योद्वाओं का समर्थन पाने के लिए धर्म के नेतृत्व का ढोंग रचाया क्योंकि ये (सरदार) इस सुदूर भूमि (हिन्दुस्तान) पर उसके प्रस्तावित आक्रमण के पक्ष में नहीं थे।'' उसने धन लूटने के प्राथमिक उद्देश्य को धर्म की आड़ में पवित्र बना दिया। तैमूर खुद लिखता है'' हिन्दुस्तान में आने और यह श्रम तथा कष्ट उठाने का मेरा उद्देश्य दो काम करने का है। प्रथम तो मै इस्लाम धर्म के शत्रु काफिरों के साथ युद्ध करू और ऐसा धार्मिक युद्ध करके परलोक में पुरस्कार प्राप्त करने का अधिकारी बनूं। दूसरा उद्देश्य सांसारिक है वह यह कि इस्लाम की सेना को काफिरों के धन और बहुमूल्य पदार्थो को लूटने का अवसर प्राप्त हो। जो मुसलमान है, अपने धर्म के लिए लड़ते है, उनको लूट के माल पर उतना ही अधिकार है जितना अपनी मां के दूध पर।'' भारतीय मुग़ल शासकों के अपनी सत्ता की जड़े मजबूत करने और विद्रोहियों को कुचलने के अपने सांसारिक उद्देश्यों को बतर्जे-तैमूर बखूबी धार्मिक उद्देश्य में परिवर्तित करने के उदाहरण मिलते है। बाबर का सांगा और मेदिनी राय के खिलाफ युद्व को जेहाद कहना, अकबर के द्वारा हेमू को स्वंय मार कर गाजी उपाधि ग्रहण करना जहांगीर द्वारा मेवाड, कांगडा और अजमेर विजय उपरांत वहाँ मंदिरों को नष्ट भ्रष्ट करना, शाहजहां द्वारा बनारस के मंदिर तुडवाना और औरंगजेब के द्वारा अपने शासन को सुदृढ़ करने के उद्देश्य से कट्टर धार्मिकता का पालन करना जैसे उदाहरण पर्याप्त है।

कुल मिलाकर यह लिखना अनुचित न होगा कि भारतीय मुग़लों में चंगेज

खाँ और तैमूर लंग दोनों की विशेषताओं और गुणों का संगम था। भारतीय मुग़ल शासकों की धार्मिक नीति में एक ओर जहाँ चंगेज खाँ की अपनी प्रजा के प्रति धार्मिक साहिष्णुता की नीति के बीज तत्व मौजूद थे तों वही दूसरी ओर तैमूर लंग के द्वारा प्रणीत सत्ता की स्थापना और धन की लूट के लिए कट्टर धार्मिकता का आवरण ओढ़ने की कला भी मौजूद थी। समय और परिस्थिति के अनुसार भारतीय मुग़ल शासकों ने इन दोनों विरासतों का बखूबी प्रयोग किया।

बाबर का हिन्दुओं के प्रति दृष्टिकोण

यद्यपि बाबर एक कट्टर सुन्नी मुसलमान था तथापि उसने अपने पूर्वजों के उदार धार्मिक दृष्टिकोण को अपनाया था। ईश्वर के प्रति वह श्रद्धावान था और ईश्वर की महान शक्ति में वह विश्वास रखता था। उसकी आत्म कथा में ऐसे अनेक वर्णन है जिनसे हमें ईश्वर के प्रति उसकी आस्था का आभास मिलता है। पानीपत की पहली लड़ाई (1526) जीतने के बाद बाबर ने लिखा "काबुल 910 हिजरी में जीता था तभी से हिन्दुस्तान की हौस थी 925 हिजरी में मैंने दो-तीन घड़ी के भीतर बजौर को तलवार के बल पर लिया और वहाँ लोगो को मारकर बहीरा गया था। तब से अब तक सात-आठ बरसों में हिन्दुस्तान पर पाँच धावे किए। पाँचवी बार अल्लाह ने निगाह फेरी, इब्राहिम जैसे बैरी हराया और हिन्दुस्तान जैसा लंबा-चौड़ा मुल्क दिलाया।" ईश्वर के प्रति गहन आस्था रखने वाला बाबर एक कट्टर सुन्नी मुसलमान शासक था, किन्तु वह धर्मान्ध नहीं था, तथा अन्य कट्टर पंथी मुस्लिम शासकों की भांति गैर-मुस्लिमों विशेषकर हिन्दुओं के विरूद्व द्वेष नहीं रखता था। बाबर कहता था - " ईश्वर की इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता। हमे चाहिए कि अपने को उसने आश्रय में छोड़कर आगे बढ़ते जाएं।" अपनी साधारण से साधारण सफलता को वह ईश्वर की अनुकम्पा का परिणाम समझता था। इब्राहिम लोदी पर विजय प्राप्त करने के उपरांत उसने राजधानी में प्रवेश करने के पूर्व दिल्ली के निकट स्थित मुस्लिम संतों की दरगाहों के दर्शन किए थे। खानुआ के युद्व के पूर्व उसका मद्यपान त्यागना ईश्वर के समक्ष अपने पापों का वास्तविक प्रायश्चित का ही एक रूप था।

मध्ययुग की धार्मिकता

बाबर के धार्मिक विचारों और उसके हिन्दुओं के प्रति दृष्टिकोंण पर विचार करने के पहले यह भी आवश्यक है कि जिस युग में बाबर का जन्म हुआ उस युग का धार्मिक वातावरण और विचार धारा की संक्षिप्त जानकारी प्राप्त की जाए।

बाबर के धार्मिक विचारों पर अपने युग के साथ-साथ अपने पूर्वजों एंव परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ा। वास्तव में 15 वीं और 16 वी शताब्दी एक संधि युग की शताब्दियां रही है। इस काल में संसार के सभी देशों में लगभग एक जैसा धार्मिक वातावरण था। विभिन्न धर्मो और मतों को मानने वाले धर्म के मूल सिद्धांतों से हटकर परस्पर लड़ रहे थे। धर्म के प्रति उदार दृष्टिकोण रखने वाले एवं संकीर्ण दृष्टिकोण रखने वाले के मध्य गहरे मतभेद थे। विभिन्न धर्मो को मानने वाले शासक वर्ग अपने-अपने धर्मो की दुहाई देकर अपनी सत्ता कायम रखने की कोशिशें कर रहे थे। इन सब के बावजूद परस्पर विरोधी मतावलम्बियों और कट्टर धार्मिक ताकतों के लगभग सभी मध्य एवं दक्षिण एशियाई देशों में समाज का एक ऐसा वर्ग भी उपस्थित था जो कि ईश्वरीय प्रभुसत्ता, एकेश्वरवाद, धार्मिक सहिष्णुता और भ्रातृत्व-बंधुत्व की पक्षधरता में लगातार संघर्षरत था। समाज के इसी उदार वादी/सुधारवादी वर्ग में से अनेक ऐसे साहित्य का दार्शनिक एवं संत हुए जिन्होंने पुरानी और नई मान्यताओं को समन्वित करने और उनमें संतुलन बनाये रखने के निरंतर प्रयास किए। ऐसे ही व्यक्तियों के निरंतर प्रयासों से मध्य-दक्षिण एशिया तथा हिन्दुस्तान में धार्मिक संघर्षो के दौरान समाज में वैसी विषमता नहीं उत्पन्न हो पाई जैसा कि इसी काल में योरोप एवं अन्य पश्चिमी एशियाई देशों में दिखलाई पड़ती है।

बाबर के धार्मिक विचार

बाबर अपने पूर्वजों की परम्परानुरूप उदार धार्मिक दृष्टिकोण वाला शासक था। वह अपने पिता उमर शेख की ही तरह नक्शबंदी-सिलसिला जो मध्य एशिया में जेम्सारटेज के उस पार के देशों में प्रचलित एक उदार दृष्टिकोण वाली विचारधारा थी, का अनुयायी था। इसी सिलसिला के ख्वाजा उबैदुल्लाह अहरार का प्रभाव उमर शेख मिर्जा पर इतना अधिक था कि बाबर का नामकरण भी उन्होंने ही किया था। बाबर स्वंय ख्वाजा उबैदुल्लाह अहरार से प्रभावित रहा और उनके पुत्र एवं पौत्रो के प्रति विशेष आदर भाव रखता था। बावजूद इसके यह लिखना अनुचित न होगा कि उस पर किसी एक विचारधारा का सम्पूर्ण प्रभाव नहीं था। अपने समय के साधारण मुसलमानों की भांति वह भी नियम पूर्वक नमाज पढ़ता था, रमजान के महीने में रोजा रखता था, सूफी संतों की मजारों के सामने सर झुका कर श्रद्वा प्रकट करता था और धार्मिक व्यक्तियों को बड़े आदर से देखता था।

बाबर सुन्नी मत को मानने वाला था, लेकिन तैमूरी-संस्कारों के चलते

सांसारिक उद्देश्य उसके लिए अधिक महत्त्वपूर्ण रहे, जिसकी पूर्ति हेतु उसने अपने धार्मिक उद्देश्यों में एक विशिष्ट किस्म का लचीलापन पैदा किया। इसका एक बेहद महत्त्वपूर्ण प्रमाण समरकंद विजय के लिए ईरान के शाह से की गई संधि में मिलता है। सन् 1511 में समरकंद की उसकी अंतिम विजय के लिए उसने परिस्थिति वश ईरान के शाह इस्माइल सफवी से सहायता मांगी। समरकंद विजय के बाद उसने संधि की शर्तो के अनुरूप शिया धर्म ग्रहण कर शिया टोपी पहनी, अपने सिक्कों पर शिया मत के मूल मंत्र खुदवायें और अली मुर्तजा के नाम का खुतबा भी पढ़ा। ईरानी सरदारों के समरकंद से चले जाने के बाद जब उसे यह ज्ञात हुआ कि उसकी यह हरकते जनता को उचित नहीं लगी तो उसने सुन्नी धर्मोनुकूल क्रियाएं की और सुन्नत का मुकुट ग्रहण किया। समरकंद में उसने जिस तरह का व्यवहार किया उससे एक बात स्पष्ट हो गयी कि वह अपने राजनीतिक लक्ष्यों को प्राप्ति हेतु अपना धर्म छोड़ सकता है और पुनः अपना भी सकता है। धर्म उसके लिए राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति का एक साधन था जैसा कि दूसरे अन्य मध्यकालीन शासकों का भी था। यह घटना उसके धार्मिक दृष्टिकोण में उपस्थित एक विशिष्ट लचक का प्रकटीकरण भी था। वास्तविक धर्म उसके लिए एक निजि विचार की तरह था।

जैसा कि प्रारंभ में लिखा गया भारतीय मुग़लों में चंगेज खाँ और तैमूर दोनों के धार्मिक दृष्टिकोण का अद्भुत समन्वय प्राप्त होता है। बाबर के हिन्दुओं के प्रति दृष्टिकोण इस समन्वय का एक बेहतरीन नमूना है।

हिन्दुस्तान आने के उद्देश्य

बाबर का हिन्दुस्तान आने का उद्देश्य लूटमार करना नहीं था, वह हिन्दुस्तान में अपना राज्य स्थापित करना चाहता था। अंदीजान (फरगान राज्य की राजधानी) की गद्दी में सन् 1494 में अपने पिता की मृत्यु के बाद बैठे बाबर का प्रारंभिक जीवन यायावर रहा। वह एक स्थान से दूसरे स्थान तक लगातार भटकता रहा, सन् 1502 में सर-ए-पुल की लड़ाई में शैबानी खाँ के हाथों पराजित बाबर ने दूसरी बार समरकंद खोया। सन् 1502 से सन् 1504 का समय बाबर के लिए बेहद कष्ट पूर्ण था। लगभग दो सौ साथियों को साथ लिए बाबर बिना राज्य, बिना कोष, बिना सेना के शरण और सहायता की तलाश में भटकता रहा। सन् 1504 में काबुल पर कब्जे के बाद बाबर के यायावरी जीवन को कुछ स्थायित्व प्राप्त हुआ परंतु उसकी असीम महत्त्वाकांक्षा उसे चैन से बैठने नहीं देती थी। तैमूर का वंशज तैमूर की

राजधानी समरकंद जीतने को बेताब बैठा था लेकिन उसका कट्टर दुश्मन शैबानी खाँ उजबेक रास्ते का सबसे बड़ा कांटा बना मौजूद था। शैबानी खाँ उसे (बाबर को) काबुल में भी चैन नहीं लेने देता था। सन् 1508 में शैबानी खाँ के द्वारा कंधार घिरने की खबर सुनकर बाबर ने अपने वजीरो से सलाह की। खुद बाबर लिखता है- " उजबेक जैसे अजनवियों से पाला पड़ा है, वे न जाने कितने पुराने बैरी है, उनका अगुआ शैबानी खाँ जैसा घाघ है, तैमूरियों के सारे मुल्क उसने ले लिए है, तुर्को और चुगताइयों में कोई मजबूरी से तो कोई अपने मन से उसके साथ हो गया है। एक मैं हूं जो काबुल में पड़ा हूँ, बैरी जोरदार है और मैं निहायत कमजोर हूँ, न सुलह की कोई राह है और न सामना करने का ताब है। ऐसे में कोई और जगह अपने लिए खोज लेनी चाहिए। यही समय है कि जो करें, कर सकते है और बैरी से दूर हो सकते है। राय हुई कि हिन्दुस्तान या बदख्शां में से किसी एक ओर निकल चलें। कासिम बेग और शेरम तगाई ने तो बदख्शां की ही राय दी पर औरों ने हिन्दुस्तान पसंद किया और पहले लमगान की ओर चलने की सलाह दी।" इस पूरे वाकये से स्पष्ट है कि शैबानी खाँ के निरंतर धावे बाबर को लगातार दक्षिण की ओर ढकेल रहे थे। बाबर एक सुरक्षित आश्रय स्थल की खोज में था और उसकी यह इच्छा (मजबूरी में सही) सन् 1526 में पूरी हुई।

सन् 1508 में शैबानी खाँ कंधार से वापस चला गया। बाबर अदीनापुर तक आया, शैबानी खाँ के वापस जाने की बात सुनकर खुद वापस काबुल चला गया। शैबानी खाँ की ईरान के शाह ईस्माइल के हाथों मृत्यु के पश्चात् शाह ईस्माइल की ही सहायता से बाबर ने पुनः समरकंद जीता (सन् 1511)। आठ माह बाद समरकंद तीसरी बार हारने के पश्चात् बाबर ने अपने पुरखों की राजधानी और राज्य को जीतने का विचार सदा के लिए छोड़ दिया। बाबर लिखता है - "इधर से अब निराशा ही निराशा थी, काबुल में महत्त्वकांक्षाओं का अट पाना संभव न था, इसलिए इलाही इशारे पर चलकर अपना ध्यान हिन्दुस्तान जीतने के ऊपर लगाया।" बाबर लगातार हिन्दुस्तान जीतने की सोच रहा था, वह हिन्दुस्तान पर तैमूर की विजय (1398 ई०) को अपनी जायज विरासत मानता था। वह हिन्दुस्तान को अपनी खोयी रियासत और हिन्दुस्तानियों को अपनी प्रजा मानता था और इसीलिए उसने सन् 1519 के हिन्दुस्तान पर पहले हमले में बजौर जीतने के बाद जनता पर लूटमार नहीं होने दी। बकौल बाबर " मैं तो मुद्दतों से हिन्दुस्तान लेने की सोच रहा था। दूसरी बात यह कि बहीरा, खुशाव, चीनाब और चीनीवत को मिलाकर मुल्क

की यह पूरी पट्टी कभी तुर्कों की थी। इसलिए इसे हम अपना ही माने हुए थे। मुझे पूरा भरोसा था कि चाहे तलवार से हो, चाहे सुलह से इसे तो हम लेंगे ही। इसलिए इन पहाड़ों के साथ अच्छा सालूक करना मेरा काम था। मैंने ताकीद कर दी कि इनकी एक भी भेड बल्कि धागे के किसी टुकडे या टूटी सुई पर भी कोई आंख न उठाए।....इस मुल्क को हम अपना जानते थे, बचा, बचाकर रखा, कोई उथल-पुथल न होने दी।'' कुल मिलाकर निष्कर्ष में यह लिखा जा सकता है कि मध्य एशिया की अपनी असफलताओं से निराश बाबर को अपनी महत्त्वकांक्षाओं की पूर्ति की संभावनाएं हिन्दुस्तान में ही नजर आ रही था। वह हिन्दुस्तान में एक राज्य स्थापित करना चाहता था और वह ऐसा कर पाने में सफल भी हुआ। वह यहाँ की जनता को अपनी प्रजा समझता था और उसके प्रति (जनता के) विशेषकर हिन्दुओं के प्रति उदार दृष्टिकोण रखता था, जो उसकी वसीयत से भी स्पष्ट है।

जिहाद घोषणा के सैन्य-राजनीतिक उद्देश्य

हिन्दुस्तान में बाबर 4 वर्ष से भी कम समय रहा। इस पूरी अवधि में दो बार जिहादइ की घोषणा के अतिरिक्त उसने कभी भी इसका सहारा नहीं लिया। पहली बार जिहाद की घोषणा उसने राणा सांगा के विरूद्व खानुआ के युद्व (सन् 1527) में की थी। उसकी पूरी सेना राजपूतों की वीरता के किस्से सुनकर हतोस्साहित थी। राणा सांगा अपने समय का अपराजेय योद्वा था बाबर के साथ युद्व के पूर्व वह एक भी युद्व नहीं हारा था। राणा सांगा ने सुल्तान इब्राहिम (जिसे बाबर ने पानीपत में 1526 ई० में हराया था) समेत सम्पूर्ण उत्तरी हिन्दुस्तान के छोटे-बड़े सुल्तानो के खिलाफ अठारह लड़ाईयां जीती थी। राणा सांगा के अग्रिम दस्ते ने जिस तरह एक झपाटे में बयाना का किला जीता उससे बाबर की सेना में राजपूतों के शौर्य को लेकर एक किस्म की दहशत फैल गई। बाबर लिखता है- ''सबने हिन्दुओ की जवां मर्दी की और बेदरदी से मर करने में उनके खुले हाथों की बड़ी बड़ाई की राणा.... का इतने झपाटे से आगे बढ़ना बयाना में उसके करतब.... यह सब देख सुनकर लश्कर कुछ-कुछ जी छोटा करने लगा.... छोटे-बड़े सब बहुत ही मन मारे, जी हारे और डरे-डरे से थे। एक बात ऐसी न करते जिसमें मरदानगी झलके। एक राय ऐसी न देते जिससे ढाढस बंधें।'' घबराहट से भरे इसी माहौल में काबुल से आए बाबर के दोस्त कासिम हुसैन सुल्तान का साथी मुहम्मद शरीफ जो ज्योतिषी भी था, ने यह भविष्यवाणी की कि आजकल मंगल ग्रह पश्चिम दिशा में है जो भी प्रतिकूल दिशा से युद्व करने जाएगा उसकी पराजय निश्चित है। राजपूतों की वीरता

से घबराये सैनिकों में इस भविष्यवाणी ने नैराश्य उत्पन्न कर दिया। इसे दूर करने के लिए बाबर ने वही किया जो एक मध्ययुगीन चतुर सेना नायक को करना चाहिए। उसने गंभीरतापूर्वक मद्यपान त्यागने की प्रतिज्ञा का सफलता पूर्वक नाटक किया, मद्यपान में प्रयुक्त मूल्यवान सोने-चांदी की सुराहियां, रकाबियों, प्याले आदि तोड़कर गरीबों में बटवा दिए, लगभग तीन सौ सरदारों ने भी अनुसरण किया। मुस्लिमों पर से तमगा (स्टैम्प टैक्स) हटाने की भी घोषणा की। इन दोनों प्रयासो का सैनिकों पर पर्याप्त प्रभाव उत्पन्न होने के अभाव ने उसे तीसरे उपाय की ओर प्रेरित किया, और फिर बाबर ने अपना ऐतिहासिक भाषण दिया-"अमीरों और सैनिकों! प्रत्येक व्यक्ति जो इस संसार में आता है, नाशवान है।... सम्मान पूर्वक मरना अप कीर्ति लेकर जीने से कितना अच्छा है सर्वश्रेष्ठ परमात्मा ने प्रसन्न होकर हमें इस कार्य ने नियोजित किया है, यदि हम मारे गये तो शहीद कहलाएगे और यदि विजयी हुए तो गाजी। हम सबको एक होकर ईश्वर के नाम शपथ लेनी चाहिए कि जब तक हमारे शरीर में प्राण होंगे तब तक हम इस प्रकार की मृत्यु से विमुख नहीं होंगे और न ही युद्व की कठिनाईयों से मुख मोडेंगे।" इससे बाबर के सैनिकों के साहस में वृद्वि हुई, उन्होंने आवेश में कुरान शरीफ पर कसमें खाई, अपनी स्त्रियों को तलाक दिया, फातिहा पढ़े और कहा कि हम लोग शत्रु के साथ लड़ते हुए या तों हम सफल होगे या फिर शहीद होंगे। इसके साथ ही बाबर ने अपने सैनिकों के उत्साह वर्धन हेतु राणा सांगा के विरूद्व इस युद्व को जिहाद घोषित किया तथा 12 मार्च 1527 को अनेक काफिरो के सिर कटवा दिए। इस प्रकार स्पष्ट है कि अपने निरूत्साहित सैनिकों में उत्साह वर्धन के लिए बाबर ने एक चतुर राजनीतिक की तरह राणा सांगा के खिलाफ लड़ाई को जिहाद की शाब्दिक अभिव्यक्ति दे दी। इसी तरह चंदेरी के मेदिनी राय के खिलाफ युद्व में भी अपने सैनिकों में वीरत्व की आग जलाने के लिए बाबर ने 9 दिसम्बर 1527 को जिहाद की घोषणा दी। इन दोनों ही युद्वों के बाद बाबर ने मारे गए राजपूतों के सिरों की मीनार (कल्ला मीनार) युद्वभूमि में बनवाई, इस कृत्य को भारतीय लेखकों ने क्रूरता का परिचायक बताया है। लेकिन तत्कालीन मध्य एशियाई शासक युद्व जीतने के बाद हारी हुई सेना के मारे गये व्यक्तियों की सिरों की कल्ला मीनार बनवाते थे, बाबर ने इस परम्परा का अनुसरण किया था। साथ ही उसने युद्व के मान्य नियमों का भी भलिभांति पालन किया।

हिन्दुओं के प्रति बाबर का व्यवहार

मध्ययुगीन महान सेना नायक बाबर के ऊपर समकालीन राजनीतिक, धार्मिक सांस्कृतिक पर्यावरण का पर्याप्त प्रभाव था, उसके बावजूद वह अपने पूर्ववर्ती मुस्लिम शासकों की तुलना में हिन्दुओं के प्रति अधिक उदार था। यद्यपि राणा सांगा और मेदिनी राय के खिलाफ हुए युद्धों को उसने जिहाद कहा, लेकिन ऐसा कहने के ऊपर उल्लेखित कारणों से स्पष्ट है कि उसके अपने सैन्य राजनीतिक महत्त्व थे। दरअसल इन दोनों मुद्दों की गणना धार्मिक युद्धों में नहीं की जा सकती, बाबर ने युद्ध जीतने के लिए धर्म का सहारा लिया। हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि पानीपत खानुआ और चंदेरी की लड़ाईयों में न सिर्फ कुछ हिन्दुओं ने बाबर का साथ दिया बल्कि उसके विरूद्ध स्थानीय मुसलमान भी लड़े। इन युद्धों के पश्चात अनेक हिन्दू राजाओं, जागीरदारों, जमींदारो, ने बाबर के अगले अभियानों में उसकी सहायता की। मध्य युग के कुछ धर्मांध विजेताओं की भांति बाबर ने हिन्दुओं को जबरदस्ती मुसलमान बनाने का कार्य नहीं किया और न ही हिन्दू संतो सन्यासियों पर किसी प्रकार के प्रतिबंध लगाए, न ही हिन्दुओं को उनके धर्म पालन के लिए मौत के घाट उतारा और न हीं उसने ऐसा कोई आदेश दिया हो जिससे कि उसकी धार्मिक संकीर्णता का पता चलता हो। उसके शासन काल में हिन्दू साधू सन्यासी स्वतंत्रा पूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान में भ्रमण करते रहे। पंजाव जहाँ उसका पूर्णरूपेण प्रभुत्व था गुरूनानक देव अपने सिद्वांतों का प्रचार-प्रसार पूरी स्वतंत्रता से कर रहे थे। ये बाबर के ही उदार धार्मिक दृष्टिकोण का परिणाम है कि आगरा में बेहद नजदीक मथुरा के मंदिरो पर उसके शासनकाल में कोई आंच नहीं आई।

इन ऐतिहासिक तथ्यों के साथ ही इतिहास कारों द्वारा उसे (बाबर) धर्मांध बताने के लिए यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि उसके (बाबर के) शासनकाल में मंदिर तोड़े गए या मंदिरों को मस्जिदों में बदल दिया गया। उदाहरणार्थ- सम्भल विजय के बाद बाबर के कमाण्डर हिन्दू बेग ने एक मंदिर को मस्जिद में बदल दिया। चंदेरी जीतने के बाद बाबर ने सेनानायक सद्र शेख जैन ने अनेक हिन्दू मंदिरों का ध्वंस किया। बाबर के आदेशों का पालन करते हुए उसके एक सेनानायक मीर बांकी ने सन् 1528-29 में बाबरी मस्जिद तामीर की। स्वंय बाबर ने ग्वालियर के निकट ऊर्वा में अनेक जैन मंदिरों को तोड़ा। इन कुछ अपवादों को छोड़कर बाबर पर हिन्दुओं के विरूद्ध धर्मान्धता के उदाहरण नहीं मिलते। इन कार्यो पर भी एक प्रश्न उठता है कि बाबर की मंदिरों के विरूद्ध क्या कोई नीति थी?

बाबर की आत्मकथा के अध्ययन से स्पष्ट है कि उसने मंदिरों को तोडने अथवा उन्हें मस्जिदों में बदलने के कोई आदेश नहीं दिए। ग्वालियर के निकट ऊर्वा में हिन्दू मंदिरों का भ्रमण करते समय उसने कुछ मूर्तियों का गिराने के आदेश दिए थे उनके पीछे भी पुख्ता कारण थे। बाबर स्वंय लिखता है "ऊर्वा के तीन ओर बदरंग लाल पत्थर के पहाड़ है-, उसमें तीनो ओर छोटे-बड़े बहुत से बुत कटे हुए है दखिन का एक बड़ा बुत कोई बीस कारी (नाप की एक इकाई, कनिघम के अनुसार 57 इंच) का है, सभी बुत चम- नंगे बने है..... मैंने उन्हें तुड़वा दिया।" (कनिंघम के अनुसार सिर्फ सिर तोड़े गए थे बाद में जैनियों ने पलस्तर लगाकर ठीक कर लिया) स्पष्ट है इन जैन मंदिरो की मूर्तियों को नग्न होने के कारण तोड़ा गया था। ग्वालियर में ही बाबर ने ग्वालियर नरेश मान सिंह की गूजर पत्नि मृगनयनी के द्वारा निर्मित तेली मंदिर या गूजरी मंदिर का भी भ्रमण किया लेकिन उसे कोई नुकसान नहीं पहुंचाया गया। आयेध्या में मीरबांकी और संभल के हिन्दुबेग के द्वारा मंदिरो को तोड़कर मस्जिद के कार्यो की बाबर द्वारा अपनी आत्मकथा में वर्णन न करना एक आश्चर्य है। क्योंकि बाबर ने छोटी से छोटी बात का भी वर्णन अपनी आत्मकथा में किया है। फिर भी एक बात निश्चित है कि बाबर ने मंदिरों को नष्ट-भ्रष्ट करने की कोई नीति नहीं बना रखी थी और न ही वह हिन्दुओं से दुर्व्यवहार करता था। इसके विपरीत उसने अपने मुस्लिम और हिन्दू अमीरों को पर्याप्त बराबरी का महत्त्व दिया। बंगाल पर हमाले के पूर्व उसने सभी से सलाह ली। बाबर लिखता है - "उन्नीसवी (2 दिस. 1528) की मीरजाओं, सुल्तानों तुर्क बेगों और हिन्दी अमीरों की सलाह से यह ठहरी कि असकरी मुझसे पहले पूरब जाए और गंगा पार के सुलतान और अमीर उसके साथ हो ले और फिर जिधर नसीब ले जाय जाये।" उस समय कम से कम छैः हिन्दू राजा जिसमें रणथम्मौर का राणा विक्रमाजीत (राणा सांगा का द्वितीय पुत्र) भी सम्मिलित था, ने न सिर्फ उसकी अधीनता स्वीकार करके कर देना मंजूर किया बल्कि उसे सैन्य सहयोग भी करते थे।

इस तरह यह लिखना अनुचित न होगा कि बाबर का अपने युग के अन्य मुस्लिम शासकों की धर्मान्धता एवं हिन्दुओं के प्रति दुव्यर्वहार का अत्यन्त नाममात्र का प्रभाव था जो उस युग में उसके चरित्र कर एक विलक्षण विशिष्टता थी। जैसा कि पूर्व में लिखा गया है यह सहिष्णुता उसे चंगेजी प्रभाव से प्राप्त हुई थी तथा जिसमें मध्ययुग की सूफियाना सुंगधी सम्मिलित है।

बाबर की नीति

बाबर ने धार्मिक मसलो एवं धर्म-राजनीति के संबंध में एक बेहद चतुराई पूर्ण और समन्वित नीति पर कार्य किया था। बाबर एक मध्ययुगीन शासक था तथा उसने जीवन का अधिकांश समय मध्य एशिया के उन आदिम कबीलों के बीच गुजारा था जहाँ ''केवल तलबार का काम था कलम का नहीं।'' बावजूद इसके उस पर मध्ययुगीन धर्मान्धता का प्रभाव अत्यन्त कम ही था। वह हिन्दुस्तान का प्रजा को अपनी प्रजा मानता था और एक राजा की हैसियत से वह यह मानता था कि प्रजा का पालन करना उसका धर्म है। हिन्दुस्तानी जनता के प्रति उसकी नीति विशेषकर धार्मिक नीति का खुलासा उसकी वसीयत से होता है। जो उसने हुमायूं के नाम लिखी थी।

बाबर की वसीयत

जहीरूद्दीन मुहम्मद बाबर बादशाह बहादुर गाजी सं० 933 हिजरी।

(यह गोपनीय आदेश पत्र जहीरूद्दीन मुहम्मद बादशाह गाजी ने शाहजादा नसीरूद्दीन मुहम्मद हुमायूं (ईश्वर उसको चिरायु करे) को राजकाज को सुदृढ करने के उद्देश्य से लिखा)

हे मेरे पुत्र! हिन्दुस्तान में विभिन्न धर्मो के लोग निवास करते है। अल्लाह को धन्यवाद दो कि दुनिया के शंहशाह ने इस देश का शासन तुम्हारे हाथों में दिया है। इसलिए तुम्हारा फर्ज है कि :-

1. धार्मिक पक्षपात को तुम्हारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं होना चाहिए और तुम्हे निष्पक्ष होकर न्याय करना चाहिए। तुमको जनता के विभिन्न धार्मिक वर्गो की भावनाओं का ध्यान रखना चाहिए।
2. विशेषकर तुमको गौ-वध से दूर रहना चाहिए। ऐसा करोगे (गौ-वध कराओगे) तो लोगो के दिलो में तुम्हे जगह नहीं मिलेगी। इससे (गौ-वध बंदी) इस देश के लोग तुम्हारे कृतज्ञ होंगे और इस देश के लोग शाही शुभ व्यवहार द्वारा राज्य से कृतज्ञता पूर्वक बंध जाएंगे।
3. शासनाधीन किसी भी सम्प्रदाय के मंदिर, पूजाघरों प्रार्थना घरों को ध्वस्त नहीं करना तथा ऐसा न्याय करना जिससे प्रजा संतुष्ट रहे। बादशाह और प्रजा का संबंध अच्छा बना रहे और देश में शांति और संतोष रहे।

4. इस्लाम का प्रचार और प्रगति अत्याचार की तलवार की अपेक्षा अनुग्रह के शस्त्र से कही अधिक हितकर है।
5. तुम शिया सुन्नी के पारम्परिक झगड़ों की ओर ध्यान मत देना क्योंकि वे इस्लाम की प्रचलित शाखाएं है, इससे इस्लाम कमजोर होगा।
6. अपनी प्रजा की विशेषताओं को ऐसे मानना जैसे वर्ष की विभिन्न ऋतुओं को, विभिन्न सम्प्रदायों को मानने वाली प्रजा का चार तत्वों के अनुसार संगठन करना ताकि साम्राज्य का शरीर व्याधियों से सुरक्षित रहे।

आदरणीय अमीर तैमूर साहब किरान सानी का शासन विधान अपनी दृष्टि के सामने रखना ताकि शासन कार्य सुदृढ़ हो।

प्रथम जमादी-उल-अव्वान सं० 935 हिजरी (सन् 1923 में श्रीमति ए०एस० बेवरिज ने बाबर के वसीयत नामे के संबंध में कुछ विद्वानों द्वारा की छानबीन के आधार पर एक नोट तैयार किया। भोपाल रियासत की लाइब्रेरी में एक दस्तावेज मिला है।)

बाबर का यह वसीयतनामा उसके अनुभव की दीर्घता और समन्वित संतुलित धार्मिक नीति का परिचायक है। वसीयतनामा में जो भी परामर्श है वह सब उसके अनुभव से उत्पन्न है। बाबर ने अपने पुत्र एवं उत्तराधिकारियों को उन गढ्ढों में गिरने से बचने की चेतावनी दी और उन्हें परामर्श दिया कि वे न्यायप्रिय व उदार बनें।

अन्य इतिहासकारों का मत

बाबर की नीतियों के संबंध में अधिकाश इतिहासकारों में मत भिन्नता नहीं है। लेनपुल लिखते है-"वह (बाबर) मध्य एशिया और भारत, लुटेरों की फौज और शाही सरकार तथा तैमूर और अकबर के बीच की श्रृंखला था। उसकी नसों में मंगोल चंगेज और तुर्क तैमूर का खून बहता था और तातारी खूंखारपन के साथ ही उसमें फारसी सभ्यता और सौजन्यता भी थी।" बाबर की फारसी सभ्यता और सौजन्यता ने उसे कभी कट्टर धर्मान्ध मुसलमान बनने ही नहीं दिया। हिन्दुस्तान में दो-एक घटनाएं बाबर के काल में हो जाने के हम बाबर को धर्मान्ध कह सकते। मजुमदार, राय चौधरी व दत्त के अनुसार " वह बाबर अनावश्यक जनसंहारो तथा उद्देश्य हीन विध्वंश में प्रफुल्लित होने वाला निर्दय विजेता नहीं था। वह स्नेही

पिता दयालु स्वामी, उदार मित्र, ईश्वर में दृढ़ आस्था रखने वाली प्रकृति तथा सच्चाई का उत्कट प्रेमी था।'' ईश्वरी प्रसाद लिखते है- ''बाबर अपनी धार्मिक दृष्टि से एक कट्टर सुन्नी था परंतु उसकी संस्कृति ने उसे महमूद गजनी या उसके महान पूर्वज तैमूर की तरह कट्टर धर्मान्ध और खूंखार होने के पश्चात उसने हिन्दुओं की निंदा की और जिहाद को अपना धार्मिक कर्तव्य माना। उसके शासनकाल में हिन्दुओं को व्यवस्थित दण्ड का उल्लेख नहीं मिलता और न ही उसने धर्म के आधार पर किसी को दण्डित किया।'' एस०आर०शर्मा लिखते है- '' जब उसने काफिरों को मारा तो उनकी खोपड़ियों की मीनारे बनवाई कम से कम यह कार्य तो कट्टर मुसलमानों को प्रसन्न करने के लिए तो किया ही होगा। राजपूतों के साथ युद्व करना वह जिहाद समझता था..... चंदेरी के पतन के बाद उसने उन मस्जिदों की मरम्मत कराई जो मेदिनी राय के आदेश से गिराई गई थी, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता कि उसने कोई हिन्दू मंदिर तोड़ा हो या हिन्दुओं को केवल इसलिए दुख दिया हो कि वे हिन्दू धर्म को मानते है बल्कि एक स्थान पर तो यह भी उल्लेखित है कि वह हिन्दू और तुर्की अमीरों को जिन्होंने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली बराबर मानता था।'' रामप्रसाद त्रिपाठी ने बाबर के मूल्यांकन करते हुए लिखा- ''बाबर को अपने धर्म, मौलवियों शेखों और मुजतहिदों के प्रति गहरी आस्था थी, परंतु राजनीतिक क्षेत्र में वह अपना निर्णय उनके प्रभाव तथा संकीर्ण परामर्श से मुक्त रखता था।..... सुन्नी मत का मुस्लिम होकर भी वह उस धर्मोन्मत्त अत्याचार से बचता रहा जिससे ईरान और तूरान के शासन बदनाम हुए। यह सही है कि हिन्दुओं को काफिर और अफगानों को अविश्वसनीय मानता था, परंतु इन वर्गो के नेताओं और लोगों के प्रति उसका व्यवहार शील विनम्रता और सहानुभूति से प्रभावित रहा।... हमें कही यह प्रमाण नहीं मिलता कि धार्मिक अत्याचार बाबर की शासनिक नीति का अंग रहा हो या उसे बाबर का नैतिक समर्थन ही प्राप्त हुआ हो।'' मथुरा लाल शर्मा के अनुसार- ''आमतौर पर वह हिन्दुओं के साथ अत्याचार नहीं करता था.....राजपूतों के साथ होने वाले युद्धों को वह जिहाद कहता था... खानुआ के युद्ध के पूर्व स्टाम्प कर की माफी केवल मुस्लिमों को दी हिन्दुओं को नहीं फिर भी वह तैमूर, नादिर शाह या अहमद शाह अब्दाली की तहर हिन्दुओं के प्रति क्रूर नहीं था।'' डॉ0 आर्शीवाद लाल श्रीवास्तव बाबर के वसीयत नामा को जाली मानते हैं उनका यह मानना है कि बाबर ने हमारे देश के लोगों के साथ धार्मिक उदारता और सहिष्णुता की नीति नहीं बरती हिन्दु राजाओं राणा सांगा और मेदिनी

राय के विरूद्व जिहाद का नारा दिया और मंदिर तोड़े स्टेम्प ड्यूटी हटाने के प्रकरण में हिन्दु-मुस्लिम भेदभाव किया। लेकिन इसके बाद अंत में उन्हें भी लिखना पड़ा "लेकिन यह सब होते हुए भी यह कहना उचित ही होगा कि यहाँ की जनता के प्रति बाबर का व्यवहार सल्तनत युग के अन्य शासको के व्यववहार की भांति बुरा नहीं था।" अवध बिहारी पाण्डेय के अनुसार" उसे (बाबर) ईश्वर की करूणा एवं शक्ति पर आस्था थी और उसे विश्वास था और वह समझता था कि ईश्वर की कृपा के सहारे वह निज पुरुषार्थ द्वारा असंभव को भी संभव कर लेगा.. वह उदार प्रवृत्तियों वाला व्यक्ति था और उसने राजपूतों तथा हिन्दुओं के साथ सामान्यत: अच्छा व्यवहार किया। " विलियम एर्स्कॉइन के अनुसार"बाबर निश्चित रूप से पूरब के सिहासन पर बैठने वाले प्रख्यात शासकों में से एक था। उसका चरित्र एक महान राजा और एक अच्छे मनुष्य को निर्मित करने वाले अधिकांश गुणों का सुखद सम्मिश्रण था उसके चरित्र का सर्वाधिक श्रेष्ठ भाग उसकी स्वभावगत दयालुता और समग्र मानवीयता है।" इस तरह यह स्पष्ट है कि बाबर स्वयं एक कट्टर सुन्नी मुसलमान होने के बावजूद धर्मांध नहीं था। वह धर्म को निजि विचार मानता था लेकिन अवसर आने पर धर्म का सैन्य राजनीतिक उपयोग करने से भी नहीं चूकता था। उसके चरित्र के मूल में स्वाभविक दयालुता होने के साथ-साथ पूर्वजों (चंगेज खाँ और तैमूर लंग) की कठोरता व खूंखारता का अद्भुत सम्मिश्रण था। इसीलिए ज़हाँ एक ओर खानुआ और चंदेरी के युद्धों में जिहाद के नारे सुनाई देते है, युद्ध स्थलों में कल्ला- मीनारें दिखाई देती है तो वहीं दूसरी ओर इसके भी प्रमाण मिलते है कि बाबर ने कभी हिन्दुओं के खिलाफ कोई नीति नहीं बनाई, राजकाज में धर्म के आधार पर भेदभाव नहीं किया, तथा मध्ययुगीन अन्य शासकों की भांति गैर मुस्लिमों को सताना अपना धर्म नहीं समझा था। बाबर में खानाबदोश तार्तार जाति के साहस और पारसी संस्कृति व शिष्टता का अद्भूत समन्वय था। उसने मंगोलों की शक्ति एवं तुर्कियों के साहस व योग्यता का उपयोग असावधान और आपसी झगड़ों से कमजोर हिन्दुस्तान को जीतने में किया। बाबर ने उस ऐतिहासिक इमारत की नींव भरी जिसे उसके पौत्र अकबर ने पूर्णता और भव्यता प्रदान की। मुग़ल साम्राज्य की नींव रखने वाले वास्तुकार के रूप में भारतीय इतिहास में बाबर का अद्वितीय स्थान है।

◆◆◆

हुमायूं एवं राजपूत

बाबर के मृत्यु (26 दिसम्बर 1530 ई०) के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र नासिरूद्दीन मुहम्मद हुमायूं उसका उत्तराधिकारी बना। हिरात के हुसैन बकरा की पुत्री माहम सुल्ताना के गर्भ से 6 मार्च 1508 ई० को काबुल के किले में जन्में हुमांयू की प्रारंभिक शिक्षा दीक्षा विधिवत् हुई थी। हुमायूं ने तुर्की अरबी और फारसी का अध्ययन किया था, उत्तरी भारत पर बाबर की जीत के बाद उसने कुछ हिन्दी भी सीख ली थी। साहित्य और काव्य के अतिरिक्त गणित, दर्शनशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र में भी हुंमायू की रूचि थी। सैन्यशास्त्र भी उसकी शिक्षा का एक अंग था। अबुलफजल ने उसके बारे में लिखा कि '' हुमांयू में शक्ति ज्ञान और दया का समन्वय था, गणित के ज्ञान में उसकी समानता करने वाला कोई नहीं था, वह सिकन्दर जैसा वीर और अरस्तू जैसा विद्वान था '' हुंमायू को जल्द ही मध्यकालीन परम्परा के अनुरूप सैन्य संचालन एवं सिविल प्रशासन का अनुभव प्राप्त हुआ। सन् 1520 ई० में मात्र 12 वर्ष की उम्र में ही उसे बदख्शां का सुबेदार बना दिया गया। 18 वर्ष की उम्र में हुमायूं ने अपनी फौजी टुकड़ी का कुशल सैन्य संचालन का परिचय पानीपत युद्ध के पूर्व हिसार फिरोजा में हामिदखाँ को हराकर दिया। (सन् 1526) हामिदखाँ सुल्तान इब्राहिम लोदी को सैन्यसहायता पहुँचाने जा रहा था। पानीपत के युद्ध के बाद हुमायू ने पूर्वी अभियानों का नेतृत्व किया तथा सम्भल, जौनपुर, गाजीपुर, कालपी इत्यादि इलाके जीतकर बाबर के साम्राज्य का विस्तार किया। राणा सांगा के विरुद्ध खानुआ के युद्ध (1527 ई०) में हुमांयु ने बाबर की सेना के दक्षिण पार्श्व का सफल संचालन किया था। खानुआ के युद्ध के बाद हुमायूं को पुनः बदख्शां का उत्तरादायित्व दिया गया। सन् 1529 ई० में हुमायूं आगरा लौट आया और उसे संभल की जागीर दी गई। यहीं हुमायूं बीमार पड़ा और उसे आगरा लाया गया। हुमांयू की बीमारी से घबराकर बाबर ने स्वयं के प्राण न्यौछावर करने का निश्चय किया। मध्ययुगीन मान्यताओं के अनुसार हुमायूं की बीमारी केवल सर्वाधिक मूल्यवान वस्तु के दान से ठीक हो सकती थी। बाबर ने ईश्वर को अपने प्राणदान देने के उद्देश्य से क्रियाएं की, बीमार हुमायूं के बिस्तर के तीन चक्कर लगाये। दूसरे ही दिन से हुमायूं ठीक होने लगा और इधर बाबर बीमार होने लगा। 26 दिसम्बर 1530 ई० को बाबर ने अपने जीवन का प्रेमपूर्ण

बलिदान कर दिया। मृत्यु से ठीक पूर्व 23 दिसम्बर 1530 ई० को बाबर ने अपने अमीरों को बलाकर कहा था- '' इस समय जबकि मैं रोगशय्या पर पड़ा हूँ तुम्हें आज्ञा देता हूँ कि हुमायूं को मेरा उत्तराधिकारी स्वीकार कर लो और उसके प्रति वफादार रहो। अनन्य हृदय और मस्तिष्क से उसकी सेवा करों और मुझे आशा है कि ईश्वर की कृपा से हुमांयू का भी लोगों के प्रति अच्छा आचरण रहेगा'' इसके पश्चात् बाबर ने हुमायूं को कहा- ''तुझे तेरे भाइयों और अपने सभी संगे-संबंधियों और आदमियों को ईश्वर को सौंपता हूँ और उन सबको मैं तुम्हारे सुपुर्द करता हूँ . .. मेरी अंतिम इच्छा है कि अपने भाइयो के विरुद्ध कभी कोई कार्य मत करना, चाहे वे दण्ड के योग्य कार्य क्यों न किए हों।'' बाबर की इस इच्छा का पालन हुमायूं बेतरह नुकसान उठाकर भी करता रहा। बाबर की मृत्यु के चार दिन पश्चात् 30 दिसम्बर 1530 ई० को हुमायूं गद्दी पर बैठा।

बाबर की मृत्यु (26दिसम्बर 1530) और हूमांयू के राज्यारोहण (30 दिस०1530) के बीच चार दिनों के अंतर में हुमायूं की जगह बाबर के दामाद मेंहदी ख्वाजा (खानजादा बेगम का पति) को गद्दी पर बिठाने के लिए बाबर के बजीर मीर खलीफा का षडयंत्र था। मीर खलीफा के षडयंत्र का वर्णन निजामुद्दीन अहमद बख्शी ने तबकात -ए-अकबरी में किया है उसने अपने पिता मुहम्मद मुकीम जो मीर खलीफा का विश्वासी था, के मुंह से यह षडयंत्र और इसका अंत सुना था। इसके अनुसार बजीर मीर खलीफा जो बाबर के बचपन का साथी और अत्यंत विश्वास पात्र था, हुमायूं या उसके भाइयों के स्थान पर मेंहदी ख्वाजा को सिहांसन पर बिठाना चाहता था। लेकिन एक दिन मीर खलीफा के जाने के बाद मेंहदी ख्वाजा ने दाढ़ी में हाथ फेरते हुए कहा कि बादशाह बनने के बाद मैं तुझे और तेरे साथियों की खाल खिंचवा लूंगा। मोहम्मद मुकीम ने यह सीधे मीर खलीफा को बताया। मीर खलीफा ने षडयंत्र के क्रियान्वयन के पूर्व ही उसे दफन कर दिया और हुमायूं को गद्दी पर बिठाया गया। हुमायूं जब गद्दी पर बैठा तो साम्राज्य की हालत डावाडोल हो चुकी थी। जिस साम्राज्य की स्थापना बाबर ने अपनी तलवार के जोर पर की थी उसकी नींव अस्थिर और दुर्बल थी। किसी मेहराव की शक्ति और दृढ़ता उसके केन्द्रीय पत्थर पर निर्भर करती है- किन्तु मुग़ल साम्राज्य रूपी मेहराव का केन्द्रीय पत्थर इतना दुर्बल था वह उसके भार का बोझ सहन न कर सका। हुमायूं के द्वारा बाबर की विरासत पाने, खोने और उसे पुनः पाने की कहानी बाबर के साहसिक कार्यों से कम चित्ताकर्षक नहीं है। हुमांयू को सिंहासन पर

बैठते ही कठिनाईयों का सामना करना पड़ा जो निम्नांकित है-

हुमायूं की आंतरिक कठिनाईयां

हुमायूं की सबसे पहली आंतरिक कठिनाई **अव्यवस्थित साम्राज्य** था। दरअसल हुमांयु को विरासत में राजसिंहासन के रूप में कांटों भरी सेज प्राप्त हुई थी। हुमायूं को विरासत में मिला मुग़ल साम्राज्य छोटे- छोटे असमान राज्यों एवं परस्पर शत्रु भाव रखने वाली जातियों का एक असंगठित समूह था। उस साम्राज्य में जहाँ एक ओर मध्य एशिया के बदख्शां, कुन्दुज और बलख सम्मिलित थे तो वहीं दूसरी ओर इसमे हिन्दुस्तान के पंजाब, मुल्तान, अवध, बिहार ग्वालियर,धौलपुर , बयाना, सम्भल चंदेरी के इलाके भी शामिल थे। मध्य एशिया की आक्सस नदी से लेकर बिहार में गंगा के अंतिम सिरे तक फैला यह मुग़लसाम्राज्य बाबर की तलवार के बल पर भले की ही स्थापित हो गया हो लेकिन इसे परस्पर आबद्ध करने वाले एक सूत्र के अभाव में इसकी जड़े जमी नहीं थी। खास तौर पर हिन्दुस्तान के जीते गए इलाकों में अफगान अभी भी ताकतवर थे और जनता अभी भी मुग़लों को विदेशी के रूप में देखती थी।

हुमायूं की दूसरी समस्या **खाली राजकोष** की थी। बाबर चार वर्ष हिन्दुस्तान में रहा। इन वर्षों में बाबर ने लगातार सैन्य अभियान किए और जीते गए इलाकों की राजस्व, प्रशासन व न्यायिक व्यवस्था के क्षेत्रों में अराजकता दूर करने हेतु वह पर्याप्त समय नहीं दे पाया था। दिल्ली और आगरा के राज्यकोषों को बाबर ने पानीपत युद्ध जीतने के बाद खुलेहाथों लुटा दिया था तथा हुमायू के राज्यारोहण पर एक नाव भरकर स्वर्ण मुद्राएं लुटाई गई, इस तरह केन्द्रीय कोष खाली था। फौजी जागीरों के चलते अधीनस्थ सरदार शक्तिशाली हो चले थे। खाली खजाना और शक्तिशाली स्वतंत्र मन के सरदारों ने हुमायूं की कठिनाईयां बढ़ा दी।

हुमायूं की तीसरी आंतरिक समस्या फौज के अनुशासन की या **फौज में राष्ट्रीय भावना की कमी** की थी। बाबर की सेना में चगताई, उजबेग, मुग़ल, ईरानी, तुरानी और हिन्दुस्तानी सिपाही शामिल थे। विभिन्न जातियों के सम्मिश्रण से बनी इस सेना को व्यक्तिगत ईष्याओं के कारण एकता के भाव के विकास में बाधा आती थी। जो कि एक संगठित सेना के लिए अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त हुमायूं की व्यक्तिगत दुर्बलताओं ने फौज के सिपाहियों के मन में हुमायूं के लिए आदरभाव में कमी उत्पन्न कर दी थी।

हुमायूं की चौथी आंतरिक समस्या **उसके भाई और संबंधी** थे। हुमायूं के तीनों भाईयों मिर्जा कामरान, अस्करी और हिन्दाल ने समय- समय पर न सिर्फ हुमायूं का साथ नहीं दिया बल्कि उसके विरोध में भी कार्य किया। बाबर ने मृत्यु के समय हुमायूं को अपने भाईयों के विरुद्ध कार्य करने से मना किया था। बाबर की अंतिम इच्छा का पालन और भाईयों का विरोध_एक ऐसी विचित्र कठिनाई थी जिसके साथ हुमायूं जैसा उदार और सच्चा मनुष्य ही सामन्जस्य बिठा सकता था। लेनपूल लिखता है - " कामरन विश्वासघाती था और बाबर का बेटा कहलाने लायक नहीं था। असकरी और हिन्दाल दोनों कमजोर मिजाज थे और सिर्फ महत्त्वाकांक्षियों के हाथ की कठपुतलियों के रूप में खतरनाक थे।" हुमायूं के सबसे प्रबल प्रतिद्वन्दी उसके सगे - संबंधी मिर्जा वर्ग के लोग थे। ये मिर्जा तैमूरी वंश के थे और बाबर -हुमायूं के साथ इनका रक्त संबंध था। इस वर्ग में पहला सरदार, मुहम्मद जमान मिर्जा था। जिसका विवाह हुमायूं की सौतेली बहन मासूमा बेगम से हुआ था। दूसरा, मुहम्मद सुल्तान मिर्जा था जो खुरासान के पूर्व शासक सुल्तान हुसैन बैकरा की बेटी का बेटा था। तीसरा मंहदी ख्वाजा मिर्जा था जो बादशाह का बहनोई था। इन मिर्जाओं के अतिरिक्त चगताई तुर्क जाति, के कुछ दूसरे सरदार भी थे जो असीम महत्त्वाकांक्षाओं के चलते हुमायूं से प्रतिद्वन्द्विता रखते थे।

हुमायूं की व्यक्तिगत दुर्बलताएं

बाबर की मृत्यु के बाद हिन्दुस्तान की तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों में दिल्ली की गद्दी पर एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता थी जिसमें सैन्य संगठन की अपार योग्यता, कूटनीतिक दक्षता व राजनीतिक पटुता के साथ- साथ असीम साहस व कठिनाईयों से पार पाने का दृढ़ संकल्प हो। दुर्भाग्यवश हुमायूं काल के इस हिस्से में "अनफिट " बैठता है। उसके चारित्रिक दोष उसकी असफलता के कारण है। लेनपूल ने हुमायूं का व्यक्तिगत चरित्र चित्रण बहुत सुंदर किया है। लेनपूल लिखता है " युवक राजकुमार (हुमायूं) निश्चय ही एक बहादूर और आकर्षणीय व्यक्ति है। वह अपने पिता की भांति उदार हृदय और भावुक था, और जरूरत पड़ने पर बड़े से बड़ा कमाल दिखा सकता था। किन्तु उसमें चरित्र और दृढ़ संकल्प का अभावथा। वह किसी काम को जमकर करने में असमर्थ था और थोड़ी सी जीत के बाद ही अपने जनानखाने में खुशियां मनाने चला जाता और अफीमचियों की तरह भविष्य में स्वप्न देखने में समय नष्ट कर देता, जबकि

उसके दुश्मन उसका दरवाजा खटखटा रहे होते थे। चूंकि वह स्वभाव से दयालु था, जहाँ सजा देने की जरूरत होती वह माफी दे देता था और चूंकि वह आरामतलब था वह अपना समय खाने पीने में बिता देता जबकि उसे घोड़े पर सवार रहना चाहिए था। उसने चरित्र में आकर्षण था। किन्तु उसमें अपना आधिपत्य कायम करने की क्षमता न थी। निजिजीवन में वह एक अच्छा साथी और पक्का दोस्त साबित होता था और उसकी तमाम् जिन्दगी एक शरीफ आदमी की जिन्दगी थी। लेकिन राजा के रूप में वह असफल रहा। हुमायूं का शाब्दिक अर्थ है " भाग्यशाली" लेकिन हूमायूं जितना अभागा और कोई राजा न हुआ"।" इस प्रकार हुमायूं का चरित्र स्वयं अपने लिए ही एक कठिनाई था।

हुमायूं की बाह्य कठिनाईयां

हुमायूं के बाह्य शत्रुओं में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बंगाल का नुसरतशाह, गुजरात काबहादुरशाह और बिहार का शेरखाँ सूरी (शेरशाह) थे, जिन्होने अफगानों की बिखरी शक्तियों को एकत्र करने और विस्तारित करनेका निरन्तर प्रयत्न किया। मध्यकालीन शासकों के लिए बंगाल सदैव एक चुनौती रहा। बाबर की मृत्यु के बाद बंगाल के शासक ने बिहार के अफगानों का खुलकर साथ देना शुरू किया। इसी तरह गुजरात का शासक बहादुर शाह अपनी महत्त्वाकांक्षाओं के चलते दिल्ली पर बैठने का स्वप्न देखता। इसी उद्देश्य से उसने बिहार के अफगानों के साथ संधियों की और मुग़लों को हिन्दुस्तान से खदेड़ने के प्रयत्न भी किए।

हुमायूं के समकालीन राज्य

गुजरात

गुजरात अपनी भौगोलिक स्थिति ओर उद्योग- धंधो पर सदैव प्रसिद्ध रहा है। उस समय भी गुजरात पश्चिमी हिन्दुस्तान का एक धन सम्पन्न और समृद्ध राज्य था। हुमांयू का समकालीन गुजराती शासक बहादूर शाह (1526 ई से 1537 ई०) था। पानीपत के युद्ध के कुछ ही दिनों बाद जुलाई 1526 ई० में गुजरात की गद्दी पर बैठने वाला बहादूरशाह एक महत्त्वाकांक्षी और लड़ाकू शासक था। सन् 1531 ई० में उसने मालवा के महमूद द्वितीय को हराकर मालवा के राज्य को गुजरात में शामिल कर लिया। इसके बाद उसने सन् 1532 ई० में चित्तौड़ पर घेरा डाला। चित्तौड़ उस समय अपने सबसे बुरे समय से गुजर रहा था। राणा सांगा का अयोग्य पुत्र विक्रमादित्य (सन् 1531-1536 ई०) अपने बड़े भाई राणा रतन सिंह की हत्या (सन् 1531 ई०) के बाद चित्तौड़ की गद्दी पर बैठा था। राणा के स्वभाव में

अपने सरदारों को पहले ही नाराज कर रखा था और एसे विकट समय में जब उसकी मां ओर हाड़ा-रानी कर्मावती ने हुमायूं को रक्षाबंधन भेज चित्तौड़ की रक्षा की प्रार्थना की तो यही सरदार स्वयं को अपमानित अनुभव करते हुए अत्यधिक रूष्ट हुए और उन्होने चित्तौड़ की घटनाओं से स्वयं को विलग रखा। लेकिन हुमायूं समय पर नहीं पहुँचा और उसने राजपूतों के सौहार्द को पाने का अवसर खो दिया। एक संधि हुई और इसके अनुसार चित्तौड़ ने मालवा के जीते प्रदेश गुजरात को देना स्वीकार किया तथा 10 हाथी, 100घोड़े और कुछ नगद भी दिये गए। बहादुरशाह यह लेकर 24 मार्च 1533 को वापस लौटा। इसके पूर्व बहादूर शाह रायसीन के दुर्ग पर (1532 ई०) कब्जा कर चुका था। बंदूकचियों के एक दल का गठन करके और कुस्तुनतुनिया के प्रसिद्ध तोपची रूभी खाँ की सेवाए प्राप्त करके उसने अपनी सैन्यशक्ति का पर्याप्त विकास कर लिया था। अब बहादुरशाह के मन में उत्तरी भारत पर अधिकार जमाने और दिल्ली का बादशाह बनने की महत्त्वाकांक्षा जाग उठी थी। इसी बीच हुमांयू के दो आंतरिक शत्रुतों , मुहम्मान जमान मिर्जा और मुहम्मद सुल्तान मिर्जा ने हुमायूं के विरुद्ध बगावत की और पराजित होकर बहादुरशाह की शरण में आए। इस संबंध में दोनों पक्षों के मध्य दीर्घकालीन कटु- पत्र व्यवहार का अंत युद्ध की घोषणा से हुआ।

इसी बीच बहादूरशाह ने चित्तौड़ पर दुबारा घेरा (सन् 1535) डाला। हुमायूं इस बार भी राजपूतों की सहानुभूति अर्जित करने में असफल रहा ओर चित्तौड़ जाने के बजाय सारंगपुर में ही रूक गया। 8 मार्च 1535 ई० को चित्तौड़ का पतन हुआ। दुर्ग के मुख्य द्वार को खोल कर केसरिया बाना पहले राजपूतों ने भंयकर युद्ध किया। द्वार खोलने के पूर्व कर्मावती समेत 13000 राजपूत स्त्रियों ने जौहार किया, इसी अवसर पर 3000 बच्चों को भी मुसलमानो से बचाने के लिए अग्नि को समर्पित कर दिया गया। चित्तौड़ में तीन दिनों तक लूट चलती रही और मरने वालों की संख्या 32000 से अधिक आंकी गई।

इसके बाद हुमायूं ने बहादूरशाह के खिलाफ आगे बढ़कर चित्तौड़ से 60 मील दूर मंदसौर पर कब्जा जमाया। लगभग दो माह तक दोनों सेनाएं मोर्चा बांधे पड़ी रही और हुमायूं ने शत्रु का रसद मार्ग बंद कर उसे तीनों तरफ से घेर लिया। जब बहादुरशाह को समझ में आया कि वह बंदी बना लिया जाएगा तो वह अचानक बिना युद्ध लड़े 25 अप्रैल 1535 ई० को रात में ही शिविर के पिछले हिस्से निकल भागा और माण्डू में शरण ली। शत्रु के शिविर में मचे कोलाहल ने मुग़ल सेना को

सर्तक कर दिया और हूमायूं व उसके सैनिक रात भर घोड़े की पीठ पर आक्रमण की प्रतीक्षा में बैठे रहे। हुमायूं ने माण्डू तक बहादुरशाह की पीछा किया और उसे घेर लिया। बहादुर शाह वहाँ से भागा और चम्पानेर के किले में (1 जून 1535) शरण ली जो बड़ौदा से 28 मील दूर हैं। हुमायूं ने माण्डू जीतकर वहाँ कत्लेआम की आज्ञा दी।

सम्पूर्ण मालवा पर अधिकार जमाकर हुमायूं ने बहादूरशाह का पीछा जारी रखा। बहादूरशाह ने चम्पानेर नगर में आग लगा कर खम्भात की राह पकड़ी (15 जून सन् 1535 ई) हुमायूं उसके पीछे खम्भात तक गया। बहादूरशाह ने निराशा में खम्भात की खाड़ी में खड़े तथा पुतर्गालियों से लड़ने के लिए बनाये गए युद्ध पोतों को नष्ट किया और ड्यू की तरफ बढ़ गया। अब हुमायु ने वापसी का रास्ता पकड़ा ओर अहमदाबाद पर अधिकार किया। इस नगर की लूट में हुमायूं के हाथों भारी धनराशि लगी। हूमायूं ने अब चम्पानेर किले पर अधिकार के लिए घेरा डाला जो इख्तियार खाँ नामक गुजराती अधिकारी के नियंत्रण में था। हुमायू स्वयं बैराम खाँ के सहयोग से किले के सबसे अधिक ढालू ओर से चट्टानों में लोहे के खूंटे गाड़कर चढ़ गया (6 अगस्त सन् 1535 ई०) दुर्ग रक्षक भारी संख्या में मारे गए और उनकी अनेक स्त्रियां और बच्चे दीवारों पर से कूदकर मर गये। लूटमान में हुमायूं के हाथ भारी धनराशि लगी। हुमायूं ने चतुराई से चम्पानेर के किले के अंदर बहादुरशाह और उसके पुरखों के संचित खजानें का पता लगाकर उस पर अधिकार जमाया। निजामुद्वदीन अहमद बख्शी के अनुसार - "रोम, यूरोप, चीन तथा संसार के अन्य भागों के सामान और वस्तुएं भी जिन्हें गुजरात के सुल्तानों ने संचित कर कर रखा था। मुग़लों के हाथ लगी। सैनिकों को इतना सोना और सामान मिला। कि उस वर्ष किसी ने गुजरात से राजस्व वसूल करने का प्रयत्न नहीं किया।" लेकिन इस अपार धनकोष को हुमायूं ने अपनी स्वभावगत विलासिता में मुक्त हस्त खर्च कर दिया।

जीते हुए गुजरात - मालवा को खोना

फरिश्ता लिखता है कि ऐसी स्थिति में (गुजरात मालवा जीतने के बाद) बहराम निजामशाह, इमादशाह तथा दक्षिण के अन्य सुलतान उसके (हुमायूं) संकल्पों से भयभीत होने लगे और उन्होने उसको (हुमायूं) पत्र लिखकर अधीनता स्वीकार कर ली। हुमायूं को अपनी सफलता के उपलक्ष में उनके चाटुकारिता पूर्ण चिन्ह प्राप्त ही हुए थे कि उसी समय उत्तर से शेर खाँ के विद्रोहों के समाचार आ

गये। लेनपूल के अनुसार मालवा और गुजरात के दो प्रान्त, जो क्षेत्रफल में हुमायूं के शेष सम्पूर्ण राज्य के बराबर थे, पके फलों की भांति उसके हाथ में आ गये। इतनी सरल विजय कभी किसी को नहीं मिली थी और न कभी किसी ने अपनी विजय के फल को इस प्रकार अंधे होकर बरबाद किया था।

माण्डू (मालवा) और चम्पानेर (गुजरात) पर अधिकार मुग़लो की महान विजय थी। लेकिन हुमायूं ने शासन व्यवस्था का कोई नियोजित प्रबंध नहीं किया। गुजरात में विद्रोह उठ खड़ा हुआ। बहादुरशाह के विश्वासपात्र हाकिम इमादुलमुल्क ने मालगुजारी बसूल कर एक सेना खड़ी कर डाली। हुमायूं ने अस्करी मिर्जा की सहायता की और इमादुलमुल्क को हराकर अहमदाबाद पर कब्जा किया (अक्टूबर 1535)। गुजरात का सुबेदार अस्करी को नियुक्त किया गया और उसकी सहायता के लिए हिन्दुवेग नामक विश्वासनीय और अनुभवी सेनानायक को रखा गया। पाटन के इलाके में यादगार नासिर मिर्जा, भड़ौच और सूरत में कासिम हुसैन सुल्तान, खंभात और बड़ौदा में दोस्त बेग, महमूदाबाद में मीर बुकाका तथा चम्पानेर में तार्दी बेग को अधिकारी नियुक्त किया गया। इसके पश्चात् हुमायूं ड्यू की ओर बहादुरशाह को पकड़ने के लिए रवाना हुआ। वह अहमदाबाद से 30 मील आगे बढ़ा ही था कि उसे खबर मिली कि उत्तरी हिन्दुस्तान और मालवा में विद्रोह हो गया है। हंड़िया और उज्जैन पर सिकन्दर खाँ और मल्लू खाँ ने अधिकार कर लिया तथा मोहम्मद सुल्तान मिर्जा और उसके पुत्र ने पूर्वी सूबे में विद्रोह किया है। हुमायूं तुरंत वापस माण्डु लौटा (22 फरवरी 1536 ई०)। हुमायूं के गुजरात से हटते ही गुजरात का विद्रोह फिर से फूट पड़ा। धीरे- धीरे मुग़लों के हाथ से सूरत, नौसारी, भड़ौच, बड़ौदा, पाटन और खंभात के इलाके निकल गए। बहादुरशाह ने फिर से सेना तैयार कर अस्करी मिर्जा पर अहमदाबाद में हमला किया। थोड़े से संघर्ष के बाद अस्करी मिर्जा चम्पानेर की ओर भाग चला (अप्रैल1536) उसे हिन्दुबेग ने सलाह दी कि वह खुद को स्वतंत्र घोषित कर दे लेकिन अस्करी ने स्वयं ही यह सुझाव अमान्य कर दिया। चम्पानेर के सुबेदार तार्दी बेग ने उसे दुर्ग का कोष देने से मना किया तो अस्करी आगरा की ओर बढ़ा (21 अप्रैल 1536 ई०)। गुजरात में मुग़लों की शर्मनाक पराजय का असर मालवा में होना स्वाभाविक था। हुमायूं को भी मालवा के बजाय उत्तरी हिन्दुस्तान जाने में भलाई नजर आई क्योंकि उत्तरी हिन्दुस्तान तथा बिहार बंगाल से निरन्तर विद्रोहों की खबर आ रही थी। हुमायूं ने मई 1536 ई० के मध्य में माण्डु छोड़ दिया और आगरा 9 अगस्त सन् 1536 को

पहुँचा। इस प्रकार मालवा भी उसके हाथ से निकल गया। मालवा में इसके पूर्व सुल्तानों के एक उत्तराधिकरी मल्लू खाँ ने अधिकार जमा लिया। मालवा ने पुनः बहादुर शाह को ही अपना बादशाह मान लिया लेकिन बहादुरशाह के लिए अपनी पुनः भाग्योनति का आनंद उठाना नहीं बदा था। बहादुरशाह पुर्तगाली वाइसराय नन्हो दॉ कुन्हा को इस बात के लिए राजी करने ड्यू गया कि वह गढ़ और नगर के मध्य एक दीवार उठा ले। सुल्तान को यह बताया गया कि वायसराय बीमार है तो सुल्तान स्वयं उसके समुद्र में खड़े जहाज पर गया। वहाँ विश्वासघात पूर्ण संघर्ष में किले का सूबेदार मैनुअल दॉ सौसा समुद्र में गिर कर डूब गया और घायल सुल्तान ने जब तैरकर समुद्र पार करना चाहा तो वह भी डूबकर मर गया (13 फरवरी सन् 1537)। इसके बाद गुजरात में अव्यवस्था जारी रही जो सन् 1572 ईसवी में अकबर द्वारा गुजरात पर विजय के साथ ही समाप्त हुई।

बंगाल

बंगाल में हुमायूं का समकालीन शासक नुसरतशाह (सन् 1518 से सन् 1532 ई०) था वह अपने पिता हुसैन शाह (सन् 1493- सन् 1517 ई०) की ही तरह उदार मनोवृत्ति तथा तथा साहित्य व कला में अभिरूच रखने वाला शासक था। उसने अपने दरबार में अनेक विद्वानों को आश्रय दे रखा था बांग्ला साहित्य के प्रति उसे विशेष लगाव था अतः उसके शासनकाल में बांग्लासाहित्य का यथेष्ट विकास हुआ। उसी की प्रेरणा से महाभारत का बांग्ला में अनुवाद भी हुआ। नुसरत शाह ने कुछ प्रसिद्ध इमारतों और मस्जिदों का भी निर्माण किया था। जिसमें गौड़ की बड़ासोना तथ कदम रसूल नामक दो मस्जिदें उल्लेखनीय है। सन् 1532 ई में नुसरशाह की हत्या कर दी गई। उसके पुत्र अलाउद्दीन फिरोजशाह ने लगभग तीन माह राज्य किया। बाद में उसके चाचा गयासुद्दीन महमूदशाह ने उसे मार कर बंगाल की गद्दी पर अधिकार जमाया। गयासुद्दीन महमूदशाह बंगाल का अंतिम स्वाधीन शासक था। सन् 1538 ई० में शेरशाह ने उसे हराकर बंगाल से निर्वासित कर दिया और बंगाल को अपने शासन क्षेत्र में ले लिया।

सिंध और मुल्तान

गुजरात के सुल्तानों और दक्षिण सिंध (थट्टा) के जाम शासकों के कई वैवाहिक संबंध हुए थे। सन् 1521 में जब बाबर ने कंधार के शासक शाह बेग अर्गुन को हराकर भगाया तो वह सिंध आया और अंतिम जाम फिरोज को सिंध से निकल बाहर किया। जाम फिरोज ने गुजरात में शरण ली और गुजरात के शासक

बहादुरशाह को अपनी बेटी ब्याह दी। शाह बेग अर्गुन की मृत्यु (सन् 1524 ई०) हो जाने के बाद उसका पुत्र शाह हुसैन गद्दी पर बैठा जिसने मुल्तान पर अचानक हमला बोलकर वहाँ के शासक और शाह हुसैन लंगा के पौत्र महमूद पर विजय पाकर मुल्तान को अपने राज्य में मिला लिया (सन् 1527 ई०) यहाँ के शासक मुग़ल बादशाहों के नाम से खुतबा पढ़कर ही अपने राज्य को स्वाधीन बनाये हुए थे। बाद में अकबर ने इसे भी जीतकर अपने राज्य में मिलाया था।

खानदेश

आदिलखाँ तृतीय ने खानदेश पर सन् 1520 ई० तक राज्य किया। उसकी पत्नि गुजरात के सुल्तान मुजफ्फारशाह द्वितीय (सन् 1511 से सन् 1526 ई०) की पुत्री तथा सुल्तान बहादुर शाह (सन् 1526 ई०-1537 ई०) की बहन थी। इस पत्नि से उत्पन्न मीरान मुहम्मद हुमायूं का समकालीन था। जब मंदसौर और माण्डु में हुमायूं ने गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह के विरुद्ध लड़ाईयां लड़ी तो खानदेश का सुल्तान मीरन मुहम्मद शाह (सन् 1520 1537 ई०) अपने मामा और गुजरात के सुल्तान बहादुर शाह की ओर से लड़ा था। इसका दण्ड देने के लिए हुमायूं ने खानदेश पर हमला करके लूटमार की। मीरन मुहम्मद शाह ने विनम्रतापूर्वक हुमायूं से क्षमायाचना कर ली। मीरन मुहम्मद शाह के बाद मीरन मुबारक शाह (1537 -1566 ई०) राजा अली खाँ (सन् 1566-1597) मीरन शाह (सन् 1597 ई० से 1601 ई०)जैसे कमजोर सुल्तान हुए।

काश्मीर

जैनुल आब्दीन (सन् 1417 - 1470 ई०) के उत्तराधिकारी अयोग्य निकले। जैनुल आब्दीन ने चकजाति को काश्मीर से निकाल बाहर किया जो उसकी मृत्यु के पश्चात् कालांतर में पुनः काश्मीर पर ताकतवर हो गई। जैनुल आब्दीन का पुत्र हैदरशाह (सन् 1470-1472 ई) की मृत्यु मद्यपान से उन्मत्त होकर चिकने फर्श से फिसलकर हुई। हसन शाह (1472 ई से 1489 ई०), फतहशाह (1489-1497 ई०), मुहम्मद शाह (1497ई०-1529 ई) के शासन काल में दरवारी षडयंत्र और आपसी फूट के अलावा कुछ नहीं मिलता। इस अशांति और अराजकता में बाबर के चचेरे भाई मिर्जा हैदर ने सन् 1540 ई० में काश्मीर पर कब्जा जमा लिया। मिर्जा हैदर (1540 ई०-1551 ई०) ने जीते हुए प्रदेशों पर बुद्धिमता और योग्यता से शासन किया। अंत में षडयंत्रकारियों के एक दल ने सन् 1511 ई में उसकी हत्या कर दी।

मिर्जा हैदर की प्रशंसा एक अन्य कारण से भी की जाती है और वह यह कि उसने अपने समृद्धि के दिनों में भी अपने भाग्यहीन रिश्तेदार हुमायूं को कभी नहीं भुलाया बल्कि उसे लगातार काश्मीर आने के लिए प्रेरित करता रहा और सुझाव देता रहा कि काश्मीर को आधार बनाकर खोया साम्राज्य पुनः प्राप्त किया जा सकता है।

राजपूताना

सन् 1527 की खानुआ की लड़ाई ने राजपूती एकता की कमर तोड़ दी। फिर राणा सांगा की मृत्यु ने मेवाड़ के आंतरिक संघर्ष को प्रज्जवलित किया जिसने राजपूती शान और मर्यादा पर बेतरह कंलक के दाग दिए। सन् 1530ई से 1556 का समय राजपूताने के शौर्य के परीक्षण का समय था। आर्थिक संकटों से जूझते राजपूताने के राज्यों में से कुछ ने अपने साहस और शौर्य को पुर्नजीवित किया तो बाद में कुछ मुग़लों के ताबेदार हो गये। वस्तुतः 1530 ई० के बाद का मुग़ल शासन का दौर जो 1707 ई० तक चला, राजपूतों की केन्द्रीय शक्ति के साथ सहयोग और प्रतिरोध का समय है। हुमायूं के शासन काल में राजपूताने के राज्य और मुग़लों व अन्य मुस्लिम शासकों के साथ संबंधों का एक संक्षिप्त दृश्य निम्नानुसार है-

मेवाड़

राणा सांगा की खानुआ के मैदान में हार ने राजपूती एकता के सूत्र बिखेर दिए और बाद में उसकी मृत्यु ने मेवाड़ के पतन का दौर शुरू किया। सांगा ने तीन पुत्र थे - रतनसिंह, विक्रमादित्य और उदयसिंह। जिसमें ज्येष्ठ पुत्र रतनसिंह का जन्म जोधपुर की राजकुमारी धनबाई से तथा विक्रमादित्य व उदयसिंह का जन्म बूंदी की हाड़ा राजकुमारी कर्मवती से हुआ था। सांगा का कर्मवती से विशेष प्रेम होने के कारण उन्होने रणथम्भौर जैसा सामरिक महत्त्व का किला विक्रमादित्य और उदयसिंह को दिया था। सांगा की मृत्यु के बाद राजपूती परम्परा के अनुसार ज्येष्ठ पुत्र रतनसिंह चित्तौड़ की राजगद्दी पर बैठा। हाड़ारानी कर्मवती अपने पुत्र विक्रमादित्य को चित्तौड़ की राजगद्दी पर बिठाना चाहती थी और इस उद्देश्य से उसने बाबर के पुत्र हुमायुं को अपने भाई बूंदी नरेश सूरज मल के द्वारा राखी और संदेशा भेजा कि यदि बाबर विक्रमादित्य को चित्तौड़ की राजगद्दी पर बिठा दे तो उसे रणथम्भौर का किला और इलाका सौंप दिया जाएगा। बाबर की आकस्मिक मृत्यु से यह योजना असफल हो गई। दुर्भाग्य से राणा रतनसिंह और बूंदीनरेश सूरजमल पारम्परिक अहेरिया उत्सव में एक दूसरे के साथ हुए द्वन्द्व युद्ध में मारे गए

(सन् 1531 ई)। सामंतों की इच्छा के विरुद्ध विक्रमादित्य चित्तौड़ की राजगद्दी पर बैठा। इधर गुजरात के सुल्तान बहादुर शाह ने चित्तौड़ पर घेरा डाल दिया। रानी कर्मवती ने हुमायूं को राखी भेजकर सहायता की गुहार की, हुमायूं बिहार के झगड़ों में फंसा होने के बावजूद चित्तौड़ की ओर रवाना हुआ। लेकिन सारंगपुर आकर रूक गया। हताश राजपूतों ने के सरिया बाना पहना। इसके पूर्व हाड़ारानी कर्मवती समेत 13000 स्त्रियों ने दूसरा शाका (जौहर) किया। प्रत्येक राजपूत कुल ने अपने सरदार और चुने सैनिकों का बलिदान दिया घेराबंदी और अंतिम धावे में 32000 से अधिक राजपूत मारे गये (8 मार्च 1535)। बहादुरशाह केवल पंद्रह दिन चित्तौड़ में रह पाया कि उसे खबर मिली कि हुमायूं उसकी ओर आ रहा है। बहादुरशाह चित्तौड़ छोड़कर माण्डू की ओर भाग निकला। हुमायूं ने उसका पीछा जारी रखा और उसे गुजरात से बाहर निकलने पर मजबूर किया।

इधर मेवाड़ पर पुनः राजपूतो ने अधिकार जमा लिया। विक्रमादित्य पुनः राणा बना परन्तु शीघ्र ही उसकी हत्या कर दी गयी। अब मेवाड़ की स्थिति और मुग़लों की नीति में आने वाले दुःखद समय की अवधि में होने वाली घटनाओं के बीच एक बड़ा परिवर्तन हुआ। विक्रमादित्य के स्थान पर राणा रायमल के ज्येष्ठ पुत्र ओर राणा सांगा के बड़े भाई पृथ्वीराज की रखैल का पुत्र बनवीर ने 1536 ई० में गद्दी पर कब्जा कर लिया। परन्तु बनवीर यह जानता था कि राणा सांगा के तृतीय पुत्र उदयसिंह के जिन्दा रहते उसकी राजगद्दी सुरक्षित नहीं है। इसलिए उसने उदयसिंह को भी मारना चाहा। राजभक्त पन्ना धाय ने उसके कुत्सित इरादों को पहले से ही अनुमान लगा लिया और राजकुमार के पलंग पर अपने पुत्र को राजसी वेशभूषा में सुला दिया। इस तरह पन्ना धाय ने अपने पुत्र का बलिदान कर राजपूती इतिहास में एक गौरवमयी पृष्ठ अपने लिए सुरक्षित कर लिया। पन्ना धाय ने उदयसिंह को गुप्तमार्ग से कुभंलगढ़ के किले में पहुँचा दिया जहाँ उसे लगभग एक वर्ष तक छिपाकर रखा गया। इधर बनवीर ने यह समझ कर कि उसने उदयसिंह को मार दिया है, स्वयं को राणा घोषित कर दिया। इधर उदयसिंह के कुभंलगढ़ में जीवित होने की खबर धीरे- धीरे मेवाड़ में फैलने लगी। एक एक करके मेवाड़ के सामन्त कुम्भलगढ़ पहुँचने लगे और उन्होने उदयसिंह को अपना स्वामी स्वीकार किया। राणा उदयसिंह ने मेवाड़ के ही सामन्तों की सहायता से बनवीर को सन् 1540 ई० में चित्तौड़ के पास माहोली गांव में परास्त किया और चित्तौड़ की राजगद्दी पर विधिवत बैठा।

इधर केन्द्रीय सत्ता में परिवर्तन हो गया। हुमायूं को परास्त करके और उसे हिन्दुस्तान से निकालकर शेरशाह सूरी हिन्दुस्तान का बादशाह बन गया था। इधर उदयसिंह का चि›ौड़ (मेवाड़) अनिश्चितता के भंवर से गुजर रहा था। लगातार युद्धों और खानदानी संघर्ष ने मेवाड़ की आंतरिक सम्पन्नता और अभ्यन्तरिक सुरक्षा के लिए घनघोर अभाव उत्पन्न कर दिया था। शेरशाह सूरी जिसने हुमायुं को दो बार बुरी तरह परास्त किया, उत्तरी हिन्दुस्तान में अपनी शक्ति लगातार बढ़ा रहा था। उदयसिंह को गद्दी संभाले चार वर्ष भी नहीं हुए और शेरशाह ने सन् 1544 ई० में राजस्थान के अभियान पर कूच किया। शेरशाह ने मार्च 1544 ई० में मालदेव को परास्त कर जोधपुर पर कब्जा जमाया। इसके बाद वह चित्तौड़ की ओर बढ़ा। मेवाड़ की खस्ताहाल आर्थिक स्थिति और अपर्यापत सैन्य सुविधाओं के चलते सामन्तों की सलाह पर उदयसिंह ने अपने सुरक्षा का कोई उपाय न पाकर किले के कुंजियां शेरशाह के पास उसके डेरे जहाजपुर में भेज दी। शेरशाह को राजपूतों के साथ युद्ध का कटु अनुभव था। उसने राणा उदयसिंह द्वारा किए गये इस आत्मसमर्पण को स्वीकार किया और चित्तौड़ पर हमले के विचार को छोड़ दिया। शेरशाह और राणा के बीच हुई संधि के अनुसार शम्स खाँ को चित्तौड़ के किले का सूबेदार नियुक्त किया गया तथा चि›ौड़ और उसके आसपास के इलाके को सरकार-ए-चित्तौड़ बना दिया गया तथा उस पर शासन करने के लिए महमूद खाँ सरवानी तथा हुसैन खा खिलजी को नियुक्त कर दिया गया। लेकिन यह नाम़मात्र की नियुक्तियां थी। डॉ० कालिका रंजन कानूनगो लिखते है कि "शेरशाह ने स्थानीय शासकों को पदच्युत करने या उन्हें पूर्ण आश्रित बनाने का कोई प्रयत्न नहीं किया था। उसने ऐसा करना संकट पूर्ण और निरर्थक समझा। वह उनकी स्वतंत्रता का सर्वथा अपहरण नहीं करना चाहता थ।"

शेरशाह की सन् 1545 ई० में मृत्यु के बाद चित्तौड़ पर राजपूतों का पुनः पूर्ण अधिकार हो गया। और अफगानों को वहाँ से भगा दिया गया। लेकिन चित्तौड़ दुर्ग पर अफगानों के थोड़े समय के लिए नाममात्र के अधिकार ने उदयसिंह की आंखे खोल दी। उसने अनुभव किया कि चित्तौड़ अब असुरक्षित है और राजधानी के लिए उपयुक्त नहीं है उसने चित्तौड़ से दूर "गिर्वा" के क्षेत्र में, जो चारों ओर से पर्वत मालाओं के घिरा हुआ था, राजधानी निर्माण का निर्णय लिया। राजाधानी का नाम उदयपुर रखा गया। सन् 1554 ई० में उदयसिंह ने बून्दी के राव सुरजन हाड़ा से मैत्री पूर्ण संबंध स्थापित किए तथा सन् 1556 ई० मे हाजीखाँ पठान को परास्त

किया। उदयसिंह ने 1562 ई० में सिरोही के मानसिंह देवड़ा को आश्रय दिया, भोमट के राठौरों को दबाया तथा सन् 1563 ई० के लगभग तक जूड़ा, ओगना व पानरवा के सरदारों पर अपने प्रभुत्व की स्थापना की। इन गतिविधियों के द्वारा उदयसिंह ने अपनी आंतरिक और बाह्य स्थितियों में सुधार किया। सन् 1562 ई में राणा उदयसिंह ने अकबर से पराजित होकर भागे मालवा के सुल्तान बाजबहादुर को अपने यहाँ शरण दी।

मारवाड़

हुमायूं के समकालीन मारवाड़ का शासक राव मालदेव (सन् 1531 ई०-1562 ई०) है। मालदेव ने सन् 1527 में खानुआ के युद्ध में बाबर के विरुद्ध राणा सांगा की ओर से 4000 सवारों के साथ हिस्सा लिया था। मालदेव अपने पिता राव गांगा (सन् 1515 ई० 1531 ई) की ही भांति हिन्दुस्तान में मुस्लिम शासकों के विरुद्ध निरन्तर सक्रिय रहा। मालदेव एक महत्त्वाकांक्षी शासक था, उसने विस्तारवादी नीति अपना कर भाद्रजण, नागौर मेड़ता, अजमेर, सिवाना जौलार आदि को अधिकृत करके अपने राज्य में मिला लिया था। राव मालदेव की परिस्थितियाँ उसके अनुकूल रही। राणा सांगा की मृत्यु मेवाड़ का कमजोर होना, हुमायूं का शेरशाह से उलझे रहना और बाद में भारत से पलायन तथा 1537 में बहादुरशाह की मृत्यु इत्यादि ने उसे राज्य विस्तार के लिए अच्छे अवसर प्रदान किए।

मालदेव ने मारवाड़ की गद्दी पर बैठने के प्रारंभिक दस वर्ष अपने शासन का विस्तार करने और बाद के वर्ष इसकी सुरक्षा करने मे बिताए। सन् 1535 ई० में गुजरात के बहादूरशाह द्वारा चित्तौड़ पर हमले के समय उसने विक्रमादित्य को सैनिक सहायता भेजी थी। बाद में बनवीर के विरुद्ध उदयसिंह को राणा घोषित करने में मालदेव की मुख्य भूमिका रही। इन कृत्यों से जोधपुर का सम्मान राजपूताने में बढ़ा। 1537 ई० में बहादुरशाह के निधन के पश्चात् मालदेव निश्चित होकर राज्य विस्तार में लगा क्योंकि इधर शेरशाह और हुमायूं आपस में ही संघर्षरत थे। सन् 1535 ई० में मेड़ता और अजमेर जीता सन् 1536 ई में नागौर तथा सन् 1537 ई में सिवाना व जालौर पर विजय पाई। सन् 1539 ई० में उसने जोधपुर के दक्षिण में स्थित भद्राजग को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। इस प्रकार मालदेव ने सिर्फ दस वर्ष की समयावधि में 48 जिले जीत लिये और उसकी सीमा दिल्ली और आगरा को छूने लगी। जिस समय शेरशाह ने सन् 1540 ई० में हुमायूं को निर्णायक रूप से परास्त किया था, मालदेव उत्तरी हिन्दुस्तान का एक शक्तिशाली

राजा बन चुका था। फरिश्ता मालदेव को उस समय का सबसे ताकतबर हिन्दूशासक मानता है।

मालदेव और बीकानेर

मालदेव के समय बीकानेर का शासक राव जैतसी (सन् 1526-1542 ई०) था। मालदेव जब मेड़ता नागौर और शेखावटी पर अपनी अधिकार कर चुका तो राज्य विस्तार की आकांक्षा से उसने अपने सेनापति कूंपा के नेतृत्व में एक सेना बीकानेर भेजी। साहेबा के मैदान में राव जैतसी ने मालदेव की सेना का सामना किया और वीरगति को प्राप्त हुआ (सन् 1542)। इस प्रकार मालदेव ने बीकानेर को अपने अधीन किया।

मालदेव और जैसलमेर

मालदेव ने जैसलमेर राज्य से संबंध सुधारने के उद्देश्य से सन् 1536 ई० में राजकुमारी उम्मादे से विवाह किया। लेकिन अज्ञात कारणों से पति पत्नि में अनबन हो गई। इस अनबन ने दोनों राज्यों के बीच शत्रुता की खाई खोद डाली। रानी उम्मादे नाराज होकर अजमेर के तारागढ़ में रहने लगी और फिर कभी मालदेव के बुलाने पर भी जोधपुर नहीं गई। रूठी रानी के नाम से प्रसिद्ध यह रानी मालदेव की मृत्यु पर उसकी चिता पर सती हो गई। आपसी क्लेश ने दोनों राज्यों के संबंध इतने खराब कर दिए कि जब मारवाड़ पर विपत्ति आई तो जैसलमेर ने कोई सहायता नहीं दी।

मालदेव और मेवाड़

मालदेव के समय प्रारंभ में मेवाड़ मारवाड़ संबंध बहुत अच्छे थे। बनवीर के विरुद्ध मालदेव ने ही राणा उदयसिंह का समर्थन किया और उसे सहायता दी। इस उपकार के बदले में उदयसिंह ने मालदेव को एक हाथी और चार लाख रुपये दिए थे। दोनों शासक आपस में मित्र भी थे। उनकी मित्रता और दोनों राज्यों की सामन्यता एक कन्या के प्रश्न को लेकर टूट गई। " जोधपुर राज्य का इतिहास लिखते समय ओझा ने इस का रोचक वर्णन किया है (पृष्ठ 292- 93)। झाला सज्जा का पुत्र जैतसिंह राणा उदयसिंह से नाराज होकर मालदेव के पास आ जाता है। मालदेव ने न सिर्फ असंतुष्ट सांमत को शरण दी बल्कि खैरवा की जागीर भी दे दीं। बदले में जैतसिंह ने अपनी पुत्री स्वरूप देवी का विवाह मालदेव के साथ कर दिया। कुछ समय बाद जब मालदेव अपनी ससुराल गया तो वह अपनी साली

पर आसक्त हो गया और उसने जैतसिंह पर उसकी छोटी लड़की का विवाह स्वयं के साथ करने हेतु दबाव डाया। जैतसिंह को यह पंसद नहीं आया और उसने शीघ्रता से मालदेव का राज्य छोड़ा उदयपुर वापस आया तथा अपनी छोटी कन्या का विवाह राणा उदयसिंह से कर दिया। नाराज मालदेव ने कुम्भलगढ़ पर हमला करके मेवाड़ से अपने संबंध सदैव के लिए बिगाड़ लिए। जब मालदेव पर संकट आया तो मेवाड़ ने भी उसे कोई सहायता नहीं दी।

मालदेव और हुमायूं

जब सन् 1540 ई०तक मालदेव मारवाड़ पर सम्पूर्ण अधिकार कर चुका था तब उसी समय बाबर का लाड़ला व भाग्यहीन उत्तराधिकारी हुमायूं 17 मई सन् 1540 ई को कन्नौज (बिलग्राम) की लड़ाई में शेरशाह से परास्त होकर हिन्दुस्तान का ताज खो चुका था और हिन्दुस्तान से खानाबदोशों की तरह भागने की तैयारी कर रहा था। पीछा करती शेरशाह की सेना से बचने के लिए हुमायूं ने सिंध के भक्कर नामक स्थान पर शरण ली। इधर शेरशाह के पैतृक इलाके बिहार और बंगाल में अशांति हो जाने के कारण शेरशाह को दिल्ली से एक हजार मील दूर बंगाल जाना पड़ा। यह समय हुमायूं द्वारा दुबारा दिल्ली जीतने के लिए उपयुक्त अवसर था। ऐसी दशा में मालदेव ने हुमायूं को निमंत्रण भेजा और 20000 सैनिकों की सहायता देने का बचन दिया। हुमायूं स्वभावगत् आलसी होने के कारण अपने स्थान पर पड़ा रहा और थट्टा (सिंध) के शासक शाह हुसैन की सहायता से गुजरात विजय की नई योजना बना डाली। इस योजना में हुमायूं की सोच यह थी कि वह शेरशाह से दूर गुजरात में अपनी शक्ति का संगठन करके शेरशाह का सामना करेगा। जब हुमायूं सात माह तक शैवाने के किले में व्यर्थ घेरा डाल कर थट्टा वापस लौटा तो शाह हुसैन में अपने दुर्ग के दरवाजे हुमायूं के लिए बंद कर दिए। इन परिस्थितियों में हुमायूं मात्र 300 सैनिकों के साथ इधर उधर भटकने लगा। मालदेव के निमंत्रण के एक वर्ष बाद वह 7 मई 1542 ई को जोगीतीर्थ (मारवाड़) आया और मालदेव से सहायता की याचना की। लेकिन इस एक साल में परिस्थितियों बदल चुकी थी। शेरशाह ने न सिर्फ बंगाल और बिहार की अराजकता पर काबू पा लिया था बल्कि उसने दिल्ली आगरा में भी अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली थी। मालदेव ने इस अवसर पर शेरशाह से शत्रुता लेना व्यर्थ समझ कर हुमायूं को सैन्य सहायता देने से इंकार किया, यद्यपि उसने हुमायूं को मूल्यवान उपहार भेजकर बीकानेर का परगना देने का प्रस्ताव रखा। मालदेव और हूमायूं के इस संबंध पर फरिश्ता और हुमायूं

की बहन गुलबदन बेगम ने मालदेव पर विश्वासघात का आरोप लगाया है।

हुमायूं ने बारी - बारी से तीन दूत मालदेव के पास भेजे। ये दूत थे - मीर समन्दर, रायमल सोनी और अतका खाँ। हुमायूं का एक पुस्तकालयाध्यक्ष मुल्ला खाँ पहले ही मालदेव की सेवा में था। इन चारों ने हुमायूं को सलाह दी कि मालदेव केवल बातों में समय गुजार रहा है वह सहायता नहीं देगा। मुल्ला सूर्ख ने तो हुमायूं को मालदेव के राज्य से निकल जाने की सलाहदी। इन सबसे हूमायूं व्यग्र हो उठा और बीकानेर का परगना न लेकर अमरकोट की ओर चल दिया।

शेरशाह और मालदेव

शेरशाह और मालदेव का संघर्ष दो उदीयमान शक्तियों का संघर्ष था। शेरशाह ने हुमायूं को हराकर मुग़लों के अस्तित्व को चुनौती दी थी और भगोड़ा हुमायूं दरबदर की ठोकरें खाकर जोधपुर के प्रतापी व महत्त्वाकांक्षी शासक मालदेव की शरण से निराश होकर फारस भाग गया था। शेरशाह को अपने राज्य का स्थायित्व बनाये रखने के लिए यह अनिवार्य था कि वह मारवाड़ जैसे ताकतवर राजपूत राज्य का मर्दन करे।

इस संघर्ष का एक अन्य कारण भी है। जब हुमायूं मालदेव के राज्य में उससे सहायता की आशा में आया तब शेरशाह ने मालदेव को एक दूत भेजकर यह इच्छा प्रकट की कि वह हुमायूं को बदी बनाकर दिल्ली भेज दें मालदेव ने चतुराई पूर्वक हुमायूं के समक्ष ऐसी स्थितियां पैदा की जिससे हुमायूं, जिसे वह सहायता देकर शेरशाह से प्रत्यक्ष शुत्रता नहीं लेना चाहता था, उसके राज्य से बाहर चला जाये और इस प्रकार उसकी राजपूती मर्यादा भी बनी रहे और वह हुमायूं को शेरशाह को सौपने की शर्मीदगी से भी बच सकें। लेकिन मालदेव के इस कार्य से न तो शेरशाह प्रसन्न हुआ और न ही हुमायूं। जब शेरशाह और मालदेव की सेनाएं सामेल के मैदान में आमने सामने हुई तब शेरशाह ने छलपूर्वक मालदेव की सेना में फूट डलवा दी ओर विजय हासिल की (5 सन् 1544)। इस कठिन विजय के बाद शेरशाह ने कहा कि खुदा को धन्यवाद, मैनें मुठ्ठी भर बाजरे के लिए हिन्दुस्तान की बादशाहत् खो दी होती। शेरशाह की मृत्यु (1545) के बाद मालदेव ने पुनः अपने राज्य को जीत लिया। मालदेव ने सामेल के युद्ध को छोड़कर 52 युद्धों में विजय पाई थी और एक समय उसकी सीमा दिल्ली से सिर्फ 50 मील दूर थी।

राव मालदेव शेरशाही वंश के पतन के बाद भी जीवित रहा और उसने देखा

कि दिल्ली का ताज एक बार फिर हुमायूं के ऊपर मेहरबान हो गया। हुमायूं की मृत्यु के बाद अकबर की मां ने मालदेव के द्वारा हुमायूं के प्रति किए गए दुव्यर्वहार की याद दिलाई। इसका बदला लेने और एक नीति के तहत् राजपूतों की शक्ति को खत्म करने के लिए अकबर ने सन् 1561 ई० में मारवाड़ पर हमला किया। पराजित मालदेव ने अपने ज्येष्ठ पुत्र उदयसिंह को जो इतिहास में मोटा राजा के नाम से प्रसिद्ध है, अकबर की सेवा में भेजा। मालदेव की सन् 1562 ई० में मृत्यु हो गयी।

बीकानेर

बीकानेर राज्य का संस्थापक राव बीका जोधपुर (मारवाड़) के संस्थापक राव जोधा का पुत्र था और इस नाते बीकानेर मारवाड़ की एक शाखा थी। 16 वीं शताब्दी में इसका प्रसिद्ध शासक राव लुणकरण (सन् 1504-1526 ई०) था जो राव बीका का पुत्र था। लूणकरण ने रूदेवा, फतेहपुर, हिसार, सिरसा, नागौर को जीता था। जैसलमेर के राव जैतसी को हराकर उसकी पुत्रिकों का विवाह अपने पुत्रों से किया। राव लूणकरण ने इसके पूर्व चित्तौड़ के राणा रायमल की पुत्री (प्रसिद्ध राणा सांगा की बहन) से विवाह कर अपनी प्रतिष्ठा में वृद्धि कर ली थी। लूणकरण की मृत्यु 31 मार्च 1526 ई० को नारनैल के नवाब शेख अबीमीरा से युद्ध करते हुए हो गई। इसके बाद राव जैतसी (1526 ई० -1542 ई०) बीकानेर का शासक हुआ।

राव जैतसी (1526-1542 ई०) के समय भटनेर के दूर्ग पर कांधल के पौल खेतसी का अधिकार था। बाबर की मृत्यु के बाद हुमायूं मुग़ल सम्राट बना और उसके भाई कामरान को काबुल का शासन मिला। कामरन में काबुल से मारवाड़ तक शासन को विस्तारित करने की आकांक्षा थी। अत: वह भटनेर पर अधिकार जमाने के लिए इच्छुक था। जबकि भटनेर किले पर हुमायूं का थाना था। जब हुमायूं ने वहाँ के कामदार को हटा कर दूसरे कामदार को नियुक्त किया तो पदच्यूत कामदार ने खेतसी से सहायता मांगी। खेतसी ने मुग़ल सेना को हटाकर भटनेर पर कब्जा जमा लिया। कामरान ने 1534 ई० में भटनेर पर हमला कर उसे अधिकृत कर लिया और बीकानेर पर हमला किया तब राव जैतसी ने 26 अक्टूबर सन् 1535 ई०में कामरान को हराकर भगा दिया।

जोधपुर के शासक मालदेव ने सन् 1541 ई० में बीकानेर पर हमला किया

और राव जैतसी के मारे जाने के बाद उसने बीकानेर को अपने राज्य में मिला लिया। जैतसी का पुत्र कल्याणमल निरन्तर बीकानेर की स्वाधीनता के लिए संघर्षरत रहा। शेरशाह ने कल्याणमल के मंत्री नगराज की मध्यस्थता में कल्याणमल को बीकानेर के शासक के रूप मे मान्यता दी थी। सन् 1544 ई० में शेरशाह के द्वारा मालदेव के विरुद्ध अभियान में कल्याणमल उसके साथ था। बाद में कल्याणमल ने सन् 1570 ई० में अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली।

आमेर

महाराणा सांगा के सामंत के रूप में आमेर नरेश पृथ्वीराज ने खानुआ के युद्ध (1527ई) में भाग लिया था। इस वीर के उत्तराधिकारी अयोग्य निकले फलतः तत्कालीन केन्दीय शक्ति के अधीन हो गए। पृथ्वीराज की मृत्यु के बाद उसका छोटा पुत्र पूर्णमल (1527 ई०-1533) गद्दी पर बैठा जिसे बाद में उसके बड़े भाई भीमदेव (1533 ई०-1536ई) ने हटाकर आमेर की गद्दी पर कब्जा जमाया। 1536 ई० में भीमदेव की मृत्यु के बाद उसका अयोग्य पुत्र रत्नसिंह आमेर का शासक बना जिसने शेरशाह की अधीनता स्वीकार कर ली। भारमल ने रतनसिंह को षडयंत्र रचकर मरवा दिया और कुछ समय के लिए उसके छोटे भाई आसकरण को गद्दी पर बैठाया गया। बाद में भारमल में सन् 1547 ई० में आमेर की गद्दी पर अधिकार जमा लिया। यह वही भारमल (1547 ई-1573 ई०) है जिसने अपनी पुत्री का विवाह अकबर से 1562 को कर के मुग़ल राजपूत वैवाहिक संबंधों की शुरूआत की थी।

जैसलमेर

हुमायूं का समकालीन जैसलमेर नरेश रावल लूणकरण (सन् 1528 ई०-1550ई) था। इसके 22 वर्ष के शासन काल में राजनीतिक शांति लगभग बनी रही। इस समय जैसलमेर के आसपास ऐसा कोई राज्य नहीं था जिससे खतरा उत्पन्न होता, केवल मारवाड़ का शासक राव मालदेव को छोड़कर जिसे लूणकरण ने एक- एक करके अपनी दो पुत्रियां ब्याह दी थी और मित्रता बनाये रखने का जीवन पर्यन्त प्रयास किया।

रावल लूणकरण और हुमायूं

रावल लूणकरण के राज्य में हुमायूं का निर्वासित अवस्था में जैसलमेर आने का उल्लेख तत्कालीन ऐतिहासिक स्त्रोतों में मिलता है परन्तु आश्चर्यजनक रूप से

स्थानीय स्त्रोत मौन है। जब हुमायूं शेरशाह से परास्त होकर सिंध में भटक रहा था, और थट्टा के शासक शाह हुसैन ने उसे सहारा नहीं दिया तब वह जोधपुर के मालदेव की ओर जाने के लिए जैसलमेर के रास्ते रवाना हुआ। तबकात - ए- अकबरी में निजामुद्दीन अहमद बख्शी लिखता है - " हुमायूं ने जैसलमेर के मार्ग से मालदेव के राज्य की ओर कूच किया। जैसलमेर के शासक ने बड़ी निर्लज्जता से अपुरुषोचित मार्ग का अवलम्बन किया। उसने बादशाह के छोटे से दल पर हमला करने के लिए एक सेना भेजी परन्तु उसे हराकर व क्षति पहुँचा कर भगा दिया गया। हूमायूं के बहुत से आदमी घायल हो गए।" अबुल फजल सेना की दुर्दशा के बारे में लिखता है- "जैसलमेर के रावल लूणकरण ने शुत्रता करके तालाब में पहरे बिठा दिए, तब थकी हुई शाही सेना को जलाभाव के कारण बहुत बड़ा कष्ट हुआ।" लेकिन हुमायूं के साथ चल रहे जौहर आफताबाची के वर्णन से स्पष्ट है कि हुमायूं को जैसलमेर राज्य से गुजरते हुए रावल लूणकरण की ओर से कोई कष्ट नहीं पहुँचाया गया बल्कि उसके आदमियों द्वारा गौवध किये जाने और जल भ्रष्ट किए जाने पर स्थानीय निवासियों से उसकी झड़पे हुई थी।

कांलिजर

वर्तमान उत्तर प्रदेश के बांदा जिले में कांलिजर का ऐतिहासिक दुर्ग पर्वतीय विंध्यश्रेणी की कई सौ फुट ऊंची और अकेली चट्टान पर बना है, जिसके कारण उस पर विजय दुष्कर मानी जाती थी। सल्तनत काल से ही इस पर नियंत्रण के लिए तुर्क- राजपूती संघर्ष होते आये थे। बाबर के समय हुमायूं ने शाहजादे की हैसियत से इस किले पर हमला किया था। दिल्ली की गद्दी पर बैठने के छै: माह बाद ही हुमायूं ने कांलिजर अभियान किया (अगस्त सन् 1531ई०)कांलिजर का चंदेल राजा प्रतापरूद्र अफगानों का समर्थक माना जा रहा था इसके अतिरिक्त उसने कालपी पर अधिकार जमाने का प्रयास किया था। मध्ययुग में मालवा और यमुना घाटी को जोड़ने वाली कड़ी के रूप में कालपी का एक सैन्य रणनीतिक महत्त्व था। इधर बहादुर शाह मार्च 1531 में मालवा पर अधिकार जमा चुका था और उसकी नजर उत्तरी हिन्दुस्तान पर थी। कालपी पर से ही बहादुरशाह की प्रगति पर नजर रखी जा सकती थी। राजा प्रतापरूद के संदिग्ध व्यवहार से नाराज हुमायूं ने कांलिजर का घेरा डाल दिया और उसकी तोपे दुर्ग के कोट पर गोलाबारी करने लगी। इसी बीच एक माह के घेरे के बाद हुमायूं को यह चिंताजनक समाचार मिला कि इब्राहिम लोदी के भाई महमूद लोदी ने जोनपुर पर अधिकार करके मुग़ल

अधिकारियों को पीछे हटने हेतु विवश कर दिया है। हुमायूं ने राजा से एक अस्पष्ट सी संधि की जिसके अनुसार हुमायूं को जन- धन की हानि के मुआवजे के रूप में 12 मन सोना दिया गया। कालिजंर अभियान असफल रहा, न तो राजा पराजित किया जा सका और न ही हुमायूं को उसके लक्ष्य की प्राप्ति हुई। जबकि प्रतापरूद को आसानी से मित्र बनाया सकता था।

हुमायूं के भाई तथा उनके राज्य

मृत्यु के पहले बाबर ने हुमायूं को यह आज्ञा दी थी वह अपने भाइयों के प्रति कोई ऐसा व्यवहार न करे जिससे उन्हे दुख और कष्ट हो। इस तरह बाबर ने हुमायूं के द्वारा अपने भाईयों के प्रति नीति को खुद तय कर दिया था। हुमायूं ने राज्यारोहण के साथ ही अपने भाईयों के मध्य साम्राज्य का विभाजन कर दिया।

साम्राज्य विभाजन

हूमायुं ने अपने भाई कामरन मिर्जा को काबुल कंधार के प्रदेश, हिन्दाल मिर्जा को मेवात प्रदेश (जिसमें आधुनिक अलवर, गुड़गांव, मथुरा और आगरा के कुछ हिस्से शामिल थे), अस्करी मिर्जा को हुमायूं की पुरानी जागीर सम्भाल प्रदेश दिये गये। हुमायूं ने अपने चचेरे भाई सुलेमान मिर्जा को बदख्शां स्थायी रूप से दे दिया। कामरान इस राज्य विभाजन से असतुष्ट था, इसलिए वह काबुल को अस्करी की देखरेख में छोड़कर एक सेना के साथ हिन्दुस्तान रवाना हुआ। पेशावर और लममान पर अधिकार जमाकर वह पंजाब में घुसा (सन् 1531ई०)। हुमायूं ने उसके पास एक दूत भेजकर सूचित किया कि उसे काबुल कंधार के अतिरिक्त पेशावर और लमगान भी दिया गया है, अब वह अपने राज्य वापस लौट जाये। लेकिन कामरान आगे बढ़ता आया और उसने मुल्तान पर अधिकार करके लाहौर पर घेरा डाल दिया और धोखे से उस पर अधिकार जमा लिया। हुमायूं चारों ओर से बाह्य कठिनाईयों से घिरा हुआ था और बाबर की इच्छानुरूप गृहयुद्ध से बचना चाहता था अत: उसने एक फरमान जारी करके काबुल कंधार के साथ साथ पंजाब भी कामरान को सौंप दिया। बाद में कामरान के द्वारा रची गई एक चाटुकारितापूर्ण कविता पर प्रसन्न होकर उसे हिसार- फिरोजा का बहुमूल्य प्रान्त भी अनुदान के रूप में दे दिया। इस विभाजन में हुमायूं की सबसे बड़ी भूल यह थी कि उससे साम्राज्य के अत्यंत महत्त्वपूर्ण हिस्से कामरान को सौंप दिये। हूमायुं के हाथ में केवल नए जीते हुए इलाके रह गये और वह उन समस्त संसाधनों से वंचित हो गया जिनकी सहायता से नए इलाके जीते गये थे। पंजाब और हिसार पर कामरान के

अधिकार को स्वीकृत करके हुमायूं ने अपने साम्राज्य - संगठन की जड़े काट दी। काबुल, कंधार और सिंध के क्षेत्र हाथ से निकल जाने पर सेना के लिए रंगरूटों की भर्ती का सबसे अच्छा इलाका छिन गया। सामान्यत: मुग़ल फौज की भरती मध्यएशिया के क्षेत्रों से होती थी। कामरान के हाथों पंजाब, काबुल कंधार के चले जाने से हुमायूं का मध्यएशिया से संपर्क टूट गया। इसका परिणाम हुमायूं को आगे भुगतान करना पड़ा। जब शेरखाँ के विरुद्ध युद्धों में उसे मुग़ल सेना की संख्या धीरे धीरे कम होते जाने पर मुग़लों के लिए संदिग्ध माने जाने वाले स्थानीय रंगरूटों की भर्ती की- जिसके परिणाम सुखद नहीं रहे।

युद्धो में भाइयों का असहयोग

जब हुमायूं 26 जुलाई 1536 ई० को शेरखाँ के विरुद्ध आगरा से रवाना हुआ तब अस्करी और हिन्दाल उसके साथ थे। बंगाल विजय के बाद चारे और रसद की कमी को पूरा करने का कार्य हिन्दाल को सौंपा गया। लेकिन हिन्दाल ने बिना आज्ञा के आगरा पहुँच कर स्वयं बादशाह बनना चाहा। हिन्दाल मिर्जा के विद्रोह की खबर पाकर हुमायुं ने शेख बहलूल को समझाने भेजा लेकिन हिन्दाल ने मिर्जा नुरूद्दीन मुहम्मद की बातों में आकर अपने नाम का खुतबा पढ़ाया और उसने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। दिलदार बेगम एवं अन्य की मध्यस्थता से हिन्दाल ने क्षमायाचना कर ली। लेकिन इन घटनाओं का प्रभाव हुमायुं के बंगाल अभियान पर पड़ा और उसे समय पर सैनिक सहायता नहीं मिल पायी।

चौसा के युद्ध के समय हुमायूं के साथ अस्करी था तथा कामरान व हिन्दाल दोनो आगरा में बैठे हुए थे। कामरान और मुग़ल अमीरों ने शेरखाँ के विरुद्ध संकट में फसे हूमायुं की मदद के लिए चौसा जाने का इरादा किया लेकिन कुछ सामन्तों के समझाने पर कामरान वापस लौटा आया। दोनो भाइयों में मतभेद के चलते कामरन की 20000 सैनिकों की फौज का शेरखाँ के विरुद्ध इस्तेमाल नहीं हो सका। कन्नौज युद्ध के पहले ही कामरान अपनी सेना सहित लाहौर चला गया। कन्नौज के युद्ध में हुमायूं के साथ अस्कारी और हिन्दाल दोनों लड़े थे। पराजय के बाद चारों भाई लाहौर में इकट्ठे हुए, इस बीच इन चारो के बीच एकता कायम करने के असफल प्रयास हुए। शेरखाँ का एक दूत हुमायूं से असफल वार्ता करता रहा और इधर कामरान ने स्वतंत्ररूप से शेरखाँ से वार्ता प्रारंभ की। कामरान ने शेरखाँ को यह प्रस्ताव दिया कि पंजाब को कामरान का इलाका मान लिया जाये तो वह हुमायूं को बंदी बनाकर शेरखाँ को सौंप देगा। अन्तत: हुमायूं ने लाहौर छोड़कर

सिंध की राह ली। यहाँ उसके साथ हिन्दाल था जो हमीदाबानों से विवाह के प्रश्न पर हुमायुं से नाराज होकर कंधार आ गया। जुलाई सन् 1543 ई० तक सिंध की परिस्थितियां इतनी कठिन हो गई कि अब हुमायूं ने फारस जाना चाहा, मार्ग में कामरान की आज्ञा से अस्करी ने एक सेना लेकर हुमायूं को बंदी बनाने की कोशिश की। विवशता में हुमायूं को हमीदाबानों और अकबर को वहीं छोड़कर फारस जाना पड़ा। हुमायूं को हिन्दुस्तान से निर्वासन के समय सन् (1543 ई० से 1555 ई०) का अधिकांश अपने भाईयों के साथ संघर्ष में व्यतीत हुआ।

अस्करी जो कामरान के साथ था, गिरफ्तार हुआ और अपनी इच्छानुसार मक्का चला गया (सन् 1551 ई०), जहाँ सन् 1557-58 में उसकी मृत्यु हो गई। इसी बीच हिन्दाल जो हुमायूं के साथ था, कामरान के विरुद्ध युद्ध करते हुए मारा गया। कामरान मिर्जा ने सारी मर्यादायें तोड़ दी और उसने शेरशाह के उत्तराधिकारी इस्लामशाह के दरबार में सहायता की याचना की थी जो किन्ही कारणों से उसे नहीं मिली। कामरान की गिरफ्तारी नाटकीय ढंग से हुई। उसे बलूच सरदार आदम गख्खर ने पकड़ कर हुमायूं को सौप दिया और हुमायूं ने उसे अंधा करन की आज्ञा दी थी। कामरान मक्का चला गया जहाँ 5 अक्टूबर सन् 1556 को मात्र अड़तालीस बरस की उम्र में उसकी मृत्यु हो गयी।

हुमायूं की कठिनाईयों में और मुग़ल साम्राज्य की डांवाडोल स्थिति निर्मित करने में इन भाइयों का अधिक हाथ था। हुमायूं के भाइयों में सबसे अधिक विरोधी कामरान ही था। हुमायूं ने अपने भाइयों के विद्रोह करने पर बारम्बार क्षमा किया। अन्त में विवश होकर अमीरों की सलाह से उसने अपने भाइयों को दण्ड देने का कार्य किया।

अफगान मुग़ल संघर्ष

हुमायूं की सबसे बड़ी चुनौती अफगानों से निपटने की थी। कालिंजर घेरे के समय ही दिल्ली के मरहूम सुल्तान इब्राहिम लोदी का भाई महमूद लोदी ने जौनपुर पर अधिकार जमा कर मुग़ल अधिकारियों को भगा दिया था। महमूद लोदी और उसके साथियों ने पहले ही बिहार में ताकत इकठ्ठी कर ली थी। हुमायुं के लिए उनसे युद्ध करना अनिवार्य हो चला था। हुमायुं ओर महमूद लोदी की भिड़त लखनऊ के निकट दादरा या दौरूआ नामक स्थान पर हुई। भंयकर युद्ध में दो प्रमुख अफगान नेता इब्राहिम और बायजीद अगस्त 1531ई० को मारे गये। जौनपुर पर अधिकार करके उसे जुनैद बारलास को सौप दिया गया (अक्टूबर 1532 ई)।

शेरखाँ ने इस गाढ़े समय में महमूद लोदी की सहायता नहीं की और यह आशन्वित रहा कि उसे चुनार का किला सौंप दिया जायेगा।

हुमायूं के द्वारा चुनार का पहला घेरा (सितम्बर- दिसम्बर सन् 1532 ई०) शेरखाँ के साथ संघर्ष की शुरूआत थी। इसी बीच बहादुरशाह द्वारा मालवा विजय के बाद चित्तौड़ पर हमले की खबर मिली। हुमायूं को आशंका थी कि बहादुर शाह आगरा और दिल्ली में हमला करेगा। हुमायूं ने शीघ्रता में एक संधि की, घेरा उठाया और बहादुरशाह की ओर फौज लेकर बढ़ा। लेकिन हूमायूं आगरा में ही रूक गया। बाद में 1535-36 का समय हुमायूं ने मालवा गुजरात की विजय और फिर उसे खो देने में लगाया। अब हुमायूं ने अपना ध्यान शेरखाँ की ओर लगाया।

अब हुमायुं ने शेरखाँ से निर्णायक संघर्ष (अक्टूबर 1537 ई० से जून 1540 ई०) शुरू कियां जब हुमायूं बहादुरशाह के साथ युद्धरत था तो शेरखाँ ने मौके का फायदा उठाते हुए न सिर्फ बिहार में अपनी स्थिति मजबूत की बरन् बंगाल के कुछ हिस्सों पर कब्जा भी कर लिया। हुमायूं ने हिन्दु बेग को जौनपुर भेजा ताकि वह शेरखाँ की गतिविधियां का पता लगायें। शेरखाँ ने हिन्दु बेग को उपहारों से प्रसन्न कर लिया और हिन्दुबेग ने उसके पक्ष में हूमायूं को सूचना भेजवाई कि शेरखाँ स्वाभाभक्ति है। इधर शेरखाँ के ने बंगाल पर चढ़ाई करके सुल्तान गयासुद्दीन महमूद शाह को हटाया (1538 ई०)। जैसे ही हुमायुं को शेर खाँ अभियान की सूचना मिली उसने बिहार- बंगाल पर चढ़ाई का निश्चय किया। आगरा से चलकर हुमायुं ने चुनार के किले पर दूसरा घेरा डाला। जिस समय हुमायूं ने चुनार घेरा उस समय शेरखाँ ने गौड़ का घेर रखा था (सन् 1538 ई०) हुमायूं ने 6 माह के अथक परिश्रम के बाद चुनार जीता। उधर शेरखाँ ने गौड़ की विजय कर बंगाल के शासक का राजकाष प्राप्त किया जिससे उिसकी शक्ति काफी बढ़ गई। बाद में शेरखाँ ने रोहतास के शासक से छल करके रोहतक दुर्ग छीन लिया। हुमायूं ने आगे बढ़कर बनारस जीता और शेरखाँ से संधि की बातचीत चलाई। बीतचीत टूट जाने पर हूमायूं बंगाल की ओर बढ़ा। इधर शेरखाँ रोहतास में पड़ा हुआ उसकी गतिविधियों पर पैनी नजर रखा रहा था। हुमायूं गौड़ जीतने के बाद कई महिने आराम करता रहा और इधर शेरखाँ को तैयारी का मौका मिल गया।

चौसा का युद्ध (26 जून 1539 ई०)

हुमायूं जैसे ही बंगाल से वापस मुड़ा, अफगान अमीरों की सलाह पर शेरखाँ

रोहतास की पहाड़ियों से निकलकर मुग़लों की ओर बढ़ा। कर्मनासा नदी के किनारे चौसा के मैदान में दोनों सेनाएं तीन माह तक पड़ी रही। आगरा से कोई सहायता न आते देखकर हुमायूं ने शेरखाँ से संधि की बातचीत चलाई। हुमायूं का दूत शेख खलील जब शेरखाँ के पास पहूचा तो शेरखाँ ने चतुराई पूर्वक शत्रुसेना का सही हालचाल जान लिया। 26 जून सन् 1539 ई की प्रात: होने से कुछ समय पूर्व शेरखाँ की सेना ने तीन भागों में विभक्त होकर सोती हुई मुग़ल सेना पर हमला किया। मुग़ल सेना में भगदड़ मच गई। मुग़ल इस प्रकार तितर बितर हुए कि हुमायूं को अपने परिवार को बचाने का समय नहीं मिला। पराजित हूमायूं ने घोड़े सहित गंगा नदी में छलांग लगा दी। चौसा के इस निर्णायक युद्ध ने हुमायूं के भाग्य का सूरज अस्त कर दिया और शेरखाँ की कीर्ति में चार चांद लगा दिए। इस युद्ध में लगभग 8000 मुग़ल सैनिक अमीर और मुग़ल छावनी की बहुत सी स्त्रियां मारी गई या डूब कर मर गई। गुलबदन बेगम के अनुसार चांद बीबी, शायबीबी तथा उनकी पुत्रियां आदि या तो खो गई या डूब कर मर गई। बाद में शेरखा ने मुग़ल छावनी की लगभग चार हजार स्त्रियों को जिनमें हुमायुं की बड़ी बेगम बेगाबेगम भी थी, सुरक्षित हूमायुं के पास पहुँचा दिया।

चौसा की जीत के बाद शेरखाँ ने अपने सरदारों की इच्छानुरूप शाही चिन्ह धारण किए तथा शेरशाह के नाम से शाही तख्त पर बैठ कर अपने नाम का खुतबा पढ़ाया और सिक्के जारी किए। इधर चौसा की हार के बाद हुमायूं आगरा में दस माह निरर्थक बैठा रहा, उधर शेरखाँ के सेनानायको हाजी खाँ बटनी और जलालखाँ ने गौड़ (बंगाल) पुन: घेरा और विजय के बाद जहांगीर कुली व पाँच हजार मुग़ल सैनिकों को मौत के घाट उतार दिया। इस प्रकार बंगाल बिहार में अपनी स्थिति सुदृढ़ कर शेरशाह दिल्ली पर कब्जे के लिए सन् 1540 ई में बढ़ा।

बिलग्राम (कन्नौज) का युद्ध (17 मई 1540 ई०)

शेरखाँ के कन्नौज की तरफ बढ़ने की सूचना मिलने पर हुमायूं ने भी सेना एकत्र करके कूच किया। इस बीच मुग़ल सेना में फूट पड़ चुकी थी। कामरान नाराज होकर अपनी सेना सहित वापस चला गया था। युद्ध स्थल पर मौजूद मिर्जा हैदर जो बाबर का चचेरा भाई था, ने तारीख- ए- रशीदी में मुग़ल सेना की युद्ध पूर्व हताशा और भगदड़ का सही चित्रण किया है मिर्जा हैदर लिखते है मोहम्मद सुलतान मिर्जा जो तैमूर का वंशज था .... उसने कई बार हुमायूं के विरुद्ध विद्रोह किया...

उसने क्षमा मांगी और क्षमा दी गई... अब शेरखाँ से मिल गया.... इस प्रकार एक नया मार्ग खुल गया, हर एक आदमी छोड़-छोड़कर भागने लगा.... सेना ने भागना शुरू किया इसलिए यह अच्छा समझा गया कि लड़ाई का सामना किया जाये जिससे यह सेना बिना लड़े ही नष्ट न हो जाये।...मेरे और नदी के बीच में 27 अमीरों की सेनाएं और उनके ध्वज थे.... लड़ाई के दिन शेर खाँ ने अपनी सेना को जमाया और वह बाहर निकला, तब इन 27 झण्डे वालों में से एक भी दिखाई न दिया... अमीरों की वीरता और युद्ध प्रियता साहस के इस प्रदर्शन से आंकी जा सकती है.... मेरा अनुमान था कि सब मिलाकर (शेरखाँ की सेना) पन्द्रह हजार से कम होगे लेकिन चगताई सेना चालीस हजार की थी... उसने एक भी तीर न चलाया कि सेवक लोग इस तरह भागने लगे जैसे हवा के सामने भूसा....ये लोग दस हजार आदमियों के सामने भाग गये और शेरखाँ को विजय प्राप्त हुई। चगताई उस रणभूमि में हार गये जिसमें मित्र को या शत्रु को एक भी घाव नहीं लगा, एक भी गोली नहीं चली और तोपों की सब गाड़ियां बेकार रही। मिर्जा हैदर आगे लिखता है - सब अमीर और वीर पुरुष अपनी सुरक्षा के लिए नदी की ओर भागने लगे... कितने ही अमीर डूबकर मर गये....बादशाह को एक घोड़े पर सवार कराया गया. ..दोपहर के समय जिसके दरवार में सत्रह हजार लोग उपस्थित थे उसके सिर या पैर पर कुछ नहीं था। कन्नौज में पराजित, हताश हुमायूं आगरा आया। अफगानों द्वारा अपना पीछा किया जाना जानकर अपने परिवार और कोष समेत पंजाब रवाना हुआ।

हुमायूं ने अपने भाइयों के बीच एकता के पुनः प्रयत्न किए परन्तु असफल रहा। लाहौर छोड़कर हुमायूं राजपूताना और सिंध में इधर- उधर भटकता रहा। बाद में हुमायूं फारस चला गया। इधर शेरशाह ने हिन्दुस्तान में अपना साम्राज्य सुदृढ़ किया।

हुमायूं की निष्कासन अवधि (1540-1555 ई०)

कन्नौज का युद्ध हारने के बाद हुमायूं जुलाई 1543 तक सिंध और राजपूताना में भटकता रहा। यहीं अमरकोट (सिंध) के राणा बीरसाल के महल में जहाँ हुमायूं ने शरण ले रखी थी, हमीदाबानों के गर्भ से 15 अक्टूबर सन् 1542 ई० को अकबर का जन्म हुआ। बाद में हुमायूं ईरान (फारस) पहुँचा। सन् 1543 से सन् 1555 का हुमायूं का समय अपने भाईयों के साथ संघर्ष में बीता। ईरान के शाह की सहायता से हुमायूं ने अस्करी से कंधार जीता (सितम्बर1545), कंधार दुर्ग जीतकर उसने

फारस के शाह तहमास्प को शर्त के अनुसार सौंप दिया। कंधार के पश्चात् हुमायूं काबुल की तरफ बढ़ा जो कामरान के कब्जे में था। कठिन संघर्ष के बाद हुमायूं ने नवम्बर 1545 ई० में काबुल जीत लिया। 1546 ई० में हुमायूं ने बदख्शां पर आक्रमण कर विजय पाई लेकिन जल्द ही कामरान ने पुनः बदख्शां जीत लिया। दोनों भाईयों में अगस्त 1548 ई० में पुनः मित्रता हुई लेकिन कामरान ने पुनः विद्रोह किया। किपचाक नामक सथान पर एक भयंकर युद्ध हुआ जिसमें हुमायूं बुरी तरह घायल हुआ। अवसर पाकर कामरान ने पुनः काबुल पर अधिकार किया लेकिन स्वस्थ होकर हुमायूं ने तीसरी बार काबुल जीता। अस्करी जो कामरान के साथ था गिरफ्तार हुआ और उसे मक्का भेज दिया गया (सन् 1551) जहाँ बाद में सन् 1558 में दमिश्क और मक्का के बीच "रूम के मुल्क" में उसका देहांत हुआ। इसी बीच कामरान ने अपने ससुर सिंध के शाह हुसैन अरगुन की मदद से काबुल पर पुनः हमला किया जो असफल रहा लेकिन लडाई में हुमायूं का साथ दे रहा हिन्दाल मारा गया (19नवंबर 1551 ई0)। कामरान मिर्जा भागकर शेरशाह के उत्तराधिकारी इस्लाम शाह से मिला और सहायता मांगी पर असफल रहा। क़ामरान को बलूचिस्तान के सुल्तान अहमद गक्खर ने गिरफतार कर हुंमायू को सौप दिया। बाद में उसे अंधा कर मक्का भेज दिया गया जहाँ उसकी 5 अक्टूबर सन् 1556 को मृत्यू हो गई।

हिन्दुस्तान पुनः विजय (सन्1555-56)

22 मई सन् 1545 को शेरशाह की कालिजंर के घेरे में एक दुर्घटना में मृत्यु हो गई। उसके पश्चात् उसके लड़के जलालखाँ ने इस्लाम शाह के नाम से गद्दी संभाली। इस्लाम शाह ने कुशलापूर्वक शासन किया और मुग़लों के विरूद्व नीति को जारी रखा। सूर साम्राज्य के दुर्भाग्य से इस्लाम शाह की सन् 1553 ई० में मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के बाद साम्राज्य पाँच सल्तनतों में बट गया जिसमें सिकंदरशाह (पंजाब), इब्राहिम शाह (दिल्ली,आगरा), महमूद शाह आदिल (चुनार से बिहार तक) तथा मुहम्मद शाह (बंगाल) अपने-अपने इलाके के शासक थे।

सन् 1554 ई० के नवम्बर माह में हुमायूं ने अफगानों के विरूद्व अभियान में कूच किया। शीघ्र ही पंजाब के अधिकांश भाग में हुमायूं ने कब्जा कर लिया। लुधियाना से 25 मील दूर मांछेवाड़ में सिकंदर शाह सूर की सेना एक भीषण युद्व में हुमायूं से परास्त हो गई (12 मई सन् 1555 ई०)। इस युद्व के बाद पूरा पंजाब, सरहिन्द, हिसार-फिरोजा और दिल्ली प्रदेश के कुछ इलाके मुग़लों के अधिपत्य में आ गये। अब सिकंदर शाह सूर स्वंय 80000 सैनिकों के साथ आगे बढ़ा। 22 जून

1555 ई० में सरहिन्द के मैदान में भीषण लड़ाई के बाद हुमायुं विजयी हुआ और रमजान के महिने में 23 जुलाई सन् 1555 ई० को हुमायूं ने एक बार फिर दिल्ली प्रवेश किया। एक बार फिर उसके नाम का खुतबा पढ़ा गया और सिक्के ढाले गये। लेकिन कुछ ही महीनों बाद हुमायूं अपने पुस्तकालय की छत से गिरकर बुरी तरह घायल हो गया और 24 जनवरी सन् 1556 ई० को उसकी मृत्यु हो गयी।

हुमायूं की नीति एवं प्रभाव

हुमायूं का अर्थ भाग्यवान होता है, परंतु हुमायूं सरीखे अभागे सम्राट दुनिया में कम ही हुए। उसे अपने पिता बाबर से विरासत में प्राप्त कर विशाल साम्राज्य जो मध्य एशिया के ट्रांस आक्सियाना से लेकर हिन्दुस्तान के बिहार तक फैला हुआ था, प्राप्त हुआ था परंतु हुमायूं ने अपनी चारित्रिक दुर्बलताओं और मूर्खताओं से गंवा दिया। लम्बे समय तक निर्वासित जीवन जीने, निरतंर सैन्य संघर्ष करने, भीषण उथल-पुथल भरे समय में सदैव संकट में रहने वाले हुमायूं ने कोई स्थायी प्रशासनिक धार्मिक सैन्य नीति का पालन नहीं किया, और न ही वह किसी स्थायी प्रशासनिक संस्था का निर्माण करा पाया। यह उसका सौभाग्य था कि उसने अपने अंत के पूर्व हिन्दुस्तान का साम्राज्य पुनः प्राप्त कर लिया था। लेकिन उसे राज्य को संगठित और व्यवस्थित करने का समय नहीं मिल पाया था। सच तो यह है कि हुमायूं में संगठन, प्रशासन और प्रबंधन की योग्यता का अभाव था। उसकी प्रमुख नीतियां और उसके प्रभाव निम्नांकित है -

(1) साम्राज्य विभाजन

जिन परिस्थितियों में हुमायूं दिल्ली के सिंहासन पर बैठा था, वे उसके चरित्र एवं व्यक्तित्व की विशेषताओं के चलते उसके लिए असाधारण और प्रतिकूल थीं। इस अवसर पर हुमायूं ने दूरदर्शिता से काम न लेकर असावधानीपूर्वक अपने साम्राज्य का बंटवारा अपने भाइयों के मध्य कर दिया। यह विभाजन हुमायूं की भावी विपत्तियों की जड़ बना। साम्राज्य विभाजन से हुमायूं उन सभी संसाधनों से वंचित हो गया जिनकी सहायता से हिन्दुस्तान जीता गया था। पंजाब और उत्तर-पश्चिम सीमांत प्रदेश मुग़ल साम्राज्य की आय के अच्छे स्त्रोत थे, इन इलाकों के कामरान के पास जाने से हुमायूं की आय के साधनों पर विपरीत प्रभाव पड़ा जिससे उसके पास युद्व और प्रशासन के लिए धन का अभाव हो गया। मध्य एशिया और सीमांत प्रदेश भी कामरान को दे दिए गये जो कि मुग़ल सैनिकों की भर्ती के मुख्य केन्द्र थे, अब हुमायूं को अच्छे रणकुशल सैनिकों की आपूर्ति बाधित

हो गई थी।

(2) समय के अपव्यय की नीति

हुमायूं विजय प्राप्ति के बाद का समय रनवास की रंगरेलियों, भोग विलास, शाही आनंदोत्सव और दावतों में व्यतीत कर देता था और उसके शत्रुओं को तैयारी का समय मिल जाता था। उसने बंगाल विजय के बाद शेरशाह की शक्ति को कुचलने के बजाय गौड़ के राजमहल में आठ माह नाचरंग में बिता दिए। वह अफीम की पिनक और सुरा-सुंदरी के नशें में कर्तव्यपालन और राज्य प्रशासन की उपेक्षा करता था। हुमायूं को इसके दु:खद परिणाम भी भोगने पड़े।

(3) धन के अपव्यय की नीति

हुमायूं अपने पिता बाबर की भांति दानशील था। लेकिन बाबर यदि अपनी दानशीलता में राजकोष को खाली करता था तो अपनी तलवार के जोर पर उसे पुन: भरने की शक्ति भी रखता था। हुमायूं ने कई बार व्यर्थ ही राजकोष का अपव्यय किया जबकि उस समय मित व्ययिता की नीति का पालन करना चाहिए था। हुमायूं की फिजूल खर्ची का भार उसका खाली राजकोष नहीं उठा सकता था विशेषकर तब जबकि उसे सैन्य-राजनीतिक समस्याओं के निराकरण हेतु धन की अधिक आवश्यकता थी।

(4) उदारता की नीति

हुमायूं ने अपने भाईयों और सगे-संबंधियो के प्रति असीम मूर्खता पूर्ण उदारता और व्यर्थ क्षमाशीलता की नीति का पालन किया। जिसके कारण इन सगे-संबधियों और भाईयों विशेषकर कामरान मिर्जा का उसके प्रति विरोध और उसके विरूद्ध पड़यत्र करने का साहस और उत्साह उत्तरोत्तर बढ़ता गया। इससे हुमायूं की कठिनाइयां भी निरंतर बढ़ती गई। वस्तुत: हुमायूं को निष्पक्षता से राजत्व के सिद्वांत का अनुसरण कर राज्य के विद्रोहियों को उचित दण्ड देना चाहिए था।

(5) गुजरात नीति

हुमायूं ने गुजरात के बहादुर शाह के प्रति दोषपूर्ण नीति का पालन किया। हुमायूं ने बड़ी शीघ्रता से मालवा (माण्डू) और गुजरात पर विजय प्राप्त की लेकिन लगातार दोषपूर्ण नीति के पालन से उसके हाथ से यह विजय फिसल गई जिससे शाही सम्मान को गहरा धक्का लगा। गुजरात जीतने के बाद हुमायूं ने वहाँ शासन का कोई सुव्यवस्थित प्रबंध करने के बजाय अपना समय जश्नों में व्यतीत किया और

अचानक शेरखाँ के विरूद्व अभियान को रवाना हो गया। गुजरात में हुमायूं की अनुपस्थिति, प्रशासन की दुर्बलता और अस्करी की अयोग्यता ने बहादुर शाह को एक अवसर दिया और उसने गुजरात-मालवा पुनः जीत लिया।

(6) शेरखाँ के विरूद्व नीति

हुमायूं ने शेरखाँ की शक्ति और चतुराई का आंकलन करने में भारी गलती की थी। वस्तुतः उसे बाबर के द्वारा अपने मंत्री खलीफा को दिए निर्देश को ध्यान रखना था "शेरखाँ पर दृष्टि रखो वह चालाक आदमी है और राजत्व के चिन्ह उसके माथे पर दिखाई देते है मैंने अनेक अफगान अमीर देखें है और इससे महान व्यक्ति, किन्तु उनका मेरे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, लेकिन जैसे ही मैंने इस व्यक्ति को देखा, मेरे मन में आया कि इसको गिरफ्तार कर लेना चाहिए क्योंकि मुझे इसमें महानता के गुण और शक्ति के चिन्ह दिखायी देते है।" लेकिन हुमायूं ने शेरखाँ के विरूद्व सदैव गलत सामरिक चालें चली, उसके साथ सैनिक अभियानों में भी वह रंगरेलियों में डूबा रहा। सतर्क और दूरदर्शी शेरखाँ की तुलना में मूर्ख और एयाश हुमायूं की पराजय उसकी नियति थी।

(7) हुमायूं की धार्मिक नीति एवं हिन्दुओं से व्यवहार

हुमायूं की धार्मिक नीति तथा दूसरे धर्मावल्मम्बियों हेतु उसका बर्ताव अपने पिता बाबर की ही तरह उदार और सहिष्णु था। व्यक्तिगत रूप से हुमायूं ईश्वरवादी सुन्नी मतावलम्बी मुसलमान था। ईश्वर पर उसका अटूट विश्वास होने पर वह इबादत और नमाज पर अगाध श्रद्वा रखता था। जब भी अजान के स्वर उसके कानों पर पड़ते वह अपने स्थान पर खड़ा होकर खुदा के प्रति अपनी भक्ति का प्रदर्शन करता, वह पाँचो समय की नमाज नियमित पढ़ता और सभी धार्मिक कार्यो तथा विधि-विधान का निष्ठा पूर्वक पालन करता था। वह अपना जीवन कुरान के नियमों और आदर्शो पर बिताता था और बिना वुजू किए ईश्वर का नाम अपनी जबान पर नहीं लाता था। निजामुद्दीन अहमद बख्शी लिखता हैं" एक दिन उसने सदर या मुख्य न्यायाधीश मीर अब्दुल हई को अब्दाल नाम से पुकारा परन्तु जब वह वुजू कर चुका तो उसने क्षमा मांगी और कहा कि 'हई' खुदा का नाम है जिसका उच्चारण वह बगैर वुजू के नहीं कर सकता।" इस प्रकार हुमायूं शुभ आकांक्षाओं वाला एक नेक मुसलमान था जिसकी इस्लाम में पूरी श्रद्वा थी।

लेकिन बाबरकी ही तरह हूमायूं भी एक धार्मिक और सुन्नी मुलसमान होने के बाद भी मध्ययुगीन धर्मान्धता और कट्टरता से दूर था। मथुरालाल शर्मा लिखते

है'' हुमायूं सून्नी था परन्तु उसमें कट्टरता बिलकुल नहीं थी। उसकों फकीरों की संगति अच्छी लगती थी। वह अपने मुंह से कभी भी अपशब्द नहीं बोलता था। अप्रसन्न होने पर भी वह बहुत ही कम दण्ड देता था वह सूफी संता से भी मिला करता था उसमें साधू की सी भावना थी। उसने हिन्दुओं पर कोई अत्याचार नहीं किया और शियालोगों को उसने नौकरियां दी।'' हुमायूं शिया और सुन्नी दोनों के प्रति समान उदार था। एक ओर उसके अधिकारी अबुलमाली जैसे कट्टर सुन्नी थे तो दूसरी ओर बैरामखाँ जैसा शिया भी उसका विश्वासपात्र था। वह दर्शनिक प्रवृत्ति का था और अध्यात्मवाद में विश्वास रखता था। वह सूफी संतों से धार्मिक विषयों पर आनंद और अभिरूचि से विचार विमर्श करता था। तत्कालीन सूफी संत मुहम्मद गौस से हुमायूं का पत्र व्यवहार होता था। लेकिन हुमायूं अपने अतिधार्मिक विश्वास के कारण कर्मकाण्डों, जादू-टोने, मंत्रतंत्र, शकुन अपशकुन और ज्योतिष पर अत्यधिक विश्वास करने लगा था।

अपनी उदारता और सहिष्णुता के चलते हुमायूं ने हिन्दुओं के प्रति संकीर्णता और धर्मान्धता की नीति से परहेज किया। हुमायूं ने दिल्ली सल्लत के सुल्तानों की तरह हिन्दुओं के विरुद्ध धार्मिक अत्याचार नहीं किए। उसने कभी भी हिन्दुओं के विरुद्ध जेहाद का नारा नहीं दिया, हिन्दुओं का बलात् धर्म परिर्वतन नहीं किया और कभी भी हिन्दुओं को अकारण कष्ट भी नहीं पहुँचाया। लेकिन उसमें मध्ययुगीन परम्पराओं को तोड़ने का साहस भी नहीं था, उसने धार्मिक भावनाओं का सैन्य राजनीतिक प्रयोग करने में बाबर की ही भांति समय - समय पर कोई संकोच नहीं किया। उसने कालिजंर हमले के समय हिन्दु मंदिरों को नुकसान पहुचाया। उसने चित्रौड़ के घेरे के समय रानी कर्मवती के द्वारा भेजी राखी के प्रत्युत्तर में बहादुरशाह पर हमला न करके सारंगपुर में समय काट दिया क्योंकि किसी हिन्दू की सहायतार्थ मुसलमान पर हमला करना इस्लाम विरुद्ध था। इसके बाद भी हिन्दू शासकों विशेषकर एक समय मारवाड़ के मालदेव से और अमरकोट के राणा बीरसाल से उसके मधुर संबंध रहे। कुल मिलाकर यह लिखा जा सकता है कि हुमायूं सुन्नी मुसलमान होते हुए भी एक ऐसा धार्मिक व्यक्ति था जिसकी रूचि अध्यात्म में थी लेकिन वह धर्मान्ध नहीं था। वह धार्मिक आधार पर प्रजा से भेदभाव नहीं करता था तथा हिन्दुओं के प्रति कठोर व्यवहार नहीं करता था।

◆◆◆

अकबर एवं राजपूत

अकबर महान (सन् 1556-1605 ई०) का जन्म अबुल फजल के अनुसार रविवार 5 रजब हिजरी सन् 949 (अर्थात् 15 अक्टूबर सन् 1542 ई०) को राजस्थान के अमरकोट दुर्ग के राणा बीरसाल के महल में हुआ था। पुत्र जन्म की सूचना प्राप्ति पर हुमायूं ने ईश्वर को धन्यवाद दिया और कस्तुरी के टुकड़े अपने साथियों में वितरित करते हुए कहा कि मैं आशा करता हूँ कि जिस प्रकार यहाँ का वातावरण सुंगधित हो रहा है उसी प्रकार मेरे पुत्र का यश समस्त संसार में व्याप्त हो। अकबर का बाल्यकाल अत्यंत ही संकट पूर्ण स्थिति में व्यतीत हुआ था, उसका पिता हुमायुं लगातार एक स्थान से दूसरे स्थान अपने भाईयों के साथ युद्ध करता हुआ एक स्थायी ठिकाने की तलाश मे था। ऐसी स्थिति में उसे एक श्रेष्ठ राजकीय शिक्षा -दीक्षा प्राप्त नहीं हो पाई। परन्तु उसने अपनी अतिशय कुशाग्र बुद्धि, तीखी सूझबूझ और प्रबल स्मरणशक्ति के बल पर अपनी शिक्षा की कमी को पूरा किया। इसके साथ ही अकबर अपने युग की दूसरी महत्त्वपूर्ण शिक्षा यथा तीरंदाजी, तलवारबाजी, घुड़सवारी तथा अन्य अस्त्र-शस्त्र संचालन में सिद्धहस्त हो गया जो उसके लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण और उपयोगी सिद्ध हुई। उसकी वीरता और साहस के कारनामों से प्रसन्न होकर हुमायूं ने उसे अल्पायु में ही (9वर्ष की उम्र में) गजनी का सूबेदार नियुक्त कर दिया था। सन् 1535 ई० में जब हुमायूं ने हिन्दुस्तान की ओर कूच किया तो अकबर भी उसके साथ था। शेरशाह के भतीजे और दिल्ली आगरा के शासक सिकन्दर शाहसूर के साथ 22 जून 1555 ई० को सरहिन्द के युद्ध में जब हुमायूं की सेना ने विजय प्राप्त की तो इस जीत का श्रेय अकबर को दिया गया। जब अकबर और बैरमखाँ सिकन्दर शाहसूर के दमन में लगे हुए थे तथा अचानक हुमायूं की मृत्यु हो गई। तब बैरमखाँ और अन्य सब सरदारों ने मिलकर वर्तमान पंजाब के गुरूदासपुर जिले के कालानौर नामक गांव में एक चबुतरे पर बिठाकर 14 फरवरी सन् 1556 ई० को अकबर का राजतिलक किया।

तत्कालीन राजनीतिक अवस्था

सिंहासंन पर बैठने के समय अकबर के वास्तविक अधिकार में पंजाब के कुछ इलाके थे। उसके पास एक छोटी सी सेना थी। जिस पर वास्तविक अधिकार उसके संरक्षक बैरामखाँ के पास था। काबुल में मिर्जा हकीम जो अकबर का भाई

था, स्वतंत्र शासक बन गया था, वास्तव में वहाँ मुनीमखाँ और मिर्जा हकीम की मां शासन कर रही थी। अकबर का चचेरा भाई सुलेमान मिर्जा बदख्शां का शासक था, जो आयु में बड़ा होने के कारण तैमूरी साम्राज्य पर अपना दावा जताता था। सिंध मुल्तान और काश्मीर भी स्वतंत्र थे। पंजाब में सिंकदरशाह सूर अभी भी शक्तिशाली था। बंगाल में मुहम्मदशाह, बिहार में महमूदशाह अदली, गुजरात में मुजफ्फरशाह तथा मालवा में बाज बहादुर, जो शुजात खाँ का उत्तराधिकारी था, राज्य कर रहे थे इसके अतिरिक्त राजपूताना के राज्य भी स्वतंत्र थे जिनमें मारवाड़ का मालदेव सबसे शक्तिशाली था। सूदूर दक्षिण में पूर्ववर्ती बहमनी साम्राज्य के अवशेष पर पाँच मुस्लिम शासित राज्य बरार, बीदर, अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुन्डा का अस्तित्व था जिनमें परस्पर वैमनस्य था। इनके पारम्परिक शत्रु विजय नगर का साम्राज्य भी कृष्णा और तुंगभद्रा नदी के मध्य में अपने उत्कर्ष की चरम सीमा पर था। गोवा और दमन ड्यूद्वीपों पर पुर्तगाली भी एक समुद्री शक्ति बन चुके थे।

अकबर की सैन्य सफलताएं

हुमायूं की असमय मृत्यु ने अफगानों के हौसले बढ़ा दिए। बिहार के सुल्तान महमूद शाह अदली के सेनापति हेमू के नेतृत्व में सभी अफगान एकत्र होगये और मुग़लों के सेनापति तार्दीबेग को हराकर दिल्ली पर कब्जा कर लिया। अकबर और हेमू की सेनाओं के मध्य 5 नवम्बर सन् 1556 ई० को पानीपत के मैदान में भीषण युद्ध हुआ जिसमें अकबर को विजयी मिली। इस विजय ने तीस साल पहले के इतिहास को दोहराया और मुग़लों ने दिल्ली और आगरा पर पुनः अधिकार किया। मजुमदार राय चौधरी एवं दत्त के अनुसार - ''पानीपत की दूसरी लड़ाई का परिणाम निर्णायक हुआ। उसने मुग़लों के पक्ष में अपना निर्णय देकर भारत में प्रभुता के लिए अफगानों तथा मुग़लों के बीच के संघर्ष का अंत कर दिया।'' पानीपत के युद्ध में सफलता के पूर्व अकबर एक संकट पूर्ण स्थिति में था, बैरमखाँ को छोड़कर सभी सरदार वापसी के पक्ष में थे। लेकिन लेनपूल के अनुसार ''संकट का सफलता के साथ सामना हुआ और फिर कभी अकबर को इतने खतरनाक दुश्मन का मुकाबला न करना पड़ा। इस लड़ाई के बाद अकबर को आगे भी हमेशा लड़ते रहना पड़ा। लेकिन अब वह आक्रमणकारी की स्थिति में था न कि अपनी सुरक्षा की लड़ाई लड़ने वालों में और यह एक विशेष सुविधा थी। '' अकबर ने अपने शासन के प्रारंभिक चार वर्ष (सन् 1556-1560ई०) बैरमखाँ के संरक्षत्व में बिताए। इस अवधि में अकबर की सेनाओं ने मेवात (1556)

जीतकर हेमू के पिता और परिवार का सफाया किया तथा सिकन्दरशाह सूर का अंत और मानकोट विजय (सन् 1557), जौनपुर विजय (सन् 1560), ग्वालियर विजय (सन् 1558-59) के साथ ही उसकी सीमाएं पश्चिम में पंजाब से लेकर पूर्वी उत्तरप्रदेश और राजस्थान में मेवात- अजमेर तक फैल गई। सन् 1560 ई० में अकबर ने अपने हाथों में शासन सूत्र लेकर बैरमखाँ को मक्का भेज दिया। मक्का जाने की राह में गुजरात के अन्हिलवाड़ा नगर में मुबारक खाँ लोहानी नाम अफगान ने बैरमखाँ की जनवरी 1561 मे हत्या कर दी। अगले दो वर्ष (सन् 1560-62 ई०) स्त्रैण शासन के वर्ष कहलाते है जब अकबर के ऊपर उसकी धाय माहम अनगा और उसके पुत्र आदम खाँ का प्रभाव रहा। इस काल में अकबर की सेनाओं ने मालवा के बाजबहादुर को (1561ई०) हराया एवं बिहार में चुनार दुर्ग को (1561 ई०)हस्तगत किया। मालवा विजय के बाद अकबर का सेनापति एवं माहम अनगा का पुत्र आदमखाँ के हाथों बेशुमार धन दौलत, एवं हरम की अनेक स्त्रियां आई। विजय प्राप्ति के बाद आदमखाँ ने पराजितों के साथ बड़ा नृंशसतापूर्ण व्यवहार किया। सन् 1562 में आदम खाँ ने अकबर के मंत्री शमसुद्दीन मुहम्मद खाँ अनगा की हत्या कर दी। क्रोधित अकबर ने उसे छत से फेंक कर मरवा दिया और पुत्र वियोग में 4 दिन बाद माहम अनगा भी चल बसी। इस प्रकार मई सन् 1562 ई० में अकबर ने स्वतंत्र शासन प्रारंभ किया। इस काल में अकबर की सेनाओं ने भर्था के रामचन्द्र बघेल (1563ई) गक्खड़ के सुल्तान आदम (1563ई०) गोड़वाना की रानी दुर्गावती (1564ई०) रोहताम दुर्ग (1564ई०), गुजरात के मुजफ्फर शाह (1572-1573) बिहार बंगाल के दाऊद खाँ (1573-76), उड़ीसा के कतलूखाँ व नासिरखाँ (1589-1592) को परास्त कर उसकी राज्यसीमाएं समूचे उत्तरी हिन्दुस्तान में फैला दी। पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत और काबुल पर अकबर ने अपने भाई मिर्जा हकीम की मृत्यु के बाद अधिकार किया और मानसिंह को काबुल का सुबेदार नियुक्त किया (1585ई)। अकबर ने 1586 ई० में काश्मीर, 1591 ई में सिंध, 1595 ई में ही बलूचिस्तान व मकरान और 1595 ई में कंधार को जीत कर अपने राज्य में मिला लिया। इसके अतिरिक्त अकबर की सेनाओं ने दक्षिण में अहमदनगर की चांदबीबी को 1595-96 ई में हराया। अकबर की अंतिम विजय असीरगढ़ सन् (सन् 1601 ई,) है जिसके लिए वह खुद गया था। शेख अबुल फजल ने आइने अकबरी में लिखा हैं कि अकबर कहता था- एक सम्राट को सदैव विजय के लिए कटिबद्ध रहना चाहिए अन्यथा इसके पड़ोसी शस्त्र धारण करके उसके

विरुद्ध उठ खड़े होगे। सेना को युद्ध का अभ्यास करना चाहिए जिससे कि अन्यथा कहीं ऐसा न हो कि प्रशिक्षण की न्यूनता के कारण वह अकर्मण्य हो जाए''। अकबर ने अपने इस कथन का निरन्तर पालन किया।

अकबर का धार्मिक दृष्टिकोण

अकबर का धार्मिक दृष्टिकोण उदार और सहिष्णु था और उसका उद्देश्य हिन्दू और मुसलमानों को एक दूसरे के अधिकाधिक समीप लाने का था। वह एक मुस्लिम धर्मावलम्बी होते हुए भी हिन्दुस्तान की समस्त प्रजा कर शासन करना चाहता था। इसी उद्देश्य से अकबर ने पूर्ववती सुल्तानों की संकीर्ण व कट्टर धार्मिक नीति का परित्याग किया और सुलह -ए- कुल की नीति को अपनाया। वस्तुत: अकबर ने संप्रभुता के एक ऐसे सिद्धांत की स्थापना का प्रयास किया जिसमें भारत की धार्मिक और जातिगत विषमताओं का पूरा ध्यान रखा गया। उस युग में जबकि धर्म और जाति का राजनीति से अलग रखना प्राय: असंभव था तब उसने ऐसा किया जिससे मुग़ल साम्राज्य को सुदृढ़ता मिली। वस्तुत: अकबर ने संप्रभुता के ऐसे सिद्धांत की स्थापना का प्रयास किया जिसमें भारत की धार्मिक एवं जातिगत विषमताओं का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया था अकबर द्वारा प्रतिपादित संप्रभुता सिद्धांत को केवल राजनीति या केवल धार्मिक उद्देश्य सही प्ररित नहीं माना जा सकता। उसमें धर्म और राजनीति दोनों ही के तत्व विद्यमान है, जिन्हें अलग- अलग करके नहीं देखा जा सकता। किन्तु उल्लेखनीय बात यह रही कि अकबर ने धार्मिक, राजनीतिक आदर्शों से अनुप्रेरित संप्रभुता सिद्धांतों को, जिसको व्यवहार की कसौटी पर कसा गया था, धर्म निरपेक्ष राज्य के आदर्श से संबंद्ध करने में सफलता प्राप्त की जहाँ हर व्यक्ति को अपने धर्म पालन की स्वतंत्रता प्राप्त थी।

अकबर के धार्मिक दृष्टिकोण को प्रभावित करने वाले तत्व

मध्य युग में अकबर ने जिस नवीन धार्मिक दृष्टिकोण को अपनाया, उसके निर्माण की कुछ एक विशिष्ट परिस्थितियां थी। इन परिस्थितियों ने ही अकबर को उस काल में धार्मिक रूप से उदार व सहिष्णु बनाया जबकि अधिकाश मध्ययुगीन शासक धार्मिक कट्टरता और असहिष्णुता की तलवार के जोर पर शासन करना उचित समझते थे। ये विशिष्ट परिस्थितियां निम्नांकित थीं -

(1) बाबर के राजवंश की उदार धार्मिक परम्परा

जैसा कि अध्याय तीन में ही लिखा जा चुका है कि बाबर में तैमूर और

चंगेज खाँ दोनों महान सम्राटों का रक्त सम्मिलित रूप से बहता था और उन दोनों की महान् परम्परायें उसने सुरक्षित रखी। ये दोनों महान् (तैमूर और चंगेज) भले ही बाहरी दुनिया के लिए निर्दय हत्यारे और खूंखार दस्यु के रूप में चित्रित हुए हो लेकिन अपनी प्रजा के संबंध में उनका धार्मिक दृष्टिकोण उदार रहा था। इन दोनों ने बाकी दुनिया से धन लूटकर अपने मूल राज्य की प्रजा के सुखदुख का बराबर ध्यान रखा और उनके साथ बगैर धार्मिक भेदभाव के साथ व्यवहार किया। यही गुण बाबर और हुमायूं में आया। ये दोनों व्यक्तिगत रूप से ईश्वर पर विश्वास रखने वाले मुस्लिम मतानुयायी थे, लेकिन धार्मिक कट्टरता का उनमें अभाव था। इन दोनों ने राजनीतिक आवश्यकतों को ध्यान में रखकर अपनी अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए सुन्नी से शिया और पुनः सुन्नी मत के अनुयायी बने। इन दोनों ने धर्म के बाह्य आडम्बर को अधिक महत्त्व न देकर उसे अपनी सुख सुविधाओं में बाधक नहीं बनने दिया। यद्यपि बाबर ने कभी कभी जिहाद का प्रयोग अपनी राजनीतिक-सैन्य महत्त्वांकाक्षाओं की पूर्ति के लिए किया। लेकिन ऐसी कोई नीति का प्रभाण नहीं मिलता जिसके अनुसार गैर मुस्लिम मतावलम्बियों के साथ धार्मिक आधार पर भेदभाव किया जाना हो बल्कि इसकी जगह बराबरी के व्यवहार के आदेश है। इस प्रकार वंश परम्परा से ही अकबर में कट्टरता और धर्मांधता के लिए कोई स्थान नहीं था तथा उसने अपने पूर्वजों की उदारता और सहिष्णुता के विचारों को अधिक व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करने का कार्य किया।

(2) अकबर के शिक्षकों का उदार दृष्टिकोण

अकबर को उदारचित्त और विशाल हृदय वाला बनाने में उसके शिक्षकों का बड़ा योगदान रहा था। अकबर की प्रथम शिक्षिका यानि उसकी मां बेगम हमीदा बानो शिया थी तथा अकबर का संरक्षक और प्रधान परामर्शदाता वैरमखाँ भी शिया था, इनमें सुन्नियों का कट्टरपन नहीं था और न ही धर्मांधता थी। अकबर का सुयोग्य शिक्षक अब्दुल लतीफ भी बड़े ही उदार विचारों का सुसंस्कृत विद्वान था। " वह प्रथम व्यक्ति था जिसने अकबर को सुलह - ए- कुल (सब के साथ शांति) का सिद्धांत सिखाया। अबुल फजल कहता है कि अब्दुल लतीफ पर फारस में सुन्नी होने का और हिन्दुस्तान में शिया होने का अभियोग लगाया गया था। " बैरामखाँ और अब्दुल लतीफ के उदार धार्मिक विचारों और सहिष्णुता की धारणाएं भी अकबर की धार्मिक नीति, निष्ठा व व्यवहार हेतु उत्तरदायी है।

(3) सूफी विचार धारा और भक्ति आंदोलन

अकबर के विचारों पर तत्कालीन सूफी संतों और भक्ति आंदोलन का प्रभाव पड़ा। इन संतों ने धर्म के बाहरी आडम्बरों को निरर्थक बताया धार्मिक परम्पराओं व कर्मकाण्डों का विरोध किया धार्मिक कट्टर विचारों का खंडन मंडन किया तथा चरित्र की पवित्रता व ईश्वर की सत्ता पर जोर दिया। इन विचारों ने धार्मिक और सांस्कृतिक समन्वय की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया। अकबर कई सूफी संतों के निरत्नर सम्पर्क ने रहा। सीकरी के शेख सलीम चिश्ती, दिल्ली के शेख ताजुद्दीन तथा शेख मुबारक से उसके धनिष्ठ संबंध थे। सूफी शेख मुबारक के दो पुत्र फैजी ओर अबुलफजल अकबर के आध्यात्मिक साथी और सहयोगी रहे। अपने राज्यारोहण के पूर्व एवं बाद में भी अकबर का गुरूनानक से सम्पर्क रहा। इस तरह सूफी संतों व भक्त कवियों के प्रभाव ने अकबर की उदारता में वृद्धि की।

(4) हिन्दू राजकन्याओं से विवाह और उनका प्रभाव

अकबर का जन्म ही राजपूत रनिवास में हुआ था। युवा होने पर उसने सुलह-ए-कुल की नीति पर चलते हुए राजपूत राजकन्याओं से विवाह किए लेकिन उसने इन राजकन्याओं को हिन्दूधर्म का परित्याग करके इस्लाम ग्रहण करने हेतु बाध्य नहीं किया। इन हिन्दूरानियों को हिन्दू धर्म, आचार- विचार व संस्कृति का स्वंतत्रता से पालन करने दिया जाता था। इसके अतिरिक्त उसने पारसी और अबीसीनियाई राजकन्याओं से भी विवाह किए। इन राजकन्याओं के उदात्त धार्मिक विचारों का भी उस पर प्रभाव पड़ा।

(5) हिन्दू अधिकारियों से सम्पर्क और उनका प्रभाव

अकबर की राजसभा में अनेक हिन्दू सभासद थे जिनमे से राजपूत तो उसके साम्राज्य के आधार स्तम्भ थे। इनके निरंतर सम्पर्क में रहने के कारण इन हिन्दू अधिकारियों के रहन-सहन, खान-पान तथा धार्मिक विचारों का प्रभाव अकबर पर पड़ा। इन राजपूतों में मानसिंह तो उसका परम मित्र और सहयोगी था।

(6) राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं का प्रभाव

अकबर एक सुसंगठित व्यवस्थित और स्थायी राज्य स्थापित करना चाहता था, इसके लिए उसने अनुभव किया कि जब तक विभिन्न धर्मों, समुदायों और वर्गों के लोगो को एकता के सूत्र में नहीं बांधा जाता, तब तक उसका राज्य दृढ़ और

स्थायी नहीं हो सकता। अकबर को अपने आंतरिक मुस्लिम धर्मावलम्बी शत्रुओं और अफगान प्रतिद्वद्वियों की शक्ति और सत्ता को नष्ट करने हेतु राजपूतों व अन्य हिन्दुओं की सहायता की आवश्यकता थी। अतएव राजनीतिक परिस्थितियों व महत्त्वांकाक्षाओं की आपूर्ति हेतु अकबर का सुलह- ए- कुल की नीति का पालन करना अनिवार्य था।

(7) धर्माचार्यों से सम्पर्क और उनका प्रभाव

अकबर ने अपने राजधानी फतेहपुर सीकरी के इबादत खाने में विभिन्न धर्मों के विद्वानों आचार्यों और संतों को आंमत्रित किया और वह उनके श्रेष्ठ सिद्धांतों को धैर्यपूर्वक सुनता था। अकबर ने आचार्य पुरुषोत्तम व देवी से हिन्दू धर्म के सिद्धांत समझे। जैन धर्म के सिद्धांतों के प्रभाव से उसने पिजंडे में बंद पक्षी खुलवा दिए, कुछ विशिष्ट समयावधियों के लिए पशुवध व आखेट बंद कराया व मांस भक्षण त्यागा, पारसी मेहरजीराणा से प्रभावित होकर अकबर ने सूर्य और अग्नि की उपासना शुरू की। सिख्ख गुरू के प्रभाव से उसने पंजाब में एक समय विशेष का लगान माफ कर दिया तथा ईसाई पादरियों के विचार भी सुने। इन विभिन्न धर्मों के सिद्धांतों के प्रतिपादन से तथा उनके धार्मिक वादविवादों से अकबर इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि सभी धर्मों में अच्छी और सत्य बाते हैं।

(8) अकबर की सहज जिज्ञासु व सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति

अकबर एक धर्मनिष्ठ और चिंतनशील व्यक्ति था। उसमें सहज जिज्ञासु प्रवृत्ति थी और वह सत्य के अन्वेषण के निरंतर लगे रहता था। अबुलफजल लिखता है कि जब सन् 1557 में अकबर मात्र पन्द्रह वर्ष का था तब पंजाब के मानकोट दुर्ग के घेरे के दौरान अकस्मात अपने सैनिक शिविर से दूर चला गया और वहाँ घण्टों एकांत में ध्यानमग्न रहा। तब उसे विलक्षण स्वर्गीय आध्यात्मिक हर्ष ओर आनंद का अनुभव हुआ। बंदायूनी लिखता है अकबर अक्सर प्रात:काल में फतेहपुर सीकरी के राजभवन के समीप एक प्रस्तर खंड में घंटो एकान्त में बैठकर दार्शनिक तथ्यों और जीवन के गूढ़ रहस्यों पर विचार करता था। मात्र बीस वर्ष की आयु में ही अकबर की धार्मिक चेतना जागृत हो गई थी और वह धर्मान्धता से घृणा करने लगा था। उसका चिन्तन और विचारशील मन यह कभी स्वीकार नहीं करता था कि केवल एक धर्म ही सच्चा धर्म ही सकता है तथा अन्य धर्म मिथ्या है तथा उसके अनुयायी दण्ड के भागीदार है। अकबर की इस जिज्ञासु और

सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति में उसके गहन आध्यात्मिक चिंतन और मनन ने, उसकी नवीन विचारधाराओं ने उसे इस निष्कर्ष पर ला दिया कि प्रेम उदारता और सहिष्णुता ही सत्य धर्म के तत्व है यही सच्चा धर्म है ये सिद्धांत ही साम्राज्य में शांति और स्थायित्व ला सकते है।

धार्मिक दृष्टिकोण का विकास

अकबर के धार्मिक दृष्टिकोण का विकास क्रमशः हुआ था। इस विकास में तत्कालीन हिन्दुस्तान के सूफी चिंतको एवं भक्त कवियों का अकबर की वंश परम्परा का तथा हिन्दुरानियों व उदार साथियों का प्रभाव क्रमशः पड़ता रहा। इस विकास को निम्नानुसार संक्षप्ति किया जा सकता है -

(1) प्रथम चरण (सन् 1556-1562 ई०)

अपने शासन के इन प्रारंभिक वर्षों में अकबर किसी भी प्रकार के धार्मिक कार्य और नीति हेतु स्वतंत्र नहीं था। वह एक सच्चे मुसलमान की ही तरह विधिवत पाँच बार नमाज पढ़ता, इस्लाम के नियमों का पालन करता, मुल्ला मौलवियों का आदर करता और सूफी संतों की दरगाहों विशेषकर अजमेर की यात्रा करता। उसने इस काल में मस्जिदों का निर्माण कराया तथा तीर्थ यात्रा कर व जजिया वसुला। लेकिन इस अवधि में भी वह धर्मान्ध नहीं था और न ही उसने हिन्दुओं पर अत्याचार किए।

(2) द्वितीय चरण (सन् 1562-1574ई०)

बैरमखाँ एवं माहम अनगा के प्रभाव से मुक्त हुए अकबर ने अपने प्रारंभिक वर्षों में ही ऐसी अनेक उदारवादी नीतियां अपनाई जिन्हे मुग़ल साम्राज्य को एक नवीन सैद्वांतिक आधार प्रदान करने की दिशा में प्रथम आयाम माना जा सकता है। उसने बीस वर्ष की उम्र में ही मारे गये या बंदी बनाये गये सैनिंको और उनके परिजनों को गुलाम बनाये जाने की प्रथा या दासप्रथा को सन् 1562 में समाप्त करने की आज्ञा जारी की। अबुज फजुल इस संदर्भ में लिखता है - ''बादशाह ने समझा कि स्त्रियों और निरपराध बच्चों को दण्ड देंना अन्याय है,यदि पुरुष धृष्टता का मार्गग्रहण करतें है तो उसमें उनकी पत्नियों का क्या दोष है यदि पिता बादशाह का विरोध करते है तो उनके बच्चों ने क्या अपराध किया है। '' इसके पूर्व अकबर ने आमेर की राजकन्या और राजबिहारी कल की पुत्री से 6 फरवरी सून 1562 ई० को विवाह कर लिया था। इस विवाह ने तत्कालीन राजनीति समाज नीति एवं धर्मनीति

पर गहरा प्रभाव उत्पन्न किया था। इस विवाह के बाद राजा बिहारी कल और उसका पुत्र भगवानदास तथा पौत्र मानसिंह ने अकबर की अधीनता स्वीकार की। मानसिंह को 5000 का मनसबदार बना दिया गया।

अकबर ने अगस्त 1563 में तीर्थयात्रा कर की समाप्ति के आदेश जारी किए। जब वह मथुरा में था तो उसका ध्यान इस बात की ओर आकर्षित कराया गया कि जो यात्री मथुरा या अन्य तीर्थस्थानों पर यात्रा करने आते है तो उनसे तीर्थयात्रा कर वसूला जाता है। विसेंट आर्थर स्तिथ के अनुसार - "इस पर अकबर ने यह विचार व्यक्त किया कि सृष्टिकर्ता की उपासना के लिए एकत्रित हुए व्यक्तियों पर कर लगाना ईश्वर की इच्छा के प्रतिकूल है। इस सिंद्धान्त का पालन करने हेतु उसने समूचें रूप में समस्त यात्राकर उन्मूलित कर दिया। जिसके कारण उसे लाखों रुपयें की हानि हुई " अबुल फजल के अनुसार -ष्इससे राज्य को करोड़ो की आय होती थी --- उसने (अकबर) समझा कि इस प्रकार धनसंग्रह करना अपराध है। अत: उसने आदेश दिया कि सारे साम्राज्य में कहीं भी ऐसा कर नहीं लिया जाय --- चाहे कोई गलत धर्म के मार्ग पर चलता हो परन्तु यह कौन जानता है कि उसका मार्ग गलत ही है --- ऐसे व्यक्ति के मार्ग में विध्न उत्पन्न करना उचित नहीं है।" इसके बाद अकबर ने सन् 1564 ई० में जाजिया कर समाप्त कर एक और क्रांतिकारी कदम उठाया। "उसने (अकबर) ने जजियाकर हटाकर राज्य के आय के एक दूसरे बड़े भाग का बलिदान किया था। मूलत: खलीफा ओमर ने इस कर की स्थापना की थी। उसने इसे 48, 24 और 12 क्रमश:तीन श्रेंणियों में विभक्त किया था।" अकबर ने, जो अपनी प्रजा के विभिन्न सम्प्रदायों के साथ किसी भी तरह का भेदभाव बरतना नहीं चाहता था, अपने राजकोष की आय को हानि पहुँचाते हुए भी इस कर को बंद कर दिया, लेकिन इस सुधार द्वारा सम्पूर्ण देश के एक विशाल बहुमत की सहानुभूति और शुभकामना उसे प्राप्त हो गई।" "इसको (जजिया) हटा देने से अकबर सारे देश में लोकप्रिय हो गया। अकबर के बाद औरंगजेब के शासनकाल में भी प्रथम 21 वर्ष तक यह कर बंद रहा।" इस कर के हता लेने से हिन्दू और मुस्लिम दोनों वर्ग को एक समान नागरिक अधिकार प्राप्त हो गये और परम्परागत राजनीति में एक व्यापक परिवर्तन हुआ। उदार प्रवृत्ति वाला धर्म निष्ठ अकबर यह भी चाहता था कि उसकी गैर मुस्लिम प्रजा को उनकी धार्मिक परम्पराओं के अनुरूप ईश्वर आराधना करने की तथा धार्मिक स्थलों के निर्माण की पूर्ण स्वतंत्रता हो। इसलिए अकबर ने मंदिरों व

देवालयों के निर्माण कर लगे प्रतिबंधों को निरस्त कर दिया। फलत: हिन्दू और राजपूत सामंतों ने अपने मंदिरों देवालयों का निर्माण प्रारंभ किया। राजामानसिंह ने वाराणसी और वृदांवन में अत्यंत भव्य मंदिर बनवाये। ईसाईयों ने भी आगरा और लाहौर में अपना गिरजाघर बनवाया तथ जैनियों ने उज्जैन में एक जैन मंदिर का निर्माण किया। इन कार्यों से हिन्दुओं के मन में अकबर के प्रति श्रद्धा बढ़ी। अकबर ने राज्य के उच्चपदो पर हिन्दुओं की नियुक्तियों की। अकबर के पूर्व राज्य के उच्च पदों पर केवल मुस्लिमों को ही नियुक्त किया जाता था। अकबर ने इस परम्परा का अंत कर दिया और सैनिक व प्रशासनिक सेवाओं के उच्च पदों पर धर्म जाति वंश के भेदभाव के बगैर केवल योग्यता के आधार पर प्रतिभाशाली व्यक्तियों को नियुक्त किया। सन् 1562 के प्रारंभिक महिनों में ही टोडरमल, मानसिंह, भगवानदास, बेदीचंद, बीरबल इत्यादि को अकबर ने अपनी सेवा के उच्च पदों पर नियुक्त किया था। एक समय अकबर के अधीन बारह प्रदेशों में से आठ के दीवान हिन्दु थें। सांस्कृतिक और साहित्यिक क्षेत्र में अकबर ने हिन्दू मुसलमानों को अधिक सानिध्य में लाने का प्रयास किया। उसने मिले जुले विद्यालयों और उच्च शिक्षा की ऐसी संस्थाओं को प्रोत्साहित किया जहाँ दोनों वर्ग के विद्यार्थी शिक्षा पा सके। बड़ी संख्या में हिन्दुओं ने फारसी सीख ली। हिन्दुओं के धार्मिक ग्रंथों और प्रथमश्रेणी की संस्कृत की पुस्तकों के फारसी में अनुवाद हेतु अनुवाद विभाग खोला गया।

लेकिन इन सब उदार कदमों को उठाने के बावजूद अकबर अभी भी एक सुन्नी मुसलमान था। उसने इस्लाम के सिद्धांतों के प्रामाणिक ज्ञान प्राप्ति हेतु सन् 1556 से शेख अब्दुलन्नबी और मख्दुम उल्मुल्क अब्दुल्ला सुल्तानपुरी जैसे विद्वान मुल्लाओं की शार्गिदी भी की। बदांयूनी भी यह मानता है सन् 1575 तक अकबर नियमित रूप से नमाज पढ़ता रहा और इस्लाम का पालन करता रहा।'' यहाँ यह भी उल्लेख करना आवश्यक है कि शासन के प्रारंभिक वर्षों में अकबर राज्य के परम्परावादी इस्लाम प्रधान स्वरूप में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं करना चाहता था। 1568 में चित्तौड़ की विजय के बाद जारी किये गये फतहनामें में चित्तौड़ की विजय को काफिरों के खिलाफ जेहाद कहा गया और विजय का उद्देश्य बहुदेववाद की समाप्ति बतलाया गया। 1569 ई० में इस्फहान के मिर्जा मुकीम और काश्मीर के मीर याकुब को उलेमाओं की सम्मति से शिया- सुन्नी आधार पर मौत की सजा दी।'' लेकिन बाद में उसे अपने इन कृत्यों पर पश्चाताप भी हुआ।

(3) तृतीय चरण (1575-1579 ई०)

अकबर के धार्मिक दृष्टिकोण का तीसरा आयाम 1575 ई० में इबादत खाने की स्थापना से प्रारंभ होता है जो धार्मिक विषयों पर परिसंवाद के उद्देश्य से बनवाया गया था। बंदायूंनी लिखता है- इस सभा में केवल शेख, विद्वान पवित्र लोग और बादशाह के कुछ साथी और सेवक ही आंमत्रित होते थे। यहाँ सब प्रकार के उपदेशात्मक और उपयोगी विषयों पर शास्त्रार्थ हुआ करते थें। हर शुक्रवार की शाम वह सैयदों शेखों, उलेमाओं और अमीरों को बुलाया करता था परन्तु इस बात पर दुर्भावना खड़ी हो गई कि कौन कहाँ बैठे और किसको प्रथम स्थान मिले और फिर सब किस क्रम से बैठे ? सैय्यद पश्चिम की ओर, उलेमा दक्षिण की ओर और शेख उत्तर की ओर बैठे। बादशाह समय समय पर इन विभिन्न दलों के पास जाया करता था और उनसे बातें करके उनके विचारों का पता लगाया था। " इबादतखान में होनेवाले वाद-विवादों के विषय विविध प्रकार के हुआ करते थे यहाँ तक कि ऐसे विषयों पर भी विचार होता था कि किसी व्यक्ति को कानूनी तौर पर कितने विवाह करने का अधिकार है। इस प्रकार के विषयों की समीक्षा, जो उस समय के हिसाब से आश्चर्यजनक ही थी, अकबर को अत्यंत ही रूचिकर लगती थी। शुरू में वादविवाद केवल सुन्नी मत के ईदगिर्द तथा उसके अनुयायियों तक ही सीमित था किन्तु बाद में शियामत अनुयायी मुल्लाओं को भी वादविवादों में शामिल होने का मौक़ा मिलने लगा। बाद में हिन्दू भौतिकवादी दार्शनिकों तथा संशयवादियों ईसाईयों यहूदियों और जोरास्त्रियों आदि के लिए भी इबादत खाने के दरवाजे खोल दिए गए। इन वाद विवादों में अबुलफजल की मुख्य भुमिका थी। परम्परावादी सुन्नी उलेमाओं के विपक्ष में विभिन्न वर्गों के लोगों को सक्रिय करने का कार्य उसी का था। उसका (अबुलफजल का) प्रबल प्रतिद्वन्दी बंदायुनी लिखता है" इस सभा में बादशाह मखदूम उल-मुल्क मौलाना अब्दुल्ला सुल्तानपुरी को बुलाया करता था और उसे तंग करता था और वह हाजी इब्राहिम और शेखअबुल फजल को उससे बहस के लिए उकसाया करता था। शेख अबुल फजल उस समय आया ही था। परन्तु अब वह नए धर्म का मुख्य नेता था और अचूक पथ प्रदर्शक माना जाता था और वही उसकी विवेचक था।"उलेमा वर्ग में हदीस की व्याख्या को लेकर ही मतभेद नहीं था वरन् कुरान की आयतों की व्याख्या के संबंध में भी उनके विचारों में समानता नहीं थी। इस बात पर अकबर को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने कहा "यह बड़े आश्चर्य की बात है कि हमारे पैगम्बर के समय कुरान

की टीका नहीं लिखी गई जिससे बाद के काल में विचार विभेद की संभावना ही नहीं रहती।'' अकबर के उदार स्वभाव को देखते हुए यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि दूसरे धर्मानुयायियों के प्रति उलेमाओं के तिरस्कारपूर्वक व्यवहार से अकबर को विरक्ति ही हुई होगी। वादविवाद का दूसरा महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि अकबर की यह दृढ़ धारणा बन गई कि ज्ञानी पुरुष सब धर्मों में पाये जाते है तथा सत्य किसी एक धर्म की बपौती नहीं है। 3 अक्टूबर 1578 की एक सभी में अकबर ने कहा ''अधिकांश लोक बाहर अच्छे और भीतर बुरे होते है और समझते है कि बाहरी दिखावे या मुस्लिम धर्म की केवल बातें करने से काम चल जाएगा, आंतरिक विश्वास की आवश्यकता नहीं है .....अब सत्य के प्रकाश से हमारी आत्मा प्रकाशित हो गई है और यह स्पष्ट हो गया है कि संसार में अनेक मत है। लोगों की बुद्धि अंधकारमय है, उनमें बड़ा दम्भ है, बुद्धि पर कई दल जमे हुए है। सम्प्रदाय वही लाभदायक है जो बुद्धिसंगत हो। कलमा पढ़ने से और खतना करवाने से, सिजदा करने से ईश्वर नहीं मिलता। अकबर द्वारा धीरे- धीरे अपने हाथों से सत्ता को केन्द्रित करने तथा हिन्दू व अन्य गैर मुस्लिमों का समर्थन प्राप्त करके मुग़ल साम्राज्य को सुदृढ़ आधार प्रदान करने के प्रयासों के कारण राजनीति में उलेमाओं की शक्ति में कटौती आना स्वाभाविक ही था।

सन् 1579 में अकबर की दो महत्त्वपूर्ण कार्यवाहियां उसके नवीन उद्देश्यों का परिचायक है अकबर ने 26 जून सन् 1579 को फतेहपुर सीकरी की ज़ामा मस्जिद में स्वयं खुतवा पढ़ा और अगस्त सितम्बर सन् 1579 को महजर नामक दस्तावेज जारी किया जो उसके द्वारा धार्मिक एवं भौतिक सत्ता को अपने हाथों में केन्द्रित करने का विधिवत् कार्य है इबादत खाने में बहस के दौरान यह जिक्र आया कि प्रथम चार खलीफा जुम्मे की नमाज के समय स्वयं खुतबा पढ़ते थे और तैमूर भी यही करता था जिसे पूर्वज मानते हुए मुग़ल गर्व करते हैं। इन पूर्व उदाहरणों से प्रेरित होकर अकबर ने खुतबा पढ़ा। महजर जारी करने की प्रेरणा शेखमुबारक तथा उसके पुत्रों फैजी और अबुल फजल द्वारा दी गई थी। विसेंट आर्थर स्मिथ के अनुसार - इस महजर (अमोधत्व की आज्ञप्ति) ने अकबर को यह अधिकार दिया कि उलेमा में किसी विजय पर मतभेद होने की दशा में वह साम्राज्य की जरूरतो को ध्यान में रखते हुए किसी एक विचार को जिसे वह सर्वोत्तम समझे, मान्यता दे सकता है। अकबर को रियाआ (प्रजा) की भलाई के लिए कोई भी फरमान जारी करने का अधिकार है बशर्ते कि उसमें कुरआन के कानूनों का उल्लंघन न हो।

बादशाह को सुल्तान-ए-आदिल (न्यायप्रियशासक) की उपाधि देकर इन सभी कार्यवाहियों को वैधता प्रदान की गई। अब उसकी स्थिति मुज्तहिद से श्रेष्ठ थी। बंदायुनी के अनुसार शेखमुबारक जिसने स्वेच्छा से हस्ताक्षर किए को छोड़कर प्रमुख उलमा को महजर पर हस्ताक्षर के लिए बाध्य किया गया। इस महजर में अकबर को उमीर- उल- मोमिनीन (अर्थात् इस्लाम में विश्वास रखने वालों का नायक) कहा गया। इस प्रकार के संबोधन उमय्यद और अब्बासी खलीफाओं के दस्तावेजों में प्रयुक्त हुए है। यद्यपि 1258 ई० के बाद कई मुस्लिम शासकों ने खलीफा की पदवी तो धारण की लेकिन स्वयं को कभी भी अमीर- उल- मोमिनीन नहीं कहा। अकबर द्वारा महजर में इस पद का प्रयोग इस तथ्य का स्पष्ट परिचायक है कि आरंभिक खलीफाओं के समान ही वह भी सर्वोच्च आध्यात्मिक तथा भौतिक सत्ता की प्राप्ति करना चाहता था।

(4) अंतिम चरण (सन् 1579-1605 ई०)

अकबर ने सन् 1579 ई० में जो महत्त्वपूर्ण कार्य किये उनसे उलेमाओं की शक्तियों प्रतिबंधित हुई किन्तु विभिन्न प्रकार की जातियों और धार्मिक वर्गों की आवश्यकताओं एवं अपेक्षाओं के अनुरूप मुग़ल साम्राज्य को सैद्धांतिक आधार दिए जाने की समस्या शेष थी। अकबर इसके प्रति सैदव जागरूक रहा और 1579 ई० के बाद के काल मे उसने उदार सैद्धांतिक आधार का निर्माण किया। इस कार्य में मुख्य भूमिका का निर्व्हन उसके मित्र अबुलफजल ने किया। आइन-ए-अकबरी तथा अकबर नामा नामक ग्रंथों मे अबुलफजल ने अकबर की विचार पद्धतियों का विस्तृत विवरण दिया है। अबुलफजल ने स्वयं आइन- ए- अकबरी की भूमिका में लिखा है "संप्रभुता का उद्भव उस अतुलनीय न्याय वितरक से है. .....तथा यह सूर्य की एक किरण है जो सम्पूर्ण ब्रहाण्ड को प्रकाशित करने में सक्षम है यह सम्पूर्ण गुणों का आधार है समसामयिक भाषा में उसे फर्र-ए-ईजिदी (दैवीय ज्योतिपुंज) कहा जाता है जबकि प्राचीन भाषा में इसे कियान खूरा (अलौकिक प्रकाश मंडल) कहा गया। यह ईश्वर द्वारा पवित्र मुख (पादशाह) को प्रदान किया जाता है व इस कार्य में किसी मध्यस्थ की सहायता की आवश्यकता नहीं होती तथा उसकी उपस्थिति में लोग अपनी प्रशंसा का माथा विनयशीलता की धरती पर झुकाते है। इस प्रकाश पर अधिकार होने पर बहुत से उच्च कोटि के गुणों का अनुभव होता है" चूंकि अकबर में संप्रभुता की परिणति हुई थी इसलिए अबुलफजल ने उसको बहुत से गुणों का धारक माना जैसे ज्ञानशीलता, दूसरों के अज्ञान व

अपूर्णताओं के प्रति धैर्यशीलता, न्यायप्रियता, प्रजावत्सलता, उदारता, ईश्वर के प्रति निरंतर प्रेम उपासना व आस्था आदि। अबुल फजल के अनुसार पूर्ण पुरुष होने के नाते अकबर अखिल ब्रम्हाण्ड व समाज का शून्य रूप था। अकबर के धार्मिक विचारों के निरूपण में सूफी संत और सर्वेश्वरवाद का गहरा प्रभाव था। सूफी सर्वेश्वरवाद से संबंधित दो क्लासिक पुस्तके- जलालूद्दीन रूमी का मसनवी तथा हाफिज का दीवान, अकबर की मनपंसद पुस्तकों में थी।

दीन-ए-इलाही

उपर्युक्त सभी तत्वों ने अकबर की निजि विचार पद्धति तौहीदे इलाही (दैवी एकश्वरवाद या दीन-ए-इलाही) के निरूपण में योगदान दिया। अकबर के विचारों का मूल यह था कि सभी धार्मिक विषयों में अनुकरण (तकलीद) की अपेक्षा तर्क (अक्ल) का अधिक महत्त्व है। उसका विश्वास था कि आस्था और आचरण में अंतर के कारण ही सभी धर्मों में भ्रामक विभिन्नताएं पैदा हो गई है। उसने हिन्दुओं की मूर्ति पूजा और मुस्लिम उपासना पद्धति दोनों की ही आलोचना की है। इस प्रकार दीन-ए-इलाही सर्वेश्वरवाद पर आधारित वह विचार पद्धति थी जिसका विकास स्वतंत्र रूप से हुआ था और वह कट्टरपंथी इस्लाम और हिन्दू धर्म दोनों से ही युक्त थी। अकबर की व्यक्तिगत विचार पद्धति मुग़ल साम्राज्य के सार्वलौकिक सहिष्णुता (सुलह-ए-कुल) में समाविष्ट हो गई। अकबर के इस नए राजनीतिक धर्म का विस्तृत विवरण विसेंट आर्थर स्मिथ ने अपने पुस्तक अकबर द ग्रेट मुग़ल में जेसुइट ग्रंथकार बारतोली का हवाला देते हुए किया है। यह एक नया धर्म था जैसा कि बारतोली कहता है -" जो विभिन्न तत्वों का सम्मिश्रण था, जो आंशिक रूप से मुहम्मद की कुरान से लिया गया था आंशिक रूप में ब्राम्हणों के धर्मशास्त्रों से तथा कुछ सीमा तक, जितना उसके लिए सुविधा जनक था ईसा की शिक्षा से भी।" मार्च 1582 को अकबर ने विभिन्न धर्मों के प्रधान आचार्यों उलेमाओं, पदाधिकारियों सेनानायको ओर अमीरों की एक महती सभा बुलाई। इसका उद्देश्य राष्ट्रीय धर्म की आवश्यकता और प्रचलित धर्मों की इसके लिए उपयुक्तता या अनुपयुक्तता पर वाद-विवाद करके यह निश्चित था करना था कि कौन सा धर्म अधिक सत्य और शक्तिवान है। वाद- विवाद में वक्ताओं ने अपने विरोधियों के धर्मों की बुराईयां और कमियां बतलाई और इस प्रकार सभी प्रचलित धर्मों की एक राष्ट्रीय धर्म के रूप में प्रतिष्ठित करने की अनुपयुक्तता प्रमाणित हो गयी। बारतोली लिखता है -"तब उसने (अकबर ने)

कहा- एक व्यक्ति द्वारा शासित साम्राज्य के लिए यह बुरी बात है कि उसके सदस्य परस्पर विभाजित हो और एक दूसरे के विमुख हो ..... इसलिए हमें चाहिए कि हम इन सभी को एक में मिला लें,किन्तु इस प्रकार से कि वे ''एक'' और ''समस्त'' दोनों ही एक साथ रहें जिसका महान लाभ यह रहे कि एक धर्म में जो अच्छाई हो वह न खोने पाये साथ ही दूसरे में जो बात श्रेष्ठतर हो वह उपलब्ध हो जाए। इस तरीके से ईश्वर के प्रति सम्मान प्रदर्शित होगा लोगों को शांति होगी और साम्राज्य को सुरक्षा।'' उपस्थित सदस्यों ने अकबर के इस प्रस्ताव से सहमति प्रकट की और कहा कि बादशाह अपनी पद मर्यादा और प्रकांड बुद्धिमत्ता दोनों ही के कारण दैवी सत्ता के बहुत निकट है इसलिए उसी को समूचे साम्राज्य के लिए देवताओं, संस्कारों, कुर्बानियों, गूढ़तत्वों नियमों, उत्सवों और जो भी एक सर्वांगीण सार्वभौम धर्म की स्थापना के लिए आवश्यक हो, निर्धारित करना चाहिए। इस सभा के बाद अकबर ने शेखों में प्रतिष्ठित एक वृद्ध शेख मुबारक (जो सन् 1593 तक जीवित रहा तथा शेख अबुलफजल और शेखफैजी का पिता था) को सभी दिशाओं में यह घोषणा करने के लिए भेजा कि समूचे मुग़ल साम्राज्य में इसका पालन करने के लिए राजदरबार से एक धार्मिक कानून पारित किया जाएगा तथा सभी लोगों को इसे ही सर्वश्रेष्ठ मानकर श्रद्धापूर्वक ग्रहण करने के लिए तैयार हो जाना चाहिए। लेकिन इस नए धर्म के प्रस्ताव का सभा में ही उपस्थित आमेर के राजा बिहारीमल के पुत्र तथा अकबर के प्रमुख मनसबदार राजा भगवानदास ने विरोध किया और कहा कि '' मैं स्वेच्छापूर्वक यह विश्वास कर लूंगा कि हिन्दुओं और मुसलमानों का प्रत्येक का धर्म खराब रहा है किन्तु हमें केवल इतना बता दीजिए कि यह नया सम्प्रदाय क्या है और वे क्या धारणाएं रखते हैं जिससे कि मैं विश्वास उत्पन्न कर सकूं।'' अकबर ने कुछ देर विचार कर भगवान दास से नया धर्म स्वीकार करने हेतु आग्रह नहीं किया। वस्तुत: भगवान दास का यह विरोध समस्त हिन्दुजाति, राजपूत मनबसदारों का विरोध था। कुछ वर्षों बाद भगवानदास के पुत्र राजा मानसिंह ने अपने पिता की भावनाओं का दुहराव किया। स्मिथ ने बदाऊनी के हवाले से लिखा है कि 1 दिसम्बर 1587 ई० को जब अकबर खानखाना और मानसिंह ''दोस्ती के प्याले'' में शरीक हो रहे थे तब अकबर ने मानसिह से शिष्यत्व स्वीकार करने को कहा। तब मानसिंह ने उत्तर दिया -''यदि शिष्यत्व का अर्थ है स्वेच्छा से जीवन का बलिदान कर देना तो मैने पहले ही अपना जीवन अपनी मुठ्ठी में रख छोड़ा है इससे अधिक प्रभाण की और क्या आवश्यकता है?

किन्तु यदि इस शब्द का अर्थ कुछ और है इसका संबंध धर्म से है तो निश्चय ही मैं हिन्दू हूँ। यदि आप मुझे ऐसी आज्ञा देगें तो मैं मुसलमान हो जाऊगा, किन्तु इन दो के अतिरिक्त अन्य किसी धर्म के अस्तित्व की बात मैं नहीं जानता''। इसके बाद अकबर ने इस प्रसंग पर मानसिंह से फिर कभी बात नहीं की लेकिन उसे स्थानान्तरित करके बंगाल भेज दिया गया।

विन्सेंट ए. स्मिथ दीन-ए- इलाही का सम्पूर्ण विवेचन करके इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि-'' यह सम्पूर्ण योजना हास्यास्पद अहमन्यता का प्रतिफल तथा अबाध निरंकुशताा का अतिकुत्सित प्रस्फुटन थी। .....दीन-ए-इलाही अकबर की मूढ़ता का स्मारक है उसकी बुद्धिमत्ता का नहीं।'' स्मिथ का यह कथन बंदायुनी के प्रभावों तथा जेसुइटों के (जो अकबर को अपने धर्म में परिवर्तित करा सकने में असफल होने के कारण उससे अवश्य ही असंतुष्ट हुए होगें) लेखो पर भरोसा करने से उत्पन्न हुआ और जो कि वस्तुत: गलत है। मजुमदार रायचौधरी और दत्त के अनुसार '' अकबर का सार्वभौमिक सहिष्णुता का विचार (दीन-ए-इलाही) वास्तव में श्रेष्ठ था तथा उसके राष्ट्रीय आदर्शवाद का उज्जवल प्रमाण है। ..... उसका आदर्श था विभिन्न धर्मो मे जो वह सर्वोपरि समझता था उन सबका श्रेष्ठ समन्वय एक ऐसा आदर्श जो सारत: राष्ट्रीय था, जिसके लिए वह पीछे के लोगों की कृतज्ञता का उचित रूप में अधिकारी है''। एस०आर०शर्मा भी यही मानते है कि ''नया धर्म जो दीन-ए-इलाही कहलाता था अकबर की मूर्खता का स्मारक न होकर सम्राट की राष्ट्रीय आदर्शवादिता की ज्वलन्त अभिव्यक्ति था।'' आर्शीवादीलाल श्रीवास्तव लिखते है''दीन-ए-इलाही की स्थापना में अकबर का महान् राजनीतिक उद्देश्य यह था कि इसके द्वारा वह हिन्दू और मुसलमान धर्मों की मिलाकर मुग़ल साम्राज्य में राजनीतिक एकता कायम कर सके। दीन-ए-इलाही के प्रवर्तक के रूप में उसने जो किया वह उसकी सार्वजनिक सहिष्णुता की नीति का परिणाम था और यही उसके राष्ट्रीय आदर्शवाद का प्रमाण भी है। '' रामप्रकाश त्रिपाठी के अनुसार - अकबर ने किसी भी सदस्य के धार्मिक या सामुदायिक विश्वास में हस्ताक्षेप नहीं किया उसने केवल व्यक्तियों को अपना-अपना आत्मिक विकास करने में सहायता दी और ऊंचे स्तर पर सब धर्मो की समन्वित एकता पर जोर दिया .....दीन-ए-इलाही कोई विशिष्ट धर्म न था।'' लेनपूल के अनुसार '' इस प्रकार के उदार प्रयास की कल्पना ने जो कि जगत् के प्रति सद्भावना से प्ररित हुई थी विभिन्न धर्मों और जातियों से संघर्षरत देश भारत

पर अच्छा प्रभाव डाला और कुछ समय के लिए भारत एक राष्ट्र बन गया''। मथुरालाल शर्मा लिखते है कि ''अकबर स्वभाव से रहस्यवादी था यही कारण था कि वह किभी भी धर्म को पूर्णतया स्वीकार नहीं कर सका। अकबर के चरित्र में सबसे विशेष बात यह थी कि उसमें सत्य की खोज के लिए लगन थी और यही कारण है कि उस कट्टरता के समय में भी उसने विभिन्न धर्मों का सार ढूढा....।'' संक्षेप में लिखा जा सकता है कि अकबर से सच्चे राजनीतिज्ञ की दूरदर्शिता थी और उसने हिन्दोस्तान में मुग़ल साम्राज्य की नीवों की सुदृढ़ करने का कार्य प्रजा की शुभेच्छा और समर्थन पर किया। अपने विचारों से अकबर अत्यंत उदार था और उसने तत्कालीन कट्टरता और धर्मोंधता की अपीलों पर सोलहवी सदी के उदार भारतीय धार्मिक सुधारवादी आंदोलनो को नहीं रोका। बल्कि उसने रचनात्मक कार्य किए और अपने युग की आधुनिक प्रवृत्तियों को अत्यंत बुद्धिमतापूर्वक अपने राजनीतिक हितों की आवश्कयता के अनुरूप प्रयोग किया। इस प्रकार तौहीद-ए-इलाही सर्वेश्वरवाद पर आधारित विचार पद्धति था जिसका विकास स्वतंत्र रूप से हुआ था। अर्थात् यह कट्टरपंथी इस्लाम तथा हिन्दुधर्म दोनों के ही प्रभाव से मुक्त थी। इसमें प्रकाश को एकल वास्तविकता का शुद्धतम प्रकट रूप माना गया था। इस विचार पद्धति में आध्यात्मिक नेतृत्व अकबर के हाथों में सन्निहित था व उसका अपने शिष्य दीक्षित करने का अधिकार था। शिष्यों की दीक्षा के लिए इतवार का दिन नियत किया गया था। क्योंकि उस दिन, अबुल फजल के शब्दों में ''सूर्य अपने प्रखर तेज में होता था।'' नया शिष्य अपनी पगड़ी अपने हाथों में लेकर बादशाह के सम्मुख जाता था तथा अपना शीश उसके चरणों में रख देता था। बादशाह अपने हाथों से उसकी पगड़ी को उठाकर उसके सिर पर रख देता था तथा दीक्षा के प्रतीक चिह्न (शस्त ओ शबह) नवागंतुक को प्रदान किए जाते थे। प्रत्येक चिह्नों में तागा तथा ईश्वर के नाम तथा अकबर के सूत्र वाक्य (अल्लाहु अकबरी) और अंगूटी हो सकती थी। जहांगीर के अनुसार दीक्षा के समय शिष्य को उपदेश के तौर पर कुछ शब्द कहे जाते थे जैसे कि उसे समुदायगत झगड़ों से अपने को भ्रांत कर लेना या किसी बात को आंखे मूंदकर स्वीकार नहीं करना चाहिए बल्कि सभी धर्मों के संबंध में सार्वजनिक सहिष्णुता के पथ का अनुसरण करना चाहिए। उसे अपने हाथों से किसी जीवित प्राणी का वध नहीं करना चाहिए तथा किसी की खाल उधेड़ना नहीं चाहिए। हां युद्ध व शिकार में इसका अपवाद हो सकता था।.... उसे सभी प्रकाशदायी तत्वों (सूर्य व चंद्रमा

आदि) का जिनमें प्रत्येक की क्षमता के अनुरूप ईश्वर के प्रकाश की अभिव्यक्ति है आदर करना चाहिए तथा हर समय व हर ऋतु में ईश्वर की शक्ति को पहचानना चाहिए। वस्तुतः तौहीदे इलाही को अबुलफजल द्वारा अकबर के विचारों के अनुरूप निरूपित किए जाने वाले सिद्धांतों के अंश के रूप में ही देखा जाना चाहिए। इस संप्रदाय में नवदीक्षित शिष्य को भक्ति के चार चरणों (चहारगाना ए इख्लास) को पूरा करने के लिए अपनी तत्परता दिखानी होती थीं। ये चार चरण जमीन संपत्ति सम्मान तथा धर्म थे जिन्हें बादशाह के लिए उत्सर्ग करने के लिए तैयार होना पड़ता था। यद्यपि शाही कर्मचारियों में से अधिकांश अपने जीवन, संपत्ति तथा सम्मान को पादशाह के लिए उत्सर्ग करने को तैयार रहते थे किंतु ऐसे कुछ ही लोग थे जो बादशाह के लिए अपने परंपरागत धर्म (अर्थात इस्लाम या हिंदू धर्म) का उत्सर्ग करने तथा अकबर का आध्यात्मिक नेतृत्व स्वीकार करने के लिए तैयार हों। अकबर को इस बात का आभास हो गया तथा उसने अपने मत में अधिकाधिक लोगों को शामिल किए जाने के लिए विवश नहीं किया। इसीलिए तौहीदे इलाही की सदस्यता केवल उन चंद लोगों के लिए सीमित कर दी गई जो बादशाह के विश्वस्त थे। अंततः अकबर की व्यक्तिगत धार्मिक विचार पद्धति (अर्थात तौहीदे इलाही) मुग़ल साम्राज्य के उदार सिद्वांतों में अर्थात सार्वलौकिक सहिष्णुता (सुल्ह - ए - कुल) में समाविष्ट हो गई जिनका निरूपण अबुल फजल ने किया था। दूसरे शब्दों में अकबर की रिआया में से हर एक भले ही वह अकबर को अपना आध्यात्मिक गुरू मानता हो या न मानता हो, अन्य जातियों व संप्रदायो के प्रति शांति व सामंजस्य के सिद्वांत को मानने के लिए बाध्य था।

अकबर के धार्मिक विचार तथा संस्थाएं उन समस्याओं के समाधान के रूप में सामने आई जिनका सामना अकबर को मुग़ल साम्राज्य की स्थापना व सुदृढ़ आधार प्राप्त करने के दौरान करना पड़ा था। ये समस्याएं दो प्रकार की थीं। एक ओर तो उसको साम्राज्य के लिए स्थानीय रूप से सशक्त राजपूत आदि अभिजात वर्ग के लोगों का समर्थन हासिल करना था, दूसरी ओर उसे अपनी स्थिति को चगताई कबीलाई तत्वों तथा कट्टरपंथी मुल्लाओं से बचाना था। ऐसी दशा में एक नई विचार पद्वति की आवश्यकता थी जिसके द्वारा राज्य में धार्मिक तथा जातिगत क्षेत्रों में पक्षपात रहित नीतियों का प्रतिपादन हो, साथ ही बादशाह के प्रति सामान्य जन के मन में (भले ही उनका व्यक्तिगत धार्मिक विश्वास व कुल जाति संबंध किसी भी प्रकार के हों) आस्था का भाव उत्पन्न हो। अबुल फजल द्वारा अकबर

के विचारों के परिप्रेक्ष्य में जिन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया उनसे उसके उद्देश्य व दृष्टिकोण भालि-भांति निरूपित होते थे। इनके द्वारा एक ओर सुल्ह ए कुल या सार्वलौकिक शांति मुग़ल साम्राज्य की सर्वप्रमुख नीति बनी रही तो दूसरी ओर आध्यात्मिक क्षेत्रों में मुग़ल बादशाह व विशेष रूप से अकबर की विशिष्ट स्थिति की भी पुष्टि हुई नवीन प्रशासनिक प्रणाली के मूल में यही सिद्धांत थे। इनका कार्यान्वयन मनसबदारी व्यवस्था के रूप में हुआ जिनमें विभिन्न धर्म, जाति व कुलों के लोग बादशाह के प्रति स्वामिभक्ति के सूत्र में बंध कर एक थे। दूसरी ओर बादशाह भी उनके प्रति भेदभाव रहित तथा सामंजस्य पूर्ण नीति अपनाने के लिए कटिबद्ध था, उनके धर्म व जातीयता का उसकी दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं था।

अकबर के सहयोगी शासक

अकबर का प्रधान लक्ष्य हिन्दुस्तान में एक सुदृढ़ साम्राज्य की स्थापना करना था, इस हेतु उसे ऐसे सहयोगियों की तलाश थी जो उसे संदेह-रहित समर्थन और सहयोग दे सकें। राजपूत अपनी वीरता और शौर्य के कारण विख्यात थे और अकबर ने यह उचित ही सोचा कि यदि उनकी शत्रुता साम्राज्य के लिए घातक है तो उनकी मित्रता साम्राज्य के लिए उपयोगी ही होगी, इसके अतिरिक्त अकबर को अपने निर्विवाद साम्राज्य स्थापना के लिए यह आवश्यक था कि राजपूतों को अपने अधीनस्थ दिया जाए। इस कार्य में सबसे बड़ा रोड़ा मेवाड़ ही था।

यह सामान्यत: माना जाता है कि केवल मेवाड़ ही एक ऐसा राज्य था जिसने अकबर की अधीनता नहीं मानी इसलिए अकबर ने उस पर हमला किया। यह धारणा ऐतिहासिक तथ्यों के विपरीत है। सन् 1567-68 में चित्तौड़ पर हमले के पूर्व केवल आमेर नरेश बिहारीमल ने अकबर की अधीनता स्वीकार की थी और अपनी पुत्री अकबर को ब्याही (सन् 1562)। इसके अतिरिक्त अकबर सन् 1562 में ही केवल मेडता पर ही अधिकार जमा पाया था। जोधपुर, बीकानेर और जैसलमेर जैसी रियासतों ने अकबर से समझौता करने के कोई संकेत नहीं दिए थे। इस अवस्था में कोई भी साम्राज्यवादी शासक अपने प्रमुख शत्रु को मात्र इसलिए परास्त करना चाहेगा ताकि शेष रियासतें स्वयंमेव उसकी अधीनता स्वीकार कर लें। अकबर ने ठीक ही सोचा और उसने किया भी वैसा ही। चित्तौड़ पतन (सन् 1568) के दो-तीन वर्षों के अंदर ही रणथम्भौर (सन् 1569), जोधपुर (सन् 1570), बीकानेर (1570) और जैसलमेर (1570) ने न सिर्फ अकबर की

अधीनता स्वीकार की वरन् उससे वैवाहिक संबंध भी स्थापित किए। इन वैवाहिक संबंधों के परिणाम स्वरूप अकबर को ऐसे सेनानायक और सैनिक सहयोगी मिले जिन्होने अकबर के साम्राज्य को एक ओर काबुल कंधार के उत्तर से लेकर बंगाल तक और काश्मीर से लेकर विंध्याचल- सतपुड़ा के दक्षिण तक पहुँचाया और साम्राज्य को सुदृढ़ किया। अकबर के समकालीन राजपूत हिन्दू शासकों का परिचय निम्नानुसार है -

(1) मेवाड़

बप्पा रावल, राणा कुम्भा और राणा सांगा के वंशजों ने मुग़लों की अधीनता अभी तक स्वीकार नहीं की थी। इसके अतिरिक्त अकबर का समकालीन चित्तौड़ का राणा उदयसिंह (1540-1572) निरन्तर अकबर के शत्रुओं को शरण दे रहा था। जब अकबर ने ग्वालियर पर अधिकार जमाया तो वहाँ के राजपूत नरेश रामशाह को उदयसिंह ने शरण दी। जब अकबर ने मेड़ता को जीता तो वहाँ का सामन्त जयमल अपने सैनिकों सहित मेवाड़ चला गया। राणा उदयसिंह ने मालवा के सुल्तान बाजबहादुर को भी सन् 1562 में अकबर से परास्त हो जाने के बाद शरण दी थी। इसके अतिरिक्त राणा के दरबार में अकबर के विद्रोही मिर्जाओं को निरंतर आश्रय मिलता रहा। मेवाड़ भी भौगोलिक स्थिति भी उस पर आक्रमण का कारण बनती थी। मेवाड़ दिल्ली और गुजरात के मध्य था और मेवाड़ पर अधिकार के बिना गुजरात विजय अधूरी ही थी। इन संदर्भों में हमे यह भी याद रखना है कि अकबर और उदयसिंह वंश परम्परा में परस्पर शत्रु व्यवहार रखते थे।

मेवाड़ को पराजित करने के उद्देश्य से 23 अक्टूबर सन् 1567 को अकबर ने एक बड़ी सेना के साथ चित्तौड़ पर घेरा डाल दिया। इसके पूर्व ही सामन्तों की सभा के निर्णयानुसार उदयसिंह ने चित्तौड़ की रक्षा का भार जयमल और फत्ता को सौंप दिया और स्वयं दुर्ग के बाहर पश्चिमी पहाड़ो पर चला गया। उदयसिंह के द्वारा चित्तौड़ छोड़ने की नीति को लेकर विसेंट आर्थर स्मिथ, टाड, श्यामदास, ओझा, तथा एस०आर० शर्मा जैसे इतिहास कारों ने उसकी आलोचना की है तथा उसे, कायर देशद्रोही व शौर्य हीन कहा है। लेकिन उदयसिंह के चरित्र में ऐसी कमी बतलाना अनुचित है। उसने समिति के निर्णय का पालन किया था और उसके पूर्व के सैन्य अभियान देखे तो उसमें एक श्रेष्ठ सैनिक के गुण थे। लेकिन उसका दुर्भाग्य था कि वह सांगा और प्रताप जैसे इतिहास प्रसिद्ध शूरवीरों के

मध्य उत्पन्न हुआ था। जिनकी शौर्य गाथाओं ने उदयसिंह के व्यक्तित्व को नगण्य कर दिया। अगर वह भीरू और कायर होता तो अकबर से संधि कर लेता।

चित्तौड़ के घेरे में अकबर ने अपनी पूरी ताकत लगा दी। 23 फरवरी सन् 1568 को दूर्ग की रक्षा करते हुए जयमल मारा गया। जयमल की मृत्यु की पश्चात् राजपूत हताश हो गये और चित्तौड़ का तीसरा और अंतिम शाका (जौहर) हुआ। जयमल की मृत्यु के बाद फत्ता के नेतृत्व में राजपूतों ने केसरिया बाना पहन कर 24 फरवरी सन् 1568 को दूर्ग का मुख्य द्वार खोल कर मृत्युपर्यंत युद्ध किया। जब तक दुर्ग में एक भी राजपूत रहा युद्ध चलता रहा। राजपूतों के इस कड़े मुकाबले से क्रोधित अकबर ने चित्तौड़ में कत्लेआम की आज्ञा दी और लगभग 30000 निर्दोष नागरिकों को तलवार के घाट उतार दिया गया। चित्तौड़ का यह कत्लेआम अकबर के सुनहरे चरित्र पर गए गहरा बदनुमा धब्बा है।

चित्तौड़ युद्ध के पश्चात् मृत राजपूतों के जनेऊ एकत्र करवा कर उसका वजन किया गया जो 74 1/2 मन (1 मन त्र 4 सेर) निकला जिसके कारण आज भी राजस्थान में 74 1/2 को अत्यंत अशुभ माना जाता है। इस पराजय के पश्चात् उदयसिंह का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता था और उसकी मृत्यु गोगुण्दा नामक स्थान पर सन् 1572 को हो गई। उदयसिंह के बाद उसके ज्येष्ठ पुत्र प्रताप का 3 मार्च सन् 1572 ई० को गोगुण्दा में अभिषेक किया गया। "वह एक युद्ध का नायक था जो डीलडौल से लम्बा और आकृति से वैभवपूर्ण था उसका ललाट ऊंचा था और आंखों से तेज बरसता था। उसकी मूंछे भरी हुई थी उसके सम्पूर्ण शारीरिक ढांचे से दृढ़ संकल्प का आभास स्पष्ट दिखाई देता था। " प्रताप को अपने पिता से विरासत में मेवाड़ का छिन्न भिन्न राज्य और शक्तिशाली अकबर से शत्रुता मिली थी। राणा प्रताप (सन् 1572-1597) ने जिस वीरता साहस आत्माभिमान और देशप्रेम का उदाहरण प्रस्तुत किया वह अनुपम है। प्रताप का राजनीतिक लक्ष्य मेवाड़ की पूर्ण स्वाधीनता और चित्तौड़ पर अधिकार जमाना था यद्यपि अकबर ने अत्यंत उदार शर्तो पर आधिपत्य स्वीकार का प्रस्ताव दिया था परनतु प्रताप ने उसे ठुकरा दिया। फलस्परूप दोनों के मध्य युद्ध अपरिहार्य हो गया।

हल्दीघाटी का युद्ध (21जून सन् 1576) अकबर और राणा प्रताप के मध्य लड़ा गया प्रथम और अंतिम प्रत्यक्ष युद्ध था। जिसमें एक ओर अकबर की सेना का नेतृत्व कछावाहा राजपूत मानसिंह कर रहा था। तो दूसरी ओर राणा प्रताप की

सेना के हरावल दस्त का नेतृत्व हकीम खाँ सूर के पास था। राजपूतों की तुलना में मुग़ल सेना हर दृष्टिकोण से बढ़चढ़कर थी। फिर भी राजपूतों की वीरता के आगे एक समय मुग़ल सेना हार की कगार पर थी। अचानक यह अफवाह फैली कि अकबर स्वयं युद्ध क्षेत्र में आ रहा है , इससे राजपूतों के हौसले पस्त हो गए। स्वयं राणा प्रताप घिर गये। इसी समय झाला ने राणा की रक्षा की और राणा युद्धभूमि से निकल भागे। हल्दीघाटी के युद्ध ने राणा प्रताप के लिए भविष्य की दिशा और रणनीति तय कर दी। अब राणा प्रताप ने प्रत्यक्ष युद्ध के बजाय छापामार शैली को प्राथमिकता दी। राणा ने शत्रुओं के आवागमन के मार्ग को अवरूद्ध करने, अचानक धावा बोलने और छिप जाने की नई सैनिक युक्ति को वैज्ञानिक रूप से काम में लेकर अपने उत्तराधिकारियों के समक्ष एक ऐसी धरोहर छोड़ी जो बलवान शत्रुओं को छकाने के लिए अचूक है। राणा प्रताप की पर्वतीय सुरक्षात्मक व्यवस्था आगे चल कर एक पद्धति बन गई। हल्दी घाटी के युद्ध में राणा प्रताप की हार ने अन्य राजपूत शासकों को प्रभावित किया। हल्दीघाटी के युद्ध के पश्चात् सन् 1578 तक कोई ऐसा हिन्दू राजपूत शासक नहीं था जिसने अकबर की अधीनता स्वीकार न की हो। राणा प्रताप ने हल्दीघाटी की पराजय को अपनी पराजय नहीं माना। वह निरंतर संघर्ष शील रहे। फलत: अकबर ने सन् 1585 के बाद मेवाड़ में रूचि लेना कम कर दिया। ये वर्ष (1585-1597) राणा प्रताप के लिए तुलनात्मक रूप से अच्छे थे। इन वर्षों में राणा प्रताप ने चित्तौड़ को छोड़कर अपने मेवाड़ का सारा भू-भाग वापस कब्जे में ले लिया। 19 जनवरी सन् 1597 को राणा प्रताप की मृत्यु हो गई है।

जब राणा प्रताप के उत्तराधिकारी राणा अमरसिंह (सन् 1597 से 1620 ई०) ने कार्यभार संभाला तो उन्हे तीन समस्याओं का सामना करना पड़ा-सामन्तों की आपसी वैमनस्यता, नागरिक जीवन संबंधी अव्यवस्था तथा सैनिक व्यतिक्रम। इस अवस्था में राणा ने आंतरिक सुव्यवस्था पर विशेष ध्यान दिया। जब राणा अपनी आंतरिक व्यवस्था सुधारने में लगा था तब सन् 1599 ई० को अकबर ने उसके विरुद्ध सलीम की नियुक्ति की। सलीम ने नाम के लिए उदयपुर की ओर प्रस्थान किया और बाद में पुन: अजमेर चला गया। यह अभियान प्राय: निष्फल रहा। अकबर ने पुन: 1603 ई० में सलीम को मेवाड़ पर अधिकार के लिए भेजा था। लेकिन मूलरूप से सलीम ने मेवाड़ पर अधिकार में कोई रूचि नहीं दिखाई।

(2) मारवाड़

जोधपुर के राव मालदेव का देहांत सन् 1562 ई में हुआ। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका तीसरा पुत्र राव चन्द्रसेन (1562-1581 ई०) जोधपुर के सिंहासन पर बैठा। चंद्रसेन के तीनों भाई-बड़े भाई राम व उदयसिंह तथा छोटा भाई रायमल उससे अप्रसन्न थे और उन्होने चंद्रसेन के विरुद्ध एक गठबंधन बनाया। ठीक इसी समय अकबर राजस्थान विजय की सोच रहा था। अकबर ने हकीम कुली बेग को जोधपुर पर आक्रमण करने भेजा। चंद्रसेन परास्त हुआ और उसने जोधपुर छोड़कर भद्राजण के किले में शरण ली (1564 ई०) जोधपुर छुटने के बाद चंद्रसेन की आर्थिक स्थिति बिगड़ गई और उसने अगले 6 वर्ष (1564-1570) अपने पिता की कीमती वस्तुए बेचकर काटे। अकबर ने जब 1570ई० में नागौर दरबार का आयोजन किया तो चंद्रसेन अपने लड़के रायसिंह के साथ वहाँ आया लेकिन असतुष्ट होकर लौट गया। अकबर ने चंद्रसेन के दमन के लिए अपनी शक्ति संगठित की। उसने उदयसिहं को (जिसे लोग मोटे शरीर और मोटी बुद्धि के लिए मोटा राजा भी करते थे) समावली की जागीर दी, राम को मुग़ल सेना के साथ रखा और जोधपुर को शाही अधिकार में ले लिया। बीकानेर के राजा रायसिंह को जोधपुर का प्रशासक नियुक्त किया गया। इधर चन्द्रसेन निरंतर संघर्षरत रहा। अकबर के सेनापति खानकल्ला खान ने भद्राजण के किले को घेर लिया (1565ई०) चन्द्रसेन वहाँ से शिवाना के किले में चला गया। मुग़लों की निरंतर घेराबंदी से विवश चंद्रसेन अक्टूबर 1572 ई० में शिवानी छोड़कर सारज की पहाड़ियों में चला गया। इधर पोकरण के क्षेत्र को छोड़कर शेष मारवाड़ पर अकबर ने आधिपत्य जमा लिया। निरंतर युद्ध एवं भागदौड़ से क्लांत चंद्रसेन ने 11 जनवरी 1581 को सीस की पहाड़ियों में सरेरी की घाटी में अंतिम सांसे ली। डॉ० भागर्व लिखते है कि "इस प्रकार एक भुला दिए गए नायक के जीवन का अंत हुआ जो अपनी मातृभूमि को अपना रक्त देकर भी स्वतंत्र रखना चाहता था और बढ़ती हुई मुग़ल शक्ति के विरुद्ध अपनी स्वतंत्रता बनाये रखना चाहता था। "डॉ० गोपीनाथ शर्मा लिखते है कि" वह मनस्वी और स्वतंत्र प्रकृति का वीर होने से मुग़ल अधीनता स्वीकार करने को तैयार नहीं हुआ। "

चंद्रसेन की मृत्यु के पश्चात् उसके बड़े भाई राव उदयसिंह (1583-1595 ई०) को 3 वर्ष तक जोधपुर को खालसा में रखकर शासक बनाया गया। उदयसिंह (या मोटाराजा) ने जिसने अकबर की अधीनता पहले ही स्वीकार कर ली थी,

अपनी पुत्री जगतगोसाई का विवाह शाहजादा सलीम से सन् 1586 ई० में कर दिया। उदयसिंह ने गुजरात एवं सिरोही के विद्रोही शासकों के विरुद्ध युद्धों में वीरता का प्रदर्शन किया गया। डॉ० गौरीशंकर हीरानंद ओझा के मतानुसार इसने (उदयसिंह) मालदेव के समय से आरंभ हुई निरंतर युद्ध की स्थिति को समाप्त करके मारवाड़ को शांति और सुख से सांस लेने का अवसर प्रदान किया। किन्तु इतना अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि इस शांति का मूल्य राठौड़ वंशके गौरव के बलिदान द्वारा चुकाया गया।

उदयसिंह की 1595 ई० में मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र **सुरसिंह (1595-1619 ई)** ने अकबर के शासन काल में गुजरात और नासिक के अभियानों में वीरता का प्रदर्शन किया।

(3) आमेर

अफगानों के पराभव और मुग़लों के पुनः साम्राज्यिक शक्ति के रूप में उभरने पर अकबर के समय भारमल या बिहारीमल (1547-1573 ई०) अपने राज्य पर आई कठिनाईयों से घिरा हुआ था। एक ओर स्थानीय मीणा उपद्रव कर रहे थे तो दूसरी ओर पूर्णमल का पुत्र सूजा ने मेवात के सुबेदार सर्फुद्दीन से मिलकर सन् 1558 ई० में आमेर पर हमला किया। भारमल ने सर्फुद्दीन को रिश्वत देकर अपना राज्य बचाया। जब अकबर अजमेर की तीर्थ यात्रा पर सांगानेर होकर निकला तब भारमल ने अकबर से 20 जनवरी सन् 1562 को भेंट की और अधीनता स्वीकार करने के साथ अपनी पुत्री का विवाह अकबर से कर दिया। भारमल के द्वारा किए गये इस वैवाहिक संबंध ने आमेर के कछवाहा राजपूतों को उनकी अगली चार पीढ़ियों तक मुग़ल राज्य का अनिवार्य अंग बनाये रखने में मदद की और आमेर राज्य की ख्याति और एश्वर्य में दिनोदिन वृद्धि की। भारमल के पश्चात् उसका पुत्र **भगवान दास (1573ई०-1589 ई०)** गद्दी पर बैठा। उसने सरनल के युद्ध में वीरता प्रदर्शित की और सात वर्ष तक (1582-1589) पंजाब का सूबेदार रहा तथा अकबर का पांच हजारी मनसबदार भी बना। उसकी मृत्यु सन् 1589 में लाहौर में हुई। भगवानदास के पश्चात् उसका दत्तक पुत्र **मानसिंह (1589-1614 ई०)** आमेर का शासक बना। मानसिंह अकबर के अभिन्न मित्रों में से एक और अत्यंत विश्वासपात्र व्यक्ति थे। मानसिंह ने रणथम्भौर आक्रमण (1569 ई०),गुजरात, अभियान, डूंगरपुर, विजय, हल्दीघाटी के युद्ध

(1576ई०) तथा उत्तर पश्चिमी सीमांत अभियानों में अभूतपूर्व वीरता का परिचय दिया था तथा काबुल, बिहार व बंगाल की सूबेदारी अत्यंत कुशलता से संभाली। मानसिंह की मृत्यु सन् 1614 ई० में ईलीचपुर में हुई। मानसिंह न सिर्फ एक वीर योद्धा और कुशल प्रशासक था बल्कि वह हिन्दूधर्म का पोषक, साहित्यकारों का आश्रयदाता तथा अनेक मंदिरों महलों बागो तालाबों का महान निर्माता भी था। मानसिंह को 7 हजारी मनसब दिया गया था।

(4) बीकानेर

राव कल्याण मल (1542-1574ई०) ने सन् 1570 के नागौर दरवार में अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली थी। उसका छोटा पुत्र पृथ्वीराज ने अकबर का सामंत बनकर गागरौन की जागीर प्राप्त की। डॉ० गौरी हीराना ओझा के मतानुसार राव कल्याणमल का यह कार्य बुद्धिमानी का था जिसके कारण अकबर और जहांगीर के शासन काल में शाही दरबार में जयपुर के बाद बीकानेर का सम्मान रहा। कल्याणमल के बाद महाराजा रायसिंह (1574-1612ई०) बीकानेर का शासक हुआ। बीकानेर का शासक बनने के पूर्व ही रायसिंह ने अकबर की ओर से जोधपुर के प्रशासक का उत्तरदायित्व कुशलता पूर्वक संभालकर अपनी योग्यता का परिचय दे दिया था (1572 ई०)। रायसिंह ने अकबर और बाद में जहांगीर को उल्लेखनीय सेवाएं प्रदान की, उसने नागौर और गुजरात में मिर्जा बंधुओं का दमन किया, विद्रोही चंद्रसेन, देवड़ा, सुरताण व राणा प्रताप के सहायक जालौर के ताज खाँ पर विजय प्राप्त की। रायसिंह ने शाही सेना के साथ काबुल, बिलोचिस्तान, कांधार, नासिक, मेवाड़ आदि अभियानों में अकबर के समय अभूतपूर्व वीरता दिखाई। उसे उसकी सेवाओं के बदले पाँच हजारी मनसब प्रदान किया गया। जहांगीर के समय उसे दक्षिण में नियुक्त किया गया जहाँ उसकी मृत्यु 1612 ई० में बुरहानपुर में हो गई।

(5) जैसलमेर

जैसलमेर के रावल हरराज (1561-1577 ई०) और रावल भीम (1577-1613 ई०) अकबर के समकालीन थे। रावल हरराज के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती निरंतर संकुचित होती राज्य की सीमाएं तथा अपने अस्तित्व की रक्षा की थी। जब अकबर ने नागौर दरबार (1570 ई) किया तब आमेर के कछवाहा भगवान दास के माध्यम से रावल हरराज अकबर से मिला और उसकी अधीनता

स्वीकार की तथा अपनी राजकुमारी का विवाह अकबर से किया। अन्य राजपूत नरेशों के समान भाटी रावल हरराज ने भी अपने पुत्र सुल्तानसिंह को अकबर की सेवा में नियुक्त किया जिसके बदले में अकबर ने सुल्तान सिंह को फ़लौदी का परगना जागीर में दिया। रावल हरराज ने अपने राजनीतिक एवं सैन्य संबंध सुदृढ़ करके अपने पुरखों के राज्य को पुनः प्राप्त किया। उसने एक लाख फदियों के बदले में राव चंद्रसेन से पोकरण दुर्ग प्राप्त कर जैसलमेर के दक्षिण में राठौड़ो के कोटड़ा नामक ठिकाने पर राव मेघराज को जीतकर अपने राज्य की सीमा बाड़मेर तक पहुँचा दी। रावल हरराज के निधन के पश्चात् उसका पुत्र रावल भीम गद्दी पर बैठा।

रावल भीम (1577-1613ई०) नें केन्द्रीय सत्ता मुग़ल सल्तनत से की गई संधि को न केवल यथावत स्वीकार किया बल्कि उसे और अधिक मजबूत किया। रावल भीम ने विरासत में प्राप्त राज्य की सीमाओं को ही सुरक्षित रखा तथा अपनी ओर से कोई सामरिक अभियान नहीं किया। जब अकबर ने मुलतान विजय के लिए खानखाना के नेतृत्व में शाही सेना भेजी तब वहाँ के युद्ध को लम्बा खिंचते देखकर रावल भीम को एवं बीकानेर शासक रायसिंह को संयुक्त रूप से खानखाना की सहायता करने का आदेश दिया गया था। मार्ग में रावल भीम ने अमरकोट के राणा को हराया और उसे भी अपने साथ युद्ध में ले गया (सन् 1591ई०)। सिंध मुल्तान की विजय के बाद अकबर ने रावल भीम को शाही सेना के साथ काबुल भी भेजा था और उसकी सेवाओं से प्रसन्न होकर अनेक जागीरें ईनाम में दी थी। रावल भीम की कन्या से जहांगीर का विवाह हुआ था रावल भीम संभवत : प्रथम और अंतिम व्यक्ति था जिसे अकबर ने शाही नौरोज के मेले में अपनी रानियों को न भेजने की लिखित आज्ञा और अनुमति प्रदान की थी। रावल भीम को उसकी योग्यता एवं सेवाओं के बदले तीन हजारी मनसब प्रदान किया गया था।

(6) अन्य राजपूती राज्य

अकबर के नागौर दरबार (1570 ई०) के पश्चात् अनेक राजपूत राज्यों ने उसकी अधीनता स्वीकार की थी। सन् 1569 ई० में बूंदी के राव सुरजन हाड़ा ने मुग़ल सम्राट अकबर की अधीनता स्वीकार करके रणथम्भौर का दुर्ग उसे सौंप दिया था। उसे राव राजा की उपाधि दी गई और बनारस का प्रशासन नियुक्त किया गया। राव सुरजन हाड़ा ने वहाँ शांति व्यवस्था कायम की तथा अनेक भवनों और

घाटों का निर्माण किया। उसके पुत्र राव भोज (1585-1607) ने शाही अभियानों में मानसिंह के साथ अहमदनगर के घेरे में अपूर्व वीरता का परिचय दिया।

आरंभ में कोटा बूंदी का ही एक अंग था परन्तु राव सुरजन की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र राव भोज ने अपने एक पुत्र हृदयनारायण को कोटा का शासक नियुक्त किया और अकबर ने उसे मान्यता दी।

डूंगरपुर नरेश आसकरण (1549-1580ई०) ने अन्य राजपूत नरेशों की भांति अकबर की अधीनता स्वीकार की थी और निरंतर शाही सेना में अपनी योग्यता को प्रदर्शन करता रहा। अकबर की अधीनता में बासवाड़ा तथा देवलिया प्रतापगढ़ के शासक भी बने रहे।

अकबर की राजपूत नीति

अकबर ने अपने सिहांसन पर बैठने के प्रारंभिक वर्षों में ही यह अच्छी तरह समझ लिया कि राजपूतों से सहयोग के बिना हिन्दुस्तान का साम्राज्य बनाये रखना कठिन है वीर राजपूतों को शौर्य और अकबर के चातुर्य ने मिलकर एक सुदृढ़ साम्राज्य की नींव डाली अकबर की उदार मैंत्रीपूर्ण राजपूत नीति दृढ़ राजनीतिक सिद्धांतों, समय की आवश्यकतानुरूप और श्रेष्ठ मानवीय गुणों की प्रति आस्था पर आधारित थी।

अकबर की उदार राजपूत नीति के कारण

अकबर की उदार एवं मैत्रीपूर्ण राजपूत नीति के अनेक कारण हैं जिनका संक्षिप्त वर्णन निम्नांकित है -

1. हिन्दू बाहुल्य जनता

अकबर को अपने शासनकाल की शुरूआत में हीं समझ में आ गया था कि हिन्दुस्तान की हिन्दू बाहुल्य जनता पर स्थायी रूप से शासन करने के लिए हिन्दुओं के राजनीतिक और सैनिक नेता "राजपूतों" से मैत्री पूर्ण व्यवहार करना होगा। उसने पिछले साढ़े तीन सौ वर्षों के सल्तनतकालीन इतिहास से यह सबक लिया कि बलबन, अलाउद्दीन खिलजी ओर मुहम्मद तुगलक जैसे सुयोग्य शासक, महान विजेता और साम्राज्यवादी भी एक स्थायी और संगठित राज्य की स्थापना करने में असफल हुए क्योंकि उनकी अधिकांश ऊर्जा राजपूतों के साथ संघर्ष में अपव्यय हुई। अत: अकबर ने एक स्थायी और मजबूत शासन तंत्र की स्थापना के लिए राजपूतों से मैत्रीपूर्ण व्यवहार किया।

2. राजपूतों की जातीय विशिष्टता का उपयोग

राजपूत परम्परागत रूप में शरीर से बलिष्ठ, अस्त्रशस्त्र विद्या में निपुण तथा विकट योद्धा होते है। राजपूतों को रणक्षेत्र में मृत्यु का भय नहीं होता और न ही वे विपरीत परिस्थितियों में धन या पद के लालच में शत्रु से जा मिलते। धन या पद के लालच में अपना ईमान और सम्मान खोकर कोई कार्य करना अपनी राजपूती शान, मर्यादा और कुल की प्रतिष्ठा के विपरीत माना जाता था। राजपूतों की नैतिकता और धर्मयुद्ध करने की भावना इतनी दृढ़ थी कि वे भागते हुए शत्रु को मारते नहीं थे, स्त्रियों, बालकों और निरपराध नागारिकों पर नृशंसता से अत्याचार नहीं करते थे। स्वभाव से वचन के पक्के, दृढ़ विश्वसनीय और निर्भीक राजपूत सच्चे ईमानदार और स्वामिभक्त थे। विश्वासघात करना उनके लिए अधर्म था, महान पाप था। इस प्रकार राजपूत बाह्य सैनिक गुणों के साथ - साथ अनूठे मानसिक गुणों के धनी थे। ऐसे राजपूतों से शत्रुता या बैर मोल लेना किसी भी राज्य के विस्तार और स्थाायित्व के लिए घातक होता। इसलिए अकबर ने राजपूतों, जो उस समय उत्तरी भारत के बहुत से प्रदेशों में शासक थे, के साथ उचित और उपयुक्त नीति अपनाकर अपने पक्ष में कर लिया। राजपूतों को साम्राज्य की उन्नति के मार्ग में रोड़ा बनाये रखने के स्थान पर अकबर ने उन्हें पूर्ण रूप से अपने पक्ष में कर के उनके सैनिक और मानवीय गुणों का, उनके श्रेष्ठ चरित्र तथा अटल स्वामिभक्ति का उपयोग मुग़ल साम्राज्य के विस्तार और उन्नति के लिये किया।

3. देशी सेना का विकास

प्रारंभिक मुग़ल सम्राटों यथा बाबर एवं हुमायूं की सेना में विदेशी सैनिकों और विदेशी सेनानायकों का वर्चस्व था। ये विदेशी सैनिक बल्ख, बदख्शां, समरकन्द आदि मध्य एशियाई इलाको से आते थे। मुग़लसेना प्राय: विदेशी सैनिकों पर ही निर्भर रहती थी। अकबर ने इन विदेशी सैनिकों के संबंध में दो समस्याओं का सामना किया। पहला- मध्य एशियाई राजनीतिक उथल पुथल के कारण इन विदेशी सैनिकों को निरंतर प्राप्त करना सरल नहीं था, जिससे मुग़ल सैन्य संगठन प्रभावित होता था। दूसरा- इन विदेशी मुग़ल सैनिकों में भारतीयों के प्रति सहानुभूति नहीं थी तथा उनमें यह अभिमान और निष्ठुरता आ गयी थी कि वे ही मुग़ल साम्राज्य की आधारशिला है तथा मुग़ल साम्राज्य के विस्तार व स्थायित्व के लिए उनकी सेवाएं अनिवार्य है। इस कारण वे मुग़ल सम्राट के प्रति मर्यादोचित

व्यवहार नहीं करते थे। इन विदेशी सैनिकों और सेनानायकों में सम्राट विरोधी भावनाएं विद्यमान रहती थी। इसके अतिरिक्त इन विदेशी सैनिकों को और इनके कारण स्वंय मुग़ल सम्राट को जनता अपना नहीं मानती थी। अकबर ने वीर तथा युद्धप्रिय राजपूतों के उन्मुक्त सहयोग और सहायता से देशी सेना तैयार की तथा विदेशी सैनिको और सेनानायकों से संबंधित इन समस्याओं का निराकरण सरलता से किया।

4. साम्राज्य की सुदृढ़ता

अकबर भारत में एक दृढ़ और स्थायी मुग़ल साम्राज्य स्थापित करना चाहता था। साथ ही साथ वह संगठित और सुव्यवस्थित प्रशासन भी स्थापित करने के लिये दृढ़ संकल्प था। एक विस्तृत राज्य की स्थापना सैनिक शक्ति से तो की जा सकती थी, किन्तु उसकी नींव गहरी नहीं हो सकती थी। ऐसा साम्राज्य किसी भी समय प्रजा के विद्रोह में लुप्त हो सकता था। वास्तव में एक सुदृढ़ साम्राज्य भारत की भारतीय जनता के साहचर्य और स्वीकृति से ही स्थापित हो सकता था। उसयुग में भारतीय जनता के राजनीतिक और सैनिक सूत्रधार राजपूत थे। अतः एक सफल साम्राज्यवादी नीति के लिये राजपूतों को मित्र बनाना अनिवार्य था।

इसके अतिरिक्त अकबर के समय में राजपूत बहुसंख्यक शक्तिशाली शासक थे। ऐसी दशा में यदि अकबर अपने शासनकाल के प्रांरभ में ही राजपूतों से संघर्ष और युद्ध करता तो यह संभव था कि वह उनसे परास्त भी हो जाता। शत्रुओं से घिरा होने और पराजय से निराशा होने पर उसे शायद अपने पिता हुमायूं के समान हिन्दुस्तान से पलायन करना पड़ता। इस संकट से बचने के लिये उसने भारतीय सैनिक सामंतवाद के प्रबल प्रतिनिधि राजपूतों के विरोध और शत्रुता को मैत्री और सहयोग में परिवर्तित करने का प्रयास किया। उसने मुग़लों और राजपूतों की शत्रुता का अंत करके, राजपूतों की शक्ति, वीरता, मैत्री और सहायता का उपयोग मुग़ल साम्राज्य के विस्तार तथा मजबूती के लिये किया।

5. छोटे राजपूत राज्यों का समापन

मुग़ल साम्राज्य की राजधानी दिल्ली और अन्य महत्त्वपूर्ण केन्द्र आगरा, दोनों ही स्वतंत्र राजपूत राज्यों से घिरे हुए थे। स्वतंत्र सबल राजपूत राजाओं की बढती हुई छाया में अकबर दिल्ली में निर्द्वन्द्व राज्य नहीं कर सकता था। स्वातंत्र्य प्रेमी तथा युद्धप्रिय राजपूत शासक और उनकी विद्रोहात्मक प्रवृत्ति अकबर के

लिये सदैव संकटापन्न स्थिति बनाये रखती। राजपूत राज्यों का सानिध्य और उनका विस्तार अकबर के अस्तित्व के लिए उचित न था। अत: उसके लिए अनिवार्य था कि वह इन पड़ौसी छोटे राजपूत राज्यों को या तो परास्त करे या मित्र बना ले। यदि अकबर शक्ति और दमन की नीति अपनाता तो वह आजीवन राजपूतों से उलझता रहता तथा अन्य महान विविध कार्य कदापि संपन्न नहीं कर सकता था। इसलिये उसके लिये लिये यह श्रेयस्कर था कि वह अपने पड़ौसी राजपूत राज्यों को प्रेम व मैत्री में बांधकर अपना समर्थक बना ले। अकबर के लिये यह भी आवश्यक था कि कुछ सबल राजपूत राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध बनाकर उनकी सहायता से विद्रोधी, राजपूतों को परास्त किया जाय। इसलिए अकबर ने राजपूतों के साथ सहिष्णुता, प्रेम और मैत्री की नीति अपनाई।

6. राष्ट्रीय राज्य की स्थापना

अकबर ने भारत में एक राष्ट्रीय राज्य निर्मित करने का सपना देखा था। अकबर एक ऐसा साम्राज्य स्थापित करना चाहता था जो हिन्दू और मुसलमान दोनों के सहयोग और हितो पर आधारित हो। इस नवीन राज्य की राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संस्थाएँ दोनों समुदायों की सक्रिय सहायता पर काम करे। अकबर की यह परिकल्पना थी कि हिन्दू और मुसलमान दोनों ही परस्पर एक दूसरे का हित करते हुए मुग़ल राज्य के स्थायी अंग बन जाये। इसलिये अकबर यह चाहता था कि मुग़ल और उनके समर्थक मुसलमान अपना विदेशीपन भुला दे और भारतीय बन जायें तथा राजपूतों से सक्रिय मैत्री के द्वारा उन्हें मुग़ल राज्य का आधार स्तम्भ बना दिया जाये।

7. आंतरिक कारण

अकबर के द्वारा राजपूतों के प्रति उदार मैत्रीपूर्ण नीति अपनाने के कुछ आंतरिक कारण भी थे। अकबर ने शीघ्र ही यह अनुभव कर लिया था कि उसके विदेशी मुस्लिम सैनिक, और सेनानायक साम्राज्य के हित में नहीं अपितु स्वंय के हितों की पूर्ति के लिये अनेक कार्य करते हैं। उसके सामन्त और सगे संबंधी संकट और दुर्बलता का लाभ उठाकर उसके विरुद्ध निरन्तर षड़यंत्र और विद्रोह में लगे रहते थे। यहाँ तक कि अकबर के शिक्षक और संरक्षक बैरामखाँ ने भी अपने स्वार्थ लोलुपता के लिये एक समय अकबर का विरोध किया, युद्ध में प्राप्त लूट का अधिकांश माल रख लिया। अकबर का दूधजात भाई आदमखाँ तो अकबर के

प्रधानमंत्री अतकाखाँ का कत्ल कर स्वयं अकबर की हत्या करने के लिये तत्पर हो गया था। अकबर के सम्बंधी मिर्जा तो अकबर के विरुद्ध निरंतर विद्रोह करते ही रहते थे। अकबर के बड़े- बड़े अमीर और सरदार जैसे आसफखाँ, अब्दुल्लाखाँ खान-ए-जमा आदि उसके शत्रुओं से मिलकर उसके प्राण लेने के लिये लगातार षडयंत्र रचते रहते थे। ऐसी दशा में कुशल और दूरदर्शी राजनीतिक के नाते अकबर ने यह उचित निर्णय लिया कि भारत की सबसे अधिक विश्वस्त और वीर राजपूत जाति पर ही भरोसा करके उसकी मित्रता प्राप्त की जाये। राजपूतों से मैत्री करके अकबर अपने राज्य विरोधी विदेशी मुस्लिम, पदाधिकारियों अपने संबंधियों और विद्रोहियों का दमन कर सकता था, अपने साम्राज्य की विघटनकारी शक्तियों को कुचल सकता था और साम्राज्य को स्थायित्व दे सकता था। अतः अकबर ने राजपूतों को अपना हितैषी और मित्र बनाकर राजपूतों की सैन्य योग्यता के आधार पर साम्राज्य की निर्णयात्मक शक्ति को प्राप्त किया।

8. अन्य कारण

अकबर के द्वारा राजपूतों से मैत्रीपूर्ण व्यवहार के पूर्व भारतीय जनता अकबर को विदेशी आक्रांता और उसके साम्राज्य को विदेशी मानती थी। इस विदेशी साम्राज्य के प्रति जनता की कोई सद्भावना श्रद्धा या राजभक्ति नहीं थी। अकबर ने शीघ्र ही यह अनुभव किया कि राजपूतों से वैवाहिक संबंध करने से, उनका समर्थन प्राप्त कर लेने से उसका विदेशीपन समाप्त हो जायेगा तथा उसे जनसाधारण की सद्भावना और राज्यभक्ति प्राप्त हो सकेगी। कुछ विद्वानों की यह भी धारणा हैं चूंकि अकबर का जन्म एक राजपूत रनवास मे हुआ था, जिसके कारण अकबर में राजपूतों के प्रति अधिक सहृदयता, उदारता और कृतज्ञता की भावना आ गयी थी, इससे भी उसकी राजपूत नीति प्रभावित हुई।

इन सबके अतिरिक्त अकबर के पितृकुल में उदारता और सहिष्णुता की भावनाएं परम्परानुरूप थी जो अकबर में भी स्वाभाविक रूप से विद्यमान थीं। इसके साथ ही अकबर के गुरूओं विशेषकर अब्दुललतीफ ने अकबर में उदारता, कृतज्ञता और सहिष्णुता की भावनाओं को प्रेरित किया। इस कारण भी अकबर के राजनीतिक विचार विशेषकर राजपूत नीति प्रभावित हुई।

अकबर के राजपूत नीति संबंधी कार्य

अपनी राजपूत नीति के क्रियान्वयन हेतु अकबर ने निम्नांकित कार्य किए-

1. अधीनस्थ राजपूत राजाओं को ऊचे पदों पर नियुक्ति

जिन राजपूत और हिन्दू राजाओं ने अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली और उससे मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर लिये अकबर ने उन्हें उनकी प्रतिष्ठा और योग्यता के अनुरूप उत्तरादायीपूर्ण पदों एवं श्रेष्ठ स्थानों पर बिना किसी धार्मिक भेदभाव के नियुक्त किया। अकबर ने अनेक राजपूतों को सुबेदार जैसे श्रेष्ठतम पद दिए। यदि कोई राजपूत नरेश (जैसे कि मेवाड़ के मामले में हुआ) ऐसा पद स्वीकार करने के लिये स्वयं प्रस्तुत नहीं होता और वह अपने स्थान पर अपने वरिष्ठ सामन्तों पुत्रों या परिवार के अन्य सदस्यों की सेवाएं अकबर को अर्पण करता तो अकबर उन्हें सहजता से स्वीकार कर संतुष्ट हो जाता था। अकबर ने बड़ी चतुराई पूर्वक श्रेष्ठ, सशक्त और प्रतिभावान राजपूतों को मुग़ल राज की सेवा में लेकर उन्हें उच्च पद प्रदान करके राजपूताने से दूर नियुक्त किया था, जिससे राजपूताने में अकबर के विरुद्ध कभी कोई भी विद्रोह या विरोध संगठित नहीं हो पाया। अकबर ने आमेर के राजा भारमल (बिहारीमल), उसके पुत्र भगवन्तदास तथा पौत्र मानसिंह को उसके परिवार के अन्य सदस्यों के साथ उच्चतम सैनिक पदो पर नियुक्त किया। इतिहासकारों के अनुसार एक समय अकबर की सेना में आधे से अधिक सैनिक और सेनानायक हिन्दू और राजपूत थे। अकबर ने स्वयं भी अनेक प्रकरणों में यह अनुभव कर लिया था कि उच्च श्रेष्ठ पदों पर आसीन मुस्लिम सांमतों की तुलना में राजपूत अधिक विश्वसनीय सिद्ध हुए।

2. राजपूतों के साथ उदारता का व्यवहार

अकबर ने राजपूतों की सद्भावना सहयोग और विश्वास प्राप्त करने के लिए अपने अधीनस्थ राजपूत राजाओं को और ऊंचे पदो पर नियुक्त राजपूतों को उनके जीवन, संपत्ति और सम्मान की सुरक्षा का विश्वास दिलाया। अकबर ने अपने सैन्य अभियानों के दौरान अन्य मुस्लिम आक्रमणकारियों के समान मंदिरों और मूर्तियों को नष्ट नहीं किया न तो पवित्र धार्मिक स्थानों को लूटा और न ही विध्वंस किया। अकबर ने पराजित हिन्दू राजाओं के साथ अभूतपूर्व उदारता का व्यवहार किया और उनको राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में पूर्ण समानता का अधिकार दिया। बाद में अकबर ने और अधिक उदारता दिखाते हुए जजिया-कर और यात्री-कर भी निरस्त कर दिये धार्मिक पूजा पाठ की स्वतंत्रता दे दी तथा अपनी राजपूत रानियों के लिए हरम मे पूजा पाठ अर्चना, उपासना आदि

की व्यवस्था की। अकबर स्वयं भी कभी- कभी तिलक लगाता था और सूर्य की उपासना करता था। इससे राजपूतों में भी अकबर के प्रति विश्वास का भाव जागृत हुआ।

3. राजपूतों से वैवाहिक संबंध

अकबर ने राजपूतों से अपने संबंध अधिक सदृढ़ और स्थायी बनाने के लिए अनेक प्रमुख राजपूत राजवंशों की राजकन्याओं से वैवाहिक संबंध स्थापित किये। अकबर ने आमेर, बीकानेर तथा जैसलमेर की राजकन्याओं से विवाह किया। आमेर की जोधाबाई से उत्पन्न पुत्र सलीम को अकबर ने अपना उत्तराधिकारी बनाया। सलीम का विवाह भी उसने जोधपुर की राजकुमारी से किया। इन वैवाहिक संबंधों से भारत की राजनीति में एक नये युग का प्रारंभ हुआ। इन वैवाहिक संबंधों ने अकबर और उसके दो उत्तराधिकारियों के राज्य एवं प्रशासन व्यवस्था को अत्यंत सुदृढ़ और स्थायी बनाया। मध्ययुगीन भारत के सर्वाधिक वीर और युद्धप्रिय राजपूत सेनानायकों और प्रतिभा सम्पन्न योग्यतम राजपूत राजनीतिज्ञों ने मुग़ल राजवंश और साम्राज्य को अपनी अनूठी व बहुमूल्य सेवाएं प्रदान की। राजपूतों की शक्ति, शौर्य, बुद्धि और प्रतिभा का सदुपयोग मुग़ल साम्राज्य और जनकल्याण के लिए विभिन्न क्षेत्रों में व्यापक रूप से किया गया। इससे जहाँ एक ओर मुग़ल साम्राज्य को उच्चकोटि के शासक, महान कुशल सेनापति और सफल कूटनीतिज्ञ प्राप्त हुए तो दूसरी ओर समस्त उत्तरी भारत में अभूतपूर्व सांस्कृतिक समन्वय और प्रगति हुई, तथा मुग़लों का एकछत्र प्रशासन स्थापित हो गया। राजपूताना भी भंयकर युद्धों और रक्तपात से त्राण पा गया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अकबर के राजपूतों के साथ वैवाहिक संबंध युगान्तरकारी सिद्ध हुए। इन वैवाहिक संबंधों ने मध्ययुग में राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक समन्वय में एक महान भूमिका निभाई।

कुछ इतिहासकारों ने अकबर की इस विवाह नीति की कटु आलोचना भी की है। उन्होनें इन वैवाहिक संबंधों को राजपूतों और हिन्दुओं के लिए कलंक बताया और अकबर को धूर्त कूटनीतिज्ञ कहा। अकबर ने आमेर के राजा भारमल की संकटकालीन स्थिति का लाभ उठाकर विवाह संबंध कर लिया और इसका उपयोग उसने अन्य राजपूत राजवंशों से विवाहों के लिये किया। इन विवाहों से अकबर ने राजपूतों की मर्यादा प्रतिष्ठा व उनका आत्मभिमान नष्ट कर दिया और उनको स्वतंत्र नरेशों की अपेक्षा अपना शासकीय सेवक बना दिया। अकबर ने

अपने वंश और परिवार की कन्याओं का विवाह राजपूतों से नहीं कराया। इस तरह की आलोचना संकीर्ण मनोवृत्ति का परिचायक है। राजनीतिक विवाह प्राचीन भारत में भी प्रचलित थे। विदेशी शक और कुषाण शासकों ने अनेक भारतीय राजवंशों से संबंध स्थापित किये थे। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपने पुत्री प्रभावती का विवाह वाकाटक नरेश प्रसेनजीत से किया था। ब्राहण राजवंशो ने भी ब्राहणेतर राजवंशों से विवाह संबंध किये। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अकबर ने वैवाहिक संबंधों को राजपूत नरेशों के साथ हुई संधियों का आवश्यक अंग नहीं बनाया, अपितु वैवाहिक संबंध को अकबर ने मुग़ल साम्राज्य से सहयोग और सहायता के लिये सहायक माना था।

अकबर की राजपूत नीति के परिणाम

मध्य युगीन इतिहास में अकबर प्रथम मुस्लिम शासक था जिसने राजपूतों के साथ उदारता और मैत्री का व्यवहार किया था। अकबर के पूर्व सल्तनतकालीन सुलतानों ने राजपूतों के प्रति संकीर्णता, धर्मान्धता असहिष्णुता और आतंक की नीति अपनायी थी। इसलिये सल्तनत कालीन शासक अपने राजवंशों को चिरस्थायी और दृढ़ नहीं बना पाये। परन्तु अकबर राजपूतों के प्रति उदार सहिष्णु और मैत्रीपूर्ण नीति अपनाकर उन सुल्तानों की अपेक्षा अधिक सफल रहा। अकबर के उत्तराधिकारी जब तक अकबर की राजपूत नीति का अनुकरण करते रहे, तब तक मुग़ल साम्राज्य निर्विध्न रूप से चलता रहा। परवर्ती मुग़ल साम्राटों ने जब इस उदार राजपूत नीति का परित्याग किया तब मुग़ल साम्राज्य के पतन का मार्ग प्रशस्त हो गया। अकबर की उदार राजपूत नीति के महत्त्वपूर्ण परिणाम निम्नांकित रहे-

1. मुग़ल साम्राज्य की सुरक्षा

राजपूत जो कभी मुस्लिम शासको के घोर शत्रु और प्रबल विरोधी रहे थे, अब मुग़ल साम्राज्य के सहयोगी बन गये थें। राजपूताना में मेवाड़ के अतिरिक्त सभी राजपूत राज्यों ने जैसे आमेर, जोधपुर जैसलमेर बीकानेर आदि ने अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली थी। इनकी देखादेखी अन्य छोटे राजपूत राज्यों जैसे बांसवाड़ा प्रतापगढ़ देवलिया आदि ने भी अकबर के समक्ष आत्मसमपर्ण कर दिया। अकबर ने इन राजपूत नरेशों, उनके सामन्तों और संबंधियों को उनकी योग्यता और अनुभव के आधार पर सैनिक और असैनिक पदो पर नियुक्त किया। इससे अकबर को अनेक रणकुशल वीर सेनानायकों, प्रशासकों सूबेदारों की

अमूल्य और अभूतपूर्व सेवाएं प्राप्त हो गयी। इन राजपूत सांमतों ने बंगाल, बिहार सीमांत क्षेत्र और दक्षिण भारत के युद्धों में सैन्यसंचालन कर रक्त बहाकर विजय प्राप्त कर मुग़ल साम्राज्य की सीमाओं का विस्तार ही नहीं किया, बल्कि मुग़ल साम्राज्य के अनेक आंतरिक विद्रोह का दमन कर सम्राज्य में शांति स्थापित करने में महान योगदान दिया। इन वीर राजपूतों ने अकबर के लिए कई युद्ध लड़े और राज्य विरोधियों को परास्त कर अकबर के गौरव को बढ़ाया। अन्ततः ये राजपूत मुग़ल साम्राजय के मजबूत स्तभ बन गये। सन् 1556 में अकबर बिना किसी निश्चित राज्य सीमा के सिंहासनारूढ़ हुआ था, जबकि सन् 1605 में अपनी मृत्यु के समय, उसने अपने उत्तराधिकारी के लिए एक विस्तृत और सुसंगठित राज्य छोड़ा था। मुग़ल साम्राज्य का विस्तार और समृद्धि अकबर की राजपूत नीति का ही परिणाम था। उसके उत्तराधिकारियों जहांगीर और शाहजहां का अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण शासनकाल इन वीर राजपूतों के सहयोग से ही निर्मित हुआ था।

2. राजपूताना पर नियंत्रण

अलाद्दीन के अतिरिक्त कोई भी मुस्लिम शासक राजपूताना पर नियंत्रण पाने में सफल नहीं हुआ था। अलाउद्दीन अपनी प्रखर और प्रबल सैनिक शक्ति से राजपूताना पर थोडे समय के लिए अपना प्रभुत्व तो अवश्य ही स्थापित कर सका था, परन्तु वह सुदृढ़ और स्थायी अधिकार स्थापित नहीं कर पाया था। इसके विपरीत अकबर अपनी नवीन राजपूत नीति के कारण राजपूताना में अपूर्व सफलता प्राप्त कर सका। अकबर ने अपनी सहिष्णुता, उदारता नीति कुशलता, विवेकशीलता और प्रज्ञ प्रकृति से राजपूतों के सामरिक और चारित्रिक गुणों का सदुपयोग किया, और उनके स्वैच्छिक समर्थन से राजपूताना को अपने नियंत्रण में ले सकने सफल रहा।

3. अन्य राज्यों पर विजय

अकबर राजपूतों के रूप में भारत के पश्चिमोत्तर क्षेत्र के तथा अन्य क्षेत्रों के विविध राज्यों के विरुद्ध युद्ध करने उन्हें जीतने या नष्ट करने के लिए प्रबल मित्र पा गया। यही नहीं अकबर ने अपने विरोधी या शत्रु राजपूत राज्यों को भी मित्र राजपूत राजाओं द्वारा परास्त करवाया। अकबर ने इन राजपूत सैन्यबलों की सहायता से पूर्व में बंगाल, बिहार और उड़ीसा में, दक्षिण में खानदेश और अहमदनगर में सरल विजय प्राप्त की। युद्धप्रिय राजपूतों के मित्र हो जाने से, युद्ध के लिए राजपूत

सैनिक मिल जाने से, अकबर को अपनी सेना में भरती के लिए भारत के पश्चिमोत्तर प्रान्तों और मध्य एशिया के देशों की ओर निगाह नहीं करना पड़ता था। इन वीर राजपूत सैनिकों के कारण अकबर अब मध्य एशियाई देशों के मुस्लिम सैनिको पर निर्भर नहीं रहा। इन राजपूतों की सहायता से उसने भारत के अन्य राज्यों पर सरलता से विजय प्राप्त की।

4. दरबारी मुस्लिम अमीरों पर नियंत्रण

अकबर के दरबारी मुस्लिम अमीर और सरदार अकबर के विरुद्ध निरंतर विद्रोह , कुचक और षडयंत्र करते थे। परंतु राजपूत दरबारियों, ऊंचे पदाधिकारों और सेनानायकों के होने से अकबर अपने इन विदेशी अमीरों को सरलता से अपने अधीन रख सका, उनकी बढ़ती हुई विद्रोहात्मक गतिविधियों का दमन कर सका और अपने को उनके षडयंत्र से मुक्त कर सका। राजा भगवन्तदास, राजा मानसिंह, राजा टोडरमल और बीरबल जैसे प्रबल शक्तिवान और प्रतिभावाले व्यक्तियों के मुग़ल सेवा में आ जाने से मुग़ल राजसभा और प्रशासन इन तेजस्वी हीरों के जाज्वल्यमान प्रकाश से प्रदीप्त हो गया। राजपूतों ने अपनी शौर्यता और राजनीतिक चातुर्य से मुग़ल दरबार की समृद्धि में वृद्धि की।

5. सांस्कृतिक प्रगति

अकबर ने अपनी मैत्रीपूर्ण राजपूत नीति द्वारा वर्षों से व्याप्त कटुता को दूर करके हिन्दू मुस्लिम पारस्परिक प्रीति, सहयोग और समन्वय का मार्ग प्रशस्त किया। अकबर ने मुग़लों के ऐश्वर्यशाली उत्थान को राजपूतो के विरुद्ध रक्तपात की नीति से या धर्मान्धता और असहिष्णुता की नीति से मलिन नहीं किया। अकबर ने अपनी इस नवीन मैत्रीपूर्ण राजपूत नीति से जनता का स्वेच्छापूर्ण सहयोग और सक्रिय समर्थन प्राप्त कर लिया। इस कारण अकबर प्रशासनिक सुधार कर सका तथा सम्पूर्ण राज्य में बहुमूखी सांस्कृतिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त कर सका। अकबर के शासन काल में हिन्दुओं और राजपूतों ने प्रशासनिक, आर्थिक, सामाजिक सांस्कृतिक साहित्यिक और कलात्मक उन्नति को अपनी स्वेच्छा से अपूर्व योगदान दिया। अकबर के शासन काल में इस नीति के प्रभाव स्वरूप आर्थिक सम्पन्नता और सांस्कृतिक पुनरूत्थान का ऐसा युग आया जिसका मध्यकाल में कोई उदाहरण नहीं है। संस्कृति कला और साहित्य के क्षेत्र में एक नवीन प्रणावंत चेतना और स्फुर्ति का संचार हुआ तथा धर्म में परिष्कारोन्मुख जागृति

आ गयी। वास्तुकला, चित्रकला, संगीत, साहित्य आदि विभिन्न क्षेत्रों में हिन्दू-मुस्लिम विचाराधाराओं का सम्मिश्रण और समन्वय हुआ। अकबर के समय के भवनों में तो राजपूती कला की छाप स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। आगरा के पास फतेहपुर सीकरी में अकबर द्वारा निर्मित महलों में हिन्दूकला का इतना अधिक प्रभाव है कि ये भवन किसी राजपूत नरेश द्वारा निर्मित प्रतीत होते है। इसी प्रकार अकबरकालीन अन्य कलाकृतियों में भी हिन्दू मुस्लिम शैलियों का समन्वय है। वस्तुतः हिन्दू मुस्लिम सांस्कृतिक समन्वय मुग़ल काल की बहुमूल्य विरासत हैं।

6. राजपूत एकता की समाप्ति

अकबर की राजपूत नीति का यह भी परिणाम हुआ था कि राजपूतों की एकता खंडित हो गयी और हिन्दूओं की स्वतंत्र राजसता का स्वप्न सदैव के लिए समाप्त हो गया। अकबर ने विवाह और मैत्री से राजपूतों के साथ आमेर जैसलेमर, जोधपुर बीकानेर जैसे सबल राजपूत राज्यों को अपने पक्ष में कर लिया। पर मेवाड़ के राजपूत राज्य और उसके समथकों ने इन वैवाहिक संबंधों का विरोध किया, उन्होने राजपूत डोली मुग़ल रनवास में भेजने को अपनी मान ,मर्यादा और शान के विरुद्ध समझा। इससे राजपूतों की एकता खण्डित हो गई। जब अकबर ने राजपूतों के सर्वश्रेष्ठ राज्य चित्तौड़ पर आक्रमण किया, तो वहाँ के राणा की पराजय का एक कारण राजपूतों की एकता का अभाव था। यद्यपि मेवाड़ के राजपूत राज्य ने अकबर की अधीनता स्वीकार नहीं की थी, परन्तु बाद में उसकी ऐसी दुर्दशा हो गयी थी कि वह अकबर के साम्राज्य के लिए भय और आतंक का कारण नहीं बन सकता था। निस्संदेह अकबर की मैत्रीपूर्ण उदार राजपूत नीति ने मुग़ल साम्राज्य को स्थिर और सुदृढ़ बना दिया और मुग़ल राजवंश की नीवं को राजपूतों ने अपने रक्त और पसीने से सीचंकर गहरा बना दिया। पर मुग़लों के साथ उनके वैवाहिक संबंधो ने राजपूतों की संगठित शक्ति को विघटित कर दिया। अकबर प्रथम सफल विजेता था जिसने राजपूतों की सम्पूर्ण स्वतंत्रता का अपहरण कर लिया और उन्हें अपनी अधीन कर लिया। उन्हे धार्मिक और सामाजिक स्वतंत्रता दे दी और उन्हे जजियाकर व यात्राकर से मुक्त कर दिया गया था। पर इस मित्रता के दुष्परिणामस्वरूप राजपूत शासक और सामन्त सोने की जंजीरों से बंध गए। यद्यपि उन्होने तेज, यश और शौर्य के क्षेत्र में नेतृत्व किया, परन्तु राजपूतों और हिन्दूओं की स्वतंत्र राजसत्ता सदैव के लिए समाप्त हो गई। राजपूतों को पुनः अपने दृढ़ स्वतंत्र

राज्य स्थापित करने में लगभग सौ वर्ष लग गए।

सार रूप में यह लिखना अनुचित न होगा कि अपने समकालीन अंग्रेज साम्राज्ञी ऐलिजाबेथ के समान अकबर की धार्मिक नीति तथा राजपूतों व अन्य धर्मावलम्बियों के साथ व्यवहार पूर्णत: राजनीतिक सिद्धान्तों पर आधारित रहा। अकबर ने धर्म के राजनीतिक दुरुपयोग को रोकने के साथ-साथ सर्वधर्म समभाव के सिद्धान्त का पालन किया। मध्य युगीन इतिहास में ऐसा उदाहरण निश्चित ही क्रांतिकारी हैं इसलिए अकबर को राष्ट्रीय नायक कहा जाता हैं।

◆◆

जहांगीर एवं राजपूत

तुजुक ए जहांगीरी के अनुसार जहांगीर 24 अक्टूबर सन् 1605 ई० को 38 वर्ष की उम्र में आगरा की गद्दी पर बैठा। उसने नुरूद्दीन मुहम्मद जहांगीर पादशाह गाजी का नाम एवं उपाधि धारण की। जहांगीर के पूर्व अकबर के जितने भी बच्चे हुए वे सब शैशवावस्था में ही मर गये थे। अत: चिन्ताग्रस्त अकबर ने इस हेतु सीकरी के शेख सलीम चिश्ती से आर्शीवाद मांगा। इस आर्शीवाद के फलस्वरूप आमेर की राजकुमारी, जिससे अकबर ने 1562 ई० विवाह किया था। के गर्भ से 30 अगस्त 1569 ई० को सलीम का जन्म हुआ। अकबर सलीम को प्यार से शेखू बाबा कहकर पुकारता था। सलीम को उच्चकोटि की शिक्षा दीक्षा दी गई। उसे फारसी पर असाधारण अधिकार था, वह फारसी में कविताएं तो करता ही था साथ ही उसने अपनी आत्मकथा तुजुक ए- जहांगीरी भी इसी फारसी में लिखी है।तुजुक ए बाबरी जो मूलत: तुर्की में है का फारसी अनुवाद भी सलीम ने ही किया था। जब सलीम 15 वर्ष का था तब आमेर के राजा भगवान दास की पुत्री मानबाई के साथ उसकी सगाई हुई और 13 फरवरी सन् 1585 ई० को हिन्दू व मुस्लिम रीतिरिवाज से उसका विवाह सम्पन्न हुआ। भारतीय इतिहास के अभागे राजकुमार खुसरो ने इसी मानबाई के गर्भ से 6 अगस्त सन् 1587 ई० को जन्म लिया था। मानबाई ने अपने पुत्र खुसरो के पिता विरोधी कार्यों से तथा भाई माधोसिंह के दुर्व्यवहार से अप्रसन्न होकर 1604 ई में आत्महत्या कर ली थी। जहांगीर मानबाई की मृत्यु से अत्यंत दुखी हुआ उसने लिखा "मैं उसकी (मानबाई) अच्छाई और सद्गुणों के विषय में क्या लिखू। उसकी बड़ी बुद्धिमता थी और मुझसे इतना प्रेम करती थी कि मेरे एक बाल के ऊपर वह हजार पुत्रों व भाईयों को बलिदान कर सकती थी।" जहांगीर के हरम में अनगिनत स्त्रियां थी। फादर जे वियर के अनुसार सन् 1597 ई०में जहांगीर के हरम में कम से कम बीस वैध स्त्रियां और उपपत्नियों व रखैलों को मिलाकर कम से कम तीन सौ स्त्रियां थी। जहांगीर ने जोधपुर के उदयसिंह की पुत्री जगत गोसाई से सन् 1586 ई० मे विवाह किया। जहांगीर की दूसरी पत्नि शाहिबे जमाल से राजकुमार परवेज और जगतगोसाई से खुर्रम (शाहजहां) का जन्म हुआ, जहांगीर के अन्य पुत्र शहरयार का जन्म एक रखैल से हुआ था।

जहांगीर प्रारंभ से ही महत्त्वाकांक्षी था। बदायूंनी के साक्ष्य के आधार पर उस

पर यह आरोप लगाया गया कि उसने अकबर को सन् 1591 ई० में विष दिया था। बदायुंनी लिखता है -'' उसके (अकबर) पेट में दर्द रहने लगा तथा कुछ और भी गड़बड़ हुई जिसका कारण कोई नहीं बता सका .... उसके सबसे बड़े शाहजादे पर शक हुआ और चारों ओर कानाफूसी होने लगी कि उसे (अकबर)को विष दिया गया।'' जब सन् 1599 ई में अकबर ने सलीम को अजमेर का गर्वनर नियुक्त करके राणा अमर सिंह के विरुद्ध अभियान का निर्देश दिया तब उसने राणा के विरुद्ध कोई कदम नहीं उठाया फिर वह इलाहाबाद चला गया जहाँउसने अप्रत्यक्ष: अपनी संप्रभुता निर्मित कर ली। युवराज के इन कार्यों से खिन्न अकबर असीरगढ़ की विजय का कार्य शीघ्रतापूर्वक समाप्त करके 23 अगस्त सन् 1603ई० को आगरा पहुँचा। इधर सलीम अकबर से मुकाबला करने इटावा तक अपनी फौज के साथ आ गया। निरंतर समझाने बुझाने पर सलीम इलाहाबाद लौट गया। बाद में अकबर ने उसे बंगाल और बिहार की सूबेदारी भी दे दी। अकबर ने जब अबुल फजल को दख्खन से बुला भेजा तो नाराज सलीम ने बीरसिंह बुंदेला को आदेश देकर 1603 ई को उसकी हत्या करवा दी। बाद में सलीमा बेगम की मध्यस्थता में सलीम और अकबर में सुलह हो गई। बीमार और वृद्ध अकबर ने स्वयं हुमायूं की कटार सलीम की कमर में बांध दी और शाही चिन्ह उसे देकर अपना उ्राधिकारी घोषित कर दिया।

जहांगीर के जीवन मे कुछ महत्त्वपूर्ण घटनांए हुई। पहली - सन् 1606 ई में उसके पुत्र खुसरो का विद्रोह हुआ जिसे तीन सप्ताह के भीतर कुचल दिया गया। दूसरी - सन् 1611 ई में उसने एक ईरानी सिपहसलार शेरअफगन की विधवा मेहरूनिन्सा से विवाह कर उसे नूरजहां नाम दिया। सन् 1622 ई० से 1627 ई० तक शासन काल वस्तुत: नूरजहां का ही शासनकाल था जब उसने न सिर्फ सिक्को में अपना नाम ढलवाया बल्कि शाही फरमानों में दस्तखत भी करने लगी थी। जहांगीर के एक शाहजादे खुर्रम शाहजहाँ के साथ नूरजहां के भाई आसफ खाँ की पुत्री का विवाह हुआ था और प्रारंभ में नूरजहां खुर्रम को ही राजगद्दी पर बिठाने के पक्ष में थी। बाद में नूरजहाँ के पहले पति से उत्पन्न लड़की लाड़ली बेगम का विवाह जहांगीर के छोटे तथा रखैल पुत्र शहरयार से हो जाने के पश्चात् नूरजहां शहरयार को राजगद्दी पर बिठाने का प्रयत्न करने लगी। फलस्वरूप तीसरी और चौथी घटनाएं हुई। तीसरी - शाहजादा खुर्रम में 1622 ई में विद्रोह शुरू किया जो सन् 1625 में समाप्त हो पाया। तथा चौथी - नूरजहां के राजनीतिक प्रभुत्व को चुनौती देने के

लिए वृद्ध सेनापति महावत खाँ ने विद्रोह किया (1526 ई०) जिसने सल्तनत को झकझोर दिया।

जहांगीर के शासनकाल की महत्त्वपूर्ण विजयों में मेंवाड़ विजय (सन् 1614ई०) अहमदनगर (1616 ई०) कागड़ा (1620ई०) है तो सबसे महत्त्वपूर्ण पराजय यह रही कि सन् 1622 ई में कांधार हाथ से निकल गया जो मुग़लों के हाथ स्थायी रूप में फिर कभी हाथ नहीं आया।

जहांगीर के सहयोगी राजपूत शासक

जहांगीर ने अपने पिता की नीति के अनुरूप राजपूतों से सहयोग की नीति का अनुसरण किया। उसके सहयोगी शासक निम्नांकित रहे-

मेवाड़

अपनी पूर्ण शक्ति लगाने पर भी अकबर पूरे मेवाड़ पर विजय स्थापित न कर सका था। 1597 ई० में अपनी मृत्यु के पूर्व ही राणाप्रताप ने अपने खोये हुए राज्य का अधिकांश भाग फिर से हथिया लिया था। उसके पुत्र अमरसिंह में यद्यपि उसकी सी अजेय और दुर्दम आत्मनिष्ठा एवं स्वाधीनता के प्रति अजर प्रेम न था। तथापि वह एक वीर सैनिक अवश्य था जिसने मुग़ल आक्रमण विरोधी अपने पूर्व पुरुषों की नीति को जीवित रखा। अकबर ने अपने राज्यकाल के अंतिम दिनों में मेवाड़ विजय के लिए कई अभियान व्यवस्थित किये परंतु उसके सेनापतियों के अकर्मण्यता तथा सिसौदिया वंसजों के शक्तिशाली विरोध के कारण उसकी मनोकामना सफल न हो सकी। डॉ० बेनीप्रसाद लिखते है "संसार मे जितनी भी जातियां हुई हैं उनमें से ऐसी कोई नहीं हुई जिसका इतना रोमांचाकारी, कार्य इतने बीरतापूर्ण और यश तथा आत्मसम्मान की भावना इतनी अभिमानपूर्ण रही हो जितनी कि मध्ययुगीन भारत के राजपूतों की। ..... जैसे ही हम राजपूत इतिहास के पन्ने पलटते है वैसे ही यह देखकर कि मनुष्य पराक्रम, भक्ति तथा परोपकार की किस ऊंचाई तक पहुँच सकता है हमारा मस्तिष्क चकराने लगता है। राजपूती भावना का सार मेवाड़ के रंगीन इतिहास में प्रकट हुआ है। ..... वे (सिसौदिया) अपने देश की चट्टानों और घाटियों, सकीर्ण अज्ञात दर्रों और छिपी हुई तथा रहस्यमय पगडण्डियों से भलीभांति परिचित थे संकट के समय में उनका यह ज्ञान अत्यधिक मूल्यवान सिद्ध हुआ। उनके बिना मेवाड़ का इतिहास कुछ और ही होता है।" अपने पिता की साम्राज्यवादी नीति के अनुगामी जहांगीर ने सम्पूर्ण देश पर

एकछत्र राज्य स्थापित करने की आकांक्षा से अपने द्वितीय पुत्र परवेज को 1605 ई में 20,000 अश्वारोहियों की अध्यक्षता में राणा अमरसिंह को पराजित करने के लिए भेजा। आसु खाँ जफर वेग को जो पाँचहजारी मनसबदार था को शाहजादे का परामर्शदाता बनाकर भेजा गया। दूसरे गणमान्य राज्याधिकारी भी सहायता के लिए नियुक्त किये गये। राणा अमरसिंह का चाचा सागर भी, जिसने अपने भतीजे का पक्ष छोड़कर मुग़ल दरबार में वेतनभोगी होकर रहना आरंभ कर दिया था।शाहजादे के साथ भेजा गया। अमरसिंह ने बड़ी वीरतापूर्वक अपने प्रदेश की रक्षा की। देवार के दर्रे पर घमासान युद्ध हुआ जो अनिर्णीत रहा। दोनों पक्षों ने अपने अपने को विजयी घोषित किया। सम्राट के अनुयायियों ने निर्दय भाव से देवार के पार्श्ववर्ती इलाके का विध्वंस किया। परन्तु खुसरों के विद्रोह के फलस्वरूप वे आगे न बढ़ सके। रणस्थल छोड़ने के पूर्व मुग़लों ने सागर को चित्तौड़ का राणा नियुक्त कर दिया जिससे राजपूतों मे पक्ष भेद हो जाय। जहांगीर लिखता है "खुसरू के दुखद विद्रोह के कारण सब कुछ बन्द हो गया, मुझे पंजाब की ओर उसका पीछा करना पड़ा और राजधानी तथा देश के भीतर सेनाओं का अभाव हो गया। मुझे परवेज को लिखना पड़ा कि वह तुरंत लौट आये, आगरा तथा उसके निकटवर्ती प्रदेश की रक्षा करे और वहीं रहे। इसलिए राणा के विरुद्ध युद्ध स्थापित कर दिया गया।" दो वर्ष पश्चात् 1608 ई० में जहांगीर ने महावतखाँ के नेतृत्व में 12,000 अश्वारोही, 500 अहदी, 2000बन्दूकची, 60 हाथी तथा छोटी तोपें राणा को परास्त करने के लिए भेजी। महाबतखाँ ने बड़ा पराक्रम दिखाया तथा राणा के देश पर आतंक फैलाकर उसे पर्वतमालाओं का आश्रय लेने के लिए विवश पर दिया। परन्तु वनमालाच्छादित मेवाड़ की नग्न श्रेणियों और उपत्यकाओं ने उसके हमले में अवरोध पैदा किया। 1609 ई० में उसे वापस बुलाकर अब्दुल्ला खाँ को आक्रमण का अध्यक्ष बनाकर भेजा गया। अब्दुल्लाखाँ ने मेवाड़ की पहाड़ियों पर आक्रमण किये परन्तु राणाा को बन्दी बनाने में असफल रहा। एक मुठभेड़ में उसने राजकुमार कर्ण को परास्त कर दिया परन्तु स्वयं उसने भी मुठभेड़ की उत्तरतम महत्त्वस्थली रणघुरा में राजपूतों के हाथ बुरी तरह मुंह की खायी। तदन्तर राजा बसु को उस स्थान पर नियुक्त किया गया परन्तु वह भी राणा पर प्रभुत्व न जमा सका। उसके बाद मिर्जा अजीज कोका को सेनापति बनाया गया। शीघ्र ही शाहजदा खुर्रम और अजीज कोका के मध्य गहरे मतभेद हो गये और अजीज कोका को वापस बुलाकर ग्वालियर के किले में कैद कर दिया गया (अप्रैल 1614 ई०) अब सेनापतित्व का पूरा भार खुर्रम पर ही

रह गया। उसने अनुभवपूर्व योग्यता के साथ युद्ध का संचालन किया। उसने देश को उजाड़ दिया और रसद के आने के मार्ग काट दिये। इससे राणा घोर संकट में फंस गया। वास्तव में, अमरसिंह की भी वही दशा हो गयी जो 1579-80 ई० उसके पिता की हो गयी थी। जहांगीर लिखता है" - विवश होकर उसने समर्पण करने तथा अभिवादन करने का संकल्प किया। उसने अपने चाचा शुभकरण तथा अपने एक अत्यधिक विश्वसनीय और बुद्धिमान सेवक हरदास झाला को भेजा और मेरे पुत्र से प्रार्थना की कि मेरे अपराध क्षमा कर दिये जाय और सम्राट की ओर से मुझे सुरक्षा का आश्वासन दिया जाय। तब मैं स्वयं आकर अभिवादन करूंगा और अपने पुत्र तथा युवराज को शाही दरबार में भेज दूंगा। जिससे अन्य राजाओं की भांति उसकी भी सिंहासन के समर्थकों में गिनती होने लगे। उसने यह भी विनती की कि वृद्धावस्था के कारण मुझे स्वयं दरबार में उपस्थित होने से क्षमा किया जाय। .... मेरे पुत्र ने यह सब बातें मुझे एक पत्र में लिख भेजी। राणाा अमरसिंह तथा उसके पूर्वजों को अपने पहाड़ों तथा देश की सुरक्षा पर भरोसा था, इसलिए उन्होने हिन्दुस्तान के किसी राजा से कभी भेंट नहीं की थी और न अधीनता स्वीकार की थी। किन्तु अब मेरे सौभाग्यपूर्ण शासनकाल में उसे बाध्य होकर समर्पण करना पड़ा।" राणा अमरसिंह शाहजदा खुर्रम से मिले और उसे एक बहुमूल्य लाल तथा अन्य वस्तुएं और सात हाथी नौ अश्व भेंट किये। खुर्रम बड़ी सहृदयता से उससे मिला तथा आंलिगन कर अपने साथ बैठाकर बहुमूल्य उपहारों द्वारा उसका सत्कार किया। राणा के जाने के पश्चात् राजकुमार कर्ण खुर्रम के समक्ष आया और उसका भी उसी प्रकार स्वागत और सत्कार किया गया। इस प्रकार राणा और सम्राट के मध्य 1615 ई० में संधि स्थापित हो गयी। संधि की शर्तें इस प्रकार थी राणा ने सम्राट जहांगीर की अध्यक्षता स्वीकार की। सम्राट ने राणा की चित्तौड़ समेव वह सारा प्रान्त लौटा दिया जो अकबर के समय से मुग़लों के आधिपत्य में आ गया था। चित्तौड़ के दूर्ग को सुरक्षित करना अथवा मरम्मत निषिद्ध घोषित किया गया। राणा को सम्राट के दरबार में उपस्थित होने के लिए बाध्य नहीं किया गया। यह निश्चित हुआ कि राणा का युवराज अपनी सेना के साथ मुग़ल सम्राट की सेवा में उपस्थित हो। तथा अन्य राजपूत सरदारों की भांति राजा को मुग़ल परिवारों से वैवाहिक संबंध स्थापति करने के लिए नहीं किया जाएगा।

जहांगीर ने दयालुतापूर्वक राणा के समर्पण को स्वीकार कर लिया। कुछ समय उपरान्त अमरसिंह ने घोर लज्जा के कारण अपने पुत्र कर्णसिंह के पक्ष में

सिंहासन त्याग दिया। इसके बाद औरंगजेब के समय तक मेवाड़ के राणा सदैव मुग़लों के भक्त बने रहे। अंत में उसकी (औरंगजेब की) कट्टर धर्मान्धता ने फिर एक बार राणा राजसिंह को विद्रोह का झण्डा खड़ा करने पर बाध्य किया। जहांगीर ने कर्णसिंह को दरबार में दायी ओर स्थान दिया और उसे अत्यंत उच्चकोटि की सम्मानसूचक पोशाक तथा एक रत्नजटित तलवार भेंट की। मार्च 1615 ई० में नौरोज के उत्सव पर उसे 5,000 जात ओर सवार का मनसब प्रदान किया गया, और इससे भी अधिक महत्त्व की बात यह थी कि अमरसिंह तथा कर्णसिंह की वीरता की सराहना के रूप में उनकी मुनष्याकार मूर्तियां तैयार करवायी गयी ओर आगरा में महलों के बाग में झरोखा के सामने रखवा दी गयी। जब कर्ण सिंह लौटकर अपने घर का जाने लगा तो उसे विदाई के रूप मे एक घोड़ा,एक विशेष हाथी एक सम्मानसूचक पोशाक, एक 50,000 रुपये के मूल्य का मोतियों का हार और एक 2,000 रुपये की कीमत की रत्नजटित कटार भेंट की गयी। जहांगीर ने हिसाब लगाया कि "जब से वह मेरी सेवा में उपस्थित हुआ तब से लकर विदाई के समय तक उसे जो कुछ प्राप्त हुआ उसका मूल्य 2,00,000 रुपये था। इसके अतिरिक्त 110 घोड़े तथा 5 हाथी और मिले और मेरे पुत्र खुर्रम ने उसे समय समय पर जो कुछ भेंट किया था वह अलग। "किन्तु स्वाधीनता और प्रतिष्ठा की जो हानि राणा को हुई उसका प्रतिफल राणा को फिर कभी नहीं मिल सका।

मेवाड़ और दिल्ली की राज्यसत्ताओं के इतिहास के यह संधि अपना विशेष स्थान रखती है। इसके पूर्व किसी सिसौदिया-वंशज ने किसी भी मुग़ल शासक की प्रत्यक्ष रूप से अधीनता स्वीकार न की थी। दो राज्यसत्ताओं के बीच की एक चिरस्थायी विद्वेष भावना का इस संधि ने अंत कर दिया। जहांगीर तथा उसके लड़के खुर्रम को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उन्होने अत्यंत उदार शर्तों के साथ एक ऐसे युद्ध को समाप्त कर दिया जो लगभग 75 वर्षों तक अकबर के पूर्वजों तथा सिसौदिया वंश के बीच होता रहा था। सम्राट ने मेवाड़ के प्रति उदार नीति अपनाकर और उसके आंतरिक मामलों के हस्तक्षेप न करके एक कुशल राजनीतिज्ञ होने का परिचय दिया परिणाम दोनों दल के लिए लाभदायक हुआ। मेवाड़ के राणा तब तक मुग़ल-साम्राज्य के प्रति राज्यभक्त बने रहे जब तक कि औरंगेजब की अविवेक पूर्ण नीति ने राणा राजसिंह को स्पष्ट विद्रोह के लिए विवश न कर दिया।

मारवाड़

जहांगीर का समकालीन मारवाड़ शासक सूरसिंह (1595-1619ई०) एवं गजसिंह (1619-1638ई) अपने पूर्ववती उदयसिंह की ही तरह केन्द्रीय सत्ता के प्रति निष्ठावान बने रहे। जहांगीर के शासनकाल में सूरसिंह मेवाड अभियान में खुर्रम के साथ गया था (1613)। उसकी सेवाओं से प्रसन्न होकर सूरसिंह को 5000 जात तथा 3000 सवार मनसब दिया गया था। सन् 1619 ई में सूरसिंह की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र गजसिंह का बुरहानुपर के शाही शिविर में राजतिलक किया गया। गजसिंह ने दक्षिण के अभियान में वीरता प्रदर्शित की और खुर्रम के विद्रोह में जहांगीर का साथ देकर अपने मनसब में वृद्धि करा ली।

आमेर

जहांगीर का समकालीन आमेर शासक भावसिंह (1614-1621ई०) था जो इतिहास प्रसिद्ध राजा मानसिंह का पुत्र था और उसकी मृत्यु के पश्चात् आमेर की गद्दी पर बैठा था। भावसिंह की निस्संतान मृत्यु के पश्चात् राजा मानसिंह के एक अन्य पुत्र जगतसिंह के पुत्र महासिंह का पुत्र जयसिंह को आमेर का शासक घोषित किया गया। जयसिंह जो मिर्जा राजा जयसिंह (1621-1667) ई० के नाम से प्रसिद्ध हुआ को तीन मुग़ल बादशाहों जहांगीर शाहजहां और औरंगजेब के साथ कार्य करने का सौभाग्य प्राप्त है। जहांगीर ने मात्र 12 वर्ष के जयसिंह को सन् 1623 ई० में अहमदनगर विजय का कठिन प्रभार सौंपा। जयसिंह ने अल्पायु में ही मलिक अम्बर जैसे धुरधंर सेनानायक को परास्त करके अपने साहस और योग्यता का परिचय दे दिया। सन् 1625 ई० में जयसिंह ने मात्र 14 वर्ष की उम्र में दलेलखाँ पठान को हराकर भरे दरबार में जहांगीर से सम्मानित होने का गौरव प्राप्त किया। सन् 1627 ई० को जयसिंह को 4000 की जात और 3000 का मनसब प्रदान किया गया।

बीकानेर

बीकानेर के शासक रायसिंह (1574-1612 ई०) ने खुसरों के विरुद्ध संघर्ष (1605ई) में जहांगीर के सहायता की थी। जहांगीर ने उसे दक्षिण में नियुक्त किया, वही रायसिंह की मृत्यु हुई उस समय वह 5000 और 4000 सवार का मनसबदार था। रायसिंह के पश्चात् दलपत सिंह (1612-1613ई०) ने एक वर्ष के शासन के बाद जहांगीर ने उसे हटाकर एवं मृत्युदण्ड देकर उसके छोटे भाई सूरसिंह (1613-1631ई०) को बीकानेर का शासक बनाया। खुर्रम के विद्रोह के समय सूरसिंह ने खुर्रम के विरुद्ध जहांगीर का साथ दिया था।

जैसलमेर

रावल भीम (1577-1613 ई०) की कन्या से जहांगीर ने राजकुमार रहते हुए विवाह किया था। रावल भीम ने अकबर ने समय सिंध मुल्तान व बलोचिस्तान विजय अभियान में अपना शौर्य प्रदर्शन किया था। रावल भीम के स्वर्गवास के समय उसकी रानी फुलकुंवर (जो बीकानेर की राजकुमारी थी) से 2 माह का पुत्र नाथूसिंह था जो राज्य का एकमात्र उत्तराधिकारी था। नाथूसिंह के अवयस्क होने के कारण उत्पन्न उत्तराधिकार विवाद में नाथूसिंह की मृत्यु हो गयी और रावल कल्याण (1613-1617ई०) को गद्दी पर बिठाया गया। जहांगीर ने रावल कल्याण के जैसलमेर शासक बनने पर उसके कृत्य के औचित्य की वैधानिकता सिद्ध करने हेतु शाही दरबार में बुलाया। रावल कल्याण के जहांगीर से मधुर संबंध बने रहें।

अन्य राजपूत राज्य

बूंदी के सुरजन हाड़ा का पोता और राव भोज (1585-1607 ई०) का पुत्र राव रतन (1607-1621 ई.) को जहांगीर ने पाँचहजारी मनसबदार बनाया था। उसने खुर्रम के विद्रोह में जहांगीर का साथ दिया था। बूंदी की ही एक शाखा कोटा को अकबर के समय मान्यता मिला थी। बूंदी के राव भोज ने अपने एक पुत्र हृदयनारायण को कोटा का शासक नियुक्त किया था। हृदयनारायण ने नूरजहां के आमंत्रण पर खुर्रम के विद्रोह के समय शाहजादा परवेज के साथ झूंसी नामक स्थान पर 1623 ई० युद्ध किया किन्तु युद्ध क्षेत्र से भाग जाने के कारण उससे कोटा छीनकर बूदी के रावरतन को सौंप दिया गया। माधोसिंह (1624-1648ई०) रावरतन का पुत्र था। जिसने खुर्रम को बुरहानपुर में हटाने में जो वीरता प्रदर्शित की उससे प्रसन्न होकर जहांगीर ने उसे 1624 ई० को कोटा का राजा बना दिया। इनके अतिरिक्त डूंगरपुर, बांसवाड़ा तथा देवलिया प्रतापगढ़ के राजपूत शासकों ने भी निस्वार्थ भाव से केन्द्रीय शक्ति के साथ सहयोग की नीति कायम रखी।

जहांगीर की नीति एवं उसके प्रभाव

थोड़े बहुत अपवादों को छोड़कर जहांगीर ने मूलत: अपने पिता अकबर की धार्मिक नीति की ही जारी रखा जो सहिष्णुता के उदार सिद्धांतो पर आधारित थी। जहांगीर ने अकबर से उत्तराधिकार में धार्मिक उदारता की नीति प्राप्त की और उसने उसी नीति का अनुसरण करते रहने का भरसक प्रयत्न किया। हम जानते है

कि अकबर ने जजिया और तीर्थयात्रा कर माफ कर दिए थे,इस्लाम से धर्मपरिवर्तन की छूट दे दी थी। धार्मिक मतवाद संबंधी उत्पीड़न को समाप्त कर दिया था और गैर इस्लामी धार्मिक उत्सवों और पर्वों को सार्वजनिक मनाने की छूट दी थी। अकबर के काल में हिन्दुओं और ईसाइयों ने बिना किसी प्रकार की रूकावट के अनेक सार्वजनिक पूजा स्थलों का निर्माण करवाया। उच्च सरकारी सेवाओं में नियुक्तियां बिना किसी धार्मिक भेदभाव के होने लगी। उसके दरबार में हिन्दुओं मुसलमानों और ईसाइयों को भी जगह मिली और वे अपनी अपनी योग्यतानुसार राज्य की सेवा में नियुक्त हुए। उसने किसी संकीर्ण धार्मिक - दार्शनिक मतवाद की परवाह किए बगैर साहित्य कला और विज्ञान को संरक्षण प्रदान किया। अनेक हिन्दू और प्राचीन फारसी रीतिरिवाजों को अपनाने से उसके दरवारी समारोहों की शोभा में वृद्धि हुई। हिन्दूं और मुस्लिम संप्रदायों में आपसी मेलजोल बढ़ाने के लिए उसने हिन्दू धार्मिक ग्रंथों का फारसी में अनुवाद करवाया। इन्हें देखकर जहांगीर की भी यह दृढ़ धारणा बन गई कि इस्लाम की सूफी परंपरा और हिन्दू दर्शन की वैदांतिक धारा में बहुत अधिक अंतर नहीं है। राज्य को ''धर्मनिरपेक्ष'' स्वरूप प्रदान करने का जो प्रयत्न अकबर ने किया, उसके बारे में हुई मुस्लिम धर्माचार्यों की प्रतिकूल प्रतिक्रिया ने ही कुछ हद तक जहांगीर को ''सहिष्णुता के मार्ग'' पर आगे बढ़ने की स्थिति पर पुनर्विचार करने और इस्लाम की सफलता में ही अधिक रूचि लेने को बाध्य कर दिया। जहांगीर के राजपद प्राप्ति पर कट्टर मुसलमानों के मन में इस आशा का अंकुर प्रस्फुटित हुआ कि इस्लाम का साम्राज्य में राजधर्म के स्थान पर पुनर्सस्थापन हो जाय और अकबर द्वारा हटाये जाने के पूर्व जो उनका गौरव था उसी को वे फिर प्राप्त कर लेगें। उन्होने नये सम्राट को अपने विचार बिन्दु में परिवर्तित करने का प्रयास किया जिससे वह साम्राज्य को लौकिकता का वह रूप प्रदान करे, जो उसका पिता लगभग पूर्णतया प्रदान कर चुका था। कट्टर मुसलमानों के इस नीति को कुछ प्रारंभिक सफलता अवश्य मिली। पर राज्याभिषेक के कुछ वर्ष उपरांत ही जहांगीर ने जिसका लालन- पालन जातीय पक्षपातरहित वातावरण में हुआ था, अपने आपकों उलेमाओं के हाथ की कठपुतली होने की मूर्खता का प्रत्यक्ष परिणाम देखा। जहांगीर जैसे उदार मस्तिष्क सम्राष्ट के लिए अपने पिता द्वारा प्रदर्शित सहिष्णुता के पथ का अवलम्बन करना असम्भव था। फिर भी उसने इस्लाम के भाग्य निर्माण में अपने पिता की अपेक्षा अधिक भाग लिया और कभी कभी उसने इस धर्म की मर्यादा को प्रतिष्ठित रखने की भी चेष्टा

की। अपने राजकाल के पन्द्रहवें वर्ष उसने रजौरी के हिन्दुओं को दण्डित करने का आदेश दिया क्योंकि वे मुसलमान कन्याओं से पाणिग्रहण संस्कार कर उन्हें हिन्दू धर्म की अनुयायिनी बना लेते थे। कभी-कभी हिन्दुओं के विरुद्ध युद्ध करते हुए उसने उनके मंदिरों को नष्ट भ्रष्ट करने का निर्देश भी दिया जैसा कि उसने मेवाड़ और कांगड़ा में किया। पुर्तगालियों से युद्ध करते समय उसने साम्राज्य के समस्त गिरजाघरों के दरवाजे बंद करवा दियें। कभी - कभी ऐसे अवसर उंगलियों पर गिने जा सकते है जब वह देवत्व का अपहारी हुआ। अजमेर में उसने बाराह मंदिर में बाराह अवतार को नष्ट करने का आदेश दिया और मूर्तियों को एक तालाब में फिकवा दिया। उसने ये कार्य क्षणिक मनोवृत्ति के वंशीभूत हो सम्पादित किये थे। इसके बावजूद उसने उत्पीड़ने के कार्य को सक्रिय बढावता नहीं दिया और न ही उसके पिता अकबर के समय में हिन्दुओं को जो नया रूतबा मिल गया था उसे बिगाड़ा। उपर्युक्त बातों के बारे में विद्वानों के विचार अलग - अलग है। अकबर की नीति से जहांगीर के तथाकथित पलायन की बात का संबंध बेनीप्रसाद ने उसक राज्यारोहण के संकट से जोड़ा है वे कहते है कि यह संकट इसलिए भी बढ़ गया था क्योकि उसने अपने पिता की सहिष्णुता की नीति को उलटने या उसमें परिवर्तन करने तथा दीने- इलाही को त्याग देने के मुस्लिम अमीरों के प्रयत्नों को बढ़ावा दिया था। इरफान हबीब ने तो सन् 1960 में ही इस मत का खंडन कर दिया था। अतहर अली ने भी हाल ही में (1990) यह मत व्यक्त किया है कि जहांगीर के धार्मिक विचार अकबर के विचारों से प्राय: मिलते जुलते ही है। अतहर अली के अनुसार जहांगीर के इस तरह का कोई वचन नहीं दिया था कि वह अपने राज्यारोहण के बाद अकबर की धार्मिक नीति में परिर्वतन कर देगा। वह तो अकबर की धार्मिक मान्यताओं को ही सार्वजनिक समर्थन देता रहा। हिन्दुओं के प्रति उसने अपने पिता की ही नीति का पालन किया।

अपने पिता की ही तरह जहांगीर ने भी गैर मुस्लिम संप्रदाय के लोगों को सार्वजनिक पूजा गृहों के निर्माण की छूट दी। उसके शासनकाल कें अंतिम वर्षों में अकेले वाराणसी में ही सत्तर से अधिक मंदिरों का निर्माण हुआ। उसने ईसाई पादरियों को सन् 1620 में अहमदाबाद में और हुगली में भी गिरजाघर खोलने की अनुमति दी। लाहौर और आगरा में ईसाइयों के लिए सार्वजनिक कब्रिस्तान बनाने दिए। अकबर की ही तरह उसने हिन्दू तीर्थयात्रियों को अपने अपने पवित्र तीर्थ स्थानों की बिना किसी बाधा के यात्राएं करने दी। कोर्याट के अनुमान लगाया है कि

जहांगीर के शासनकाल के केवल हरिद्वार में ही 40,0000 यात्री प्रतिवर्ष यात्रा के लिए आते थे। टोमस रो के अनुसार तो यह संख्या लगभग पाँच लाख थी। ऐसा लगता है कि अकबर के शासनकाल की ही तरह जहाँगीर के शासनकाल में भी हिन्दू जनता अपने धार्मिक कार्यो ओर रीति रिवाजों का सार्वजनिक रूप से पालन और प्रदर्शन करती थी। व्रत त्यौहारों के दिनों में सार्वजानिक छुट्टी होती थी और कुछ स्थानों में तो उन दिनों खाने पीने की वस्तुओं की खरीद बिक्री की भी मनाही थी। ईसाइयों को धर्मातरण करवाने की जो छूट मिली हुई थी उसे भी उसने वापस नहीं लिया। सभी गैर कैथोलिक लेखक इस बार में एकमत है कि जिन लोगों ने ईसाई धर्म स्वीकार किया उनमें से अधिकांश आर्थिक कारणों से उसके प्रति आकर्षित हुए और जब उन्होने यह महसूस किया कि उन्हे इससे लाभ मिलना बंद हो गया है तो उन्होने उस धर्म को पुन: त्याग दिया (टोसम रो)। विलियम फिंच के अनुसार धर्मातरण का सबसे अधिक सनसनीखेज उदाहरण तो दानियाल के बेटों और जहांगीर के पोते का सार्वजनिक बपतिस्मा था जो कि सन् 1610 में संपन्न हुआ था। इस धर्मातरण का उद्देश्य कुछ भी रहा हो किंतु इससे यह तो साबित हो ही गया कि यह एक सनकपन का मामला था क्योंकि सन् 1611 में उन राजकुमारों ने ईसाई धर्म का त्याग कर पुन: इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। जहांगीर ने न केवल ईसाइयत के प्रति सहिष्णुता बरती वरन उसने उसके रख-रखाव में भी मद्द की। ईसाई पादरियों को प्रतिदिन के हिसाब से तीन रू से लेकर सात रुपये तक मिलते थे और विशेष धार्मिक अवसरों पर वह उन्हें अधिक धन भी देता रहता था।

सभी धर्मों के प्रति समान रूप से उदार और सहिष्णु होते हुए भी जहांगीर समय समय पर मुस्लिम नास्तिकों के प्रति क्रूरतापूर्ण व्यवहार करता था। उसने लाहौर के शेख रहीम, जो एक धार्मिक सम्प्रदाय का नेता था, को चुनार के दुर्ग में बन्दी कर दिया। काजी नूरूल्ला का केवल इस हेतु प्राणदण्ड दिया गया कि वह एक नामलब्ध शिया लेखक था। शेखअहमद सर हिन्दी को ग्वालियर के कोट में बंदी कर दिया गया पर कुछ काल उपरांत उसे बंधनमुक्त कर कुछ उपहारों सहित सरहिन्द वापस भेज दिया गया। जहांगीर और सिखों के संबंध को लेकर अनेक प्रकार की विवादास्पद और कटु बाते कही गई है सिंखों के तत्कालीन धर्मगुरू अर्जुनदेव से जहांगीर नाराज हो गया। ऐसा माना जाता है कि कुछ मुसलमानों ने इस्लाम धर्म को छोड़कर उसे अपना धर्मगुरू स्वीकार कर लिया। जहांगीर का कहना था कि ऐसी स्थिति में उसके सामने दो ही रास्ते थे या तो वह बलपूर्वक गुरू

को मुसलमान बना लेता या फिर गुरू की धार्मिक दूकानदारी को बंद करवा देता। इन दोंनो विकल्पों पर विचार कर ही रहा था कि भाग्य से उसे एक बहाना हाथ लग गया जिसने गुत्थी सुलझा दी। जब खुसरों ने बगावत कर दी तो वह गुरू से मिला। गुरू ने शायद बिना आगा पीछा सोचे ही उसे इसे काम में आर्शीवाद -सहयोग प्रदान किया। राजद्रोह के काम में समर्थन देने के लिए गुरू अर्जुनदेव को मौत की सजा सुनाई गई। गुरू को जेल से छुड़वाने का हर प्रयत्न विफल हुआ और उनकी कारागार में ही मृत्यु हो गई। इस बारे में श्रीराम शर्मा का मत है कि गुरू को सजा देने के पीछे जहांगीर का कोई धार्मिक उद्देश्य नहीं था। दविस्ताने मजाहिबे के अनुसार कारागार की सजा का कारण गुरू अर्जुनदेव पर लगाए गए आर्थिक जुर्माने की उनके बेटे हरगोविंद द्वारा भरवाई न करना था। सम्राट का जैनियों से संबंध भी सिक्खों के सदृश असंतोषप्रद था। मानसिंह नामक जैनियो के एक मार्गदर्शक ने खुसरों के राजविद्रोह के समय यह भविष्यवाणी की थी कि दो वर्ष के अंदर जहांगीर के शासन का अंत हो जाएगा। उसके इस कार्य से जहाँगीर का नाराज होना स्वाभाविक था लेकिन मानसिंह बीकानेर नरेश की छत्रछाया में रहता था इसलिए जहाँगीर उसका बाल भी बांका न कर सका। जब अपने राज्यकाल के बारहवें वर्ष में वह गुजरात गया तो उसने जैनियों पर मंदिर निर्माण करने और उन्हें उपद्रव स्थान बनाने का अभियोग लगाया। अतएव उसने उन्हें साम्राज्य से निर्वासित करने की घोषणा करवा दी। फलस्वरूप अधिकांश जैनियों को गुजरात का परित्याग करना पड़ा। डाक्टर बेनीप्रसाद का कथन है कि कुछ काल उपरांत यह आज्ञा वापस ले ली गयी। पर ऐसे कथन की पुष्टि के लिए हमें कोई तत्कालीन प्रमाण नहीं मिलता। जैनियों को पीड़ित करने का कारण आंशिक रूप में धार्मिक और आंशिक रूप में राजनीतिक था।

'गुरैरो' हमे बताता है कि अपनी गद्दीनशीनी के बाद जहांगीर ने मुस्लिम मेले और त्यौहार मनाए। सातवे साल यानी 1612 में उसने पहली बार रक्षाबंधन का त्यौहार मनाया और अपनी कलाई पर राखी बंधवाई। ग्यारहवे वर्ष अर्थात् 1616 में शिवरात्रि के दिन उसने योगियों से भेंट की। जहाँगीर दशहरा भी मनाता था और उस दिन वह फौज और हाथियों का निरीक्षण करता था। दीपावली के दिन उसने सामने जुआ खेलने की इजाजत दे रखी थी। ईसाईयों को सार्वजनिक रूप से ईस्टर क्रिमसस (बड़ा दिन) और अन्य त्यौहार मनाने की छूट थी। केवल जहांगीर ही हिन्दू त्यौहारों में भाग नहीं लेता था। अनेक मुस्लिम औरतें और मर्द भी इनमें बढ़

चढ़कर हिस्सा लेते थे। अपने पिता की ही तरह जहांगीर को भी अन्य धर्मों के अनुयायियो के साथ धार्मिक वाद विवाद में अति आनंद प्राप्त होता था। वह हिन्दुओं के प्रकाण्ड पण्डितों, ईसाई पादरियों और कभी-कभी मुसलमान उलेमाओं को आंमत्रित करके उनके सम्भाषण सुना करता था। वह वैष्णव धर्म प्रवर्तक जदरूप की संगति का सदैव अभिलाषित रहता था और उसने उज्जैन और मथुरा में अनेक वाद - विवादों में भाग लिया जिनके परिणामस्वरूप उसे यह विश्वास हो गया कि हिन्दु वेदान्त और मुस्लिम सुफी एक ही धर्म के दो पार्श्व है। उसने लाहौर के मुसलमान योगी मियां मीर से भी वार्तालाप किया। कभी कभी वह अपने पिता के सिद्धांतों का अनुकरण करके चेले भी बनाता था। पर धार्मिक विषयों में उसकी तल्लीनता इतनी न थी जितनी कि अकबर महान् की थी।

निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि सामान्य रूप से जहांगीर ने प्रत्येक धर्म के प्रति सहिष्णुता की नीति का अनुसरण किया। जो मुस्लिम नहीं थे उन्हें पूजा स्थल निर्माण की राजाज्ञा थी और उसने हिन्दुओं को बिना कोई प्रतिबंध लगाये तीर्थ स्थानों की यात्रा करने की अनुमति दे दी और न उसने उन पर कोई तीर्थयात्रा कर ही लगाया। गिरजाघरों में उपासना राज्य की ओर से की जाती थी और ईसाईयों पादरियों को भत्ता राजकोष से दिया जाता था। उसने हिन्दुओं को अपने त्यौहार सार्वजनिक रूप में मनाने के लिए प्रतिबंधमुक्त कर दिया था और स्वयं बसंत पंचमी, रक्षाबंधन, विजयादशमी आदि त्यौहारों में सम्मिलित होकर पूर्ण योगदान देता था। शिवरात्रि की रात को सुप्रसिद्ध योगियों से साक्षात्कार करता था। ईसाई लोग ईस्टर बड़ा दिन तथा अपने अन्य त्यौहारों को सार्वजनिक रूप में मना सकते थे। अपने पिता अकबर की नीति की पूर्णरूपेण न सही, लेकिन अधिकांशत: पालन करके जहांगीर ने अपने विरासत में प्राप्त साम्राज्य को अक्ष्क्षुण रखा। उसने मुग़लो और मेवाड़ के बीच चली आ रही 75 वर्षों की दुश्मनी को समाप्त करके एक नए अध्याय की रचना की। मुग़ल मेवाड़ के मध्य 1615 ई की संधि का इतिहास में एक अलग महत्त्व रहा है। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय होगा कि जहाँ एक ओर जहागीर और उसके पुत्र खुर्रम (शाहजहां) ने अपने परिपक्व मस्तिष्क का परिचय दिया वही दूसरी ओर राणा अमरसिंह ने भी जमीनी हकीकत को ठीक ठीक समझा और अपनी मर्यादा को बनाये रखते हुए शालीनता व सम्मान के साथ संधि की। इस संधि ने दोनों पक्षों को लाभ पहुँचाया। अकबर की ही तरह जहांगीर ने भी राजपूतों के प्रति उदारता और सांमजस्य की व्यवहार रखा। लेकिन उसने

उच्च पदों पर अकबर की तरह हिन्दुओं की अधिक संख्या में नियुक्तियाँ नहीं की। उसके कार्यकाल में अकबर के शासनकाल की तुलना में उच्च पदों पर राजपूतों की नियुक्तियां घट गई। जहाँ अकबर के शासनकाल में एक समय 16 सूबों में से 6 सुबों में हिन्दू सूबेदार हुआ करते थे जहांगीर के शासन में इनकी संख्या घटकर तीन रह गई। फिर भी जहांगीर ने अकबर की नीति में कोई विशिष्ट परिर्वतन नहीं किया और प्रशासन की धार्मिक सामंजस्य की अकबरी नीति थोड़े बहुत अपवादों के साथ चलती रही।

◆◆◆

शाहजहां एवं राजपूत

सुलह-ए-कुल की नीति के प्रणेता महान् अकबर के पौत्र शाहजहाँ के शासन काल में मुग़ल-राजपूत सहयोग के आधार कमजोर हुए थे। अध्ययन के इस भाग में शाहजहाँ के समकालीन राजपूत शासकों का वर्णन किया गया है।

शाहजहाँ के सहयोगी शासकों का वर्णन जानने के पूर्व यह आवश्यक है कि शाहजहाँ के शासन-काल का संक्षिप्त विवरण जाना जाए। यह निम्नांकित है -

शाहजहां उर्फ खुर्रम का जन्म 5 जनवरी सन् 1592 ई को लाहौर में हुआ था। उसकी मां मारवाड़ के राजपूत नरेश उदयसिंह उर्फ मोटा राजा की पुत्री जगत गोसाई (जोधाबाई अथवा मानमति) थी। अकबर ने शाहजहां का प्रारंभिक नाम खुर्रम अर्थात् आनंददायक रखा। नामकरण के पश्चात् अकबर की एक निः संतान स्त्री रूकिया सुल्तान बेगम ने खुर्रम का पालन पोषण किया। अनेक प्रतिभाशाली गुणों से सम्पन्न खुर्रम की शिक्षा दीक्षा की प्रबंध स्वयं अकबर ने अपनी देखरेख में किया। खुर्रम को फारसी, तुर्की हिन्दी साहित्य के अतिरिक्त इतिहास राजनीति धर्मशास्त्र और भूगोल इत्यादि की शिक्षा प्राप्त थी। यद्यपि खुर्रम ने तुर्की भाषा और साहित्य में अधिक रूचि प्रदर्शित नहीं की तथापि उसने फारसी और हिन्दी में निपुर्णता हासिल की थी। उस काल में शाहजादों को सैनिक शिक्षा अनिवार्य रूप से लेनी होती थी इसलिए खुर्रम ने भाषा साहित्य व ज्ञान विज्ञान की अपेक्षा धनुषवाण तलवार व अश्वारोहरण की तरफ विशेष ध्यान दिया। गहरी अभिरूचि होने के कारण शीघ्र ही खुर्रम एक योग्य सैनिक बन गया तथा युद्धकला सैन्यसंचालन एवं अस्त्रशस्त्र के प्रयोग में उसने अद्‌भुत निपुणता हासिल कर ली।

खुर्रम अकबर और जहांगीर दोनों ही को समान रूप से प्यारा था। जहांगीर ने राज्यकाल के प्रारंभिक दिनों में ही खुर्रम को उत्तराधिकारी माना जाने लगा। 21 मार्च 1607 में खुर्रम को 8000 जात और 5000 सवारों का मनसब के साथ पताका और नगाड़े दिए गए। इस घटना के लगभग एक सप्ताह बाद उसकी सगाई नूरजहां के भाई आसफ खाँ की पुत्री अर्जुमद बानों (जो बाद में मुमताज महल कहलाई) से की गई। नवम्बर सन् 1607 में ही जहांगीर के काबुल से वापस लौटने पर खुर्रम को उज्जैन की एक जागीर और हिसार फिरोजा की सरकार दी गई। इसके अतिरिक्त उसे लाल तम्बू लगाने की भी आज्ञा दी गई। पर सबसे बड़ा सम्मान जो उसे मिला

वह था मुहर उजक अर्थात् शाही मुहर का संरक्षण। आज्ञा यह निकाली गई कि सारे सरकारी फरमानों और परवानों पर वह मुहर अंकित हो सन् 1609 ई० में ईरान के सफवी वंश की राजकुमारी तथा मिर्जा मुजफ्फर हुसैन सफवी की पुत्री से खुरम की सगाई कर दी गई। सन् 1610 में यह विवाह सम्पन्न हुआ और दो वर्ष बाद सन् 1612 में अर्जुमंद बानों से उसका विवाह सम्पन्न हुआ। इस बीच सन् 1611 ई में उसे 10000 जात और 5000 सवार का मनसब दार बनाया गया। नूरजहां के बड़े भाई आसफ खाँ की पुत्री अर्जुमंद बानों से विवाह संबंध होने पर खुर्रम नूरजहां एतमादुद्दौला (नूरजहां का पिता और जहांगीर का विश्वसनीय मंत्री) तथा आसफखाँ के मध्य घनिष्ठ संबंधों का सूत्रपात हुआ। इस नूरजहां गुट ने दस वर्षों से अधिक समय तक राज्य किया। इस अवधि में खुर्रम को भावी बादशाह माना जाने लगा और उसका मनसब बढ़ाकर 30000 जात और 20000 सवार का कर दिया गया। खुर्रम की तीसरी पत्नि बैराम खाँ के पुत्र अब्दुलरहीम खानखाना की पौत्री थी। उसका पिता शाहनवाज खाँ ने खुर्रम के दक्षिण में रहे जाने की अवधि में वही 23 अगस्त सन् 1617 को यह विवाह सम्पन्न कराया।

बनारसी प्रसाद सक्सेना के अनुसार खुर्रम के सभी उल्लेखनीय पुत्र-पुत्रियों का जन्म मुमताज महल या अर्जुमंद बानों के गर्भ से हुआ। मुमताज महल ने कुल चौदह संतानों को जन्म दिया। जिनमें से सात जीवित रही। जहाँ आरा बेगम अजमेर 23 मार्च सन् 1614, दाराशिकोह अजमेर 20 मार्च सन् 1615, शाहशुजा अजमेर 23 जून सन् 1616, रोशन आरा बेगम बुरहानपुर 24 अगस्त सन् 1617, औरंगेजब दौहद 24 अक्टूबर सन् 1618, मुरारबख्श, रोहतास 29 अगस्त सन् 1624 तथा अंतिम गौहर आरा बेगम बुरहानपुर 7 जून सन् 1631 में जन्मी थी। इससे स्पष्ट है प्रथम तीन संताने अजमेर में तब पैदा हुई जब खुर्रम मेवाड़ के खिलाफ अभियान में संलग्न था। दो संताने बुरहानपुर में पैदा हुई। पहली तब जब वह शाहजादे की हैसियत से मलिक अम्बर को परास्त करने दक्षिण गया था और दूसरी तब, जब वह बादशाह की हैसियत से दक्षिण गया था। औरंगजेब का जन्म दौहद में हुआ जब जहांगीर गुजरात जा रहा था।

जहांगीर के शासन में खुर्रम (शाहजहाँ) की सफलताएं

जहांगीर के राज्यकाल में खुर्रम को अनेक प्रमुख युद्धों का संचालन करना पड़ा। डॉ० बनारसी प्रसाद सक्सेना लिखते है कि "जहांगीर के राज्यकाल का इतिहास तो वस्तुत: राजकुमार खुर्रम की शानदार उपलब्धियों का ही विवरण है।

उसके तुफानी उत्थान ने उसके समसामयिकों के हृदयों में न केवल गुदगुदी ही पैदा कर दी बल्कि उनको चकित भी कर दिया। .. उसका आकर्षक व्यवहार, उसकी दिनचर्या के अविचल नियम, उसका साहसपूर्ण शौर्य ये समस्त गुण उसकी भावी सफलता के द्योतक थे। भाग्य के विपर्यास ने उसे अपने भाईयों एव प्रतिद्वन्द्वियों से ऊपर उठा दिया था तथा उनकी (प्रतिद्वन्दियों की) असफलतओं ने उसके (शाहजहां के) वैभव मे चार चांद लगा दिए। उसका सुअवसर की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी वे तो स्वयं ही उसके समक्ष प्रस्तुत हो जाते। ''

जहांगीर के शासनकाल में खुर्रम को पहली महान विजय सन् 1614 ई० में मेवाड़ के विरुद्ध प्राप्त हुई। इसके पूर्व मेवाड़ में मुग़लों के बड़े बड़े सेनानायक असफल हो चुके थे। खुर्रम के साथ जोधपुर, किशनगढ़ एवं बूंदी के नरेश भी थे तथा गुजरात के बड़े बड़े मनसबदार भी थे। खुर्रम को मेवाड़ में असाधारण सफलता प्राप्त हुई और राणा अमरसिंह ने मुग़लों के विरुद्ध आत्मसमर्पण कर दिया। मेवाड़ विजय ने खुर्रम की ख्याति और यश में पर्याप्त वृद्धि की और उसे बीस हजार जात और दस हजार सवार का मनसब दिया गया।

खुर्रम को जीवन की दूसरी महान सफलता दक्षिण में मिली। सन् 1616–17 में जहांगीर ने राजकुमार परवेज के स्थान पर खुर्रम को दक्षिण के युद्ध का संचालन भार सौपा। इसी समय उसे शाह की उपाधि भी मिली जो कभी किसी मुग़ल राजकुमार को इसके पहले नहीं दी गई थी। खुर्रम ने अपनी योग्यता चातुर्य और कूटनीति के बल पर मलिक अम्बर को विवश कर दिया और मुग़लों को न केवल बालाघाट का प्रदेश वापस मिला बल्कि अहमदनगर एवं अन्य दुर्ग तथा 50 लाख रुपये नगद मिले। बनारसी प्रसाद सक्सेना लिखते है कि – '' इस प्रकार शाह खुर्रम को शांतिपूर्ण विजय प्राप्त हुई। इतने काल में जो काम अस्त्र शस्त्र द्वारा न बन पाया था वह नीति द्वारा दम के दम में पूरा हो गया।.... मेवाड़ में उसने दक्ष सेनापति के गुण प्रदर्शित किए, दक्षिण में वह चतुर नीतिज्ञ सिद्ध हो गया। ''जहांगीर इस समाचार से अत्यंत हर्षित हुआ। उसने माण्डू के दरबार में उठकर खुर्रम का स्वागत किया और सिंहासन के निकट ही शाह खुर्रम के लिए स्थान नियत किया। खुर्रम को 30000 जात और 20000 सवार का अभूतपूर्व मनसब तथा शाहजहाँ की उपाधि दी। दक्षिण विजय के उपलक्ष में गुजरात का सूबा शाहजहां को दिया गया। इसी वर्ष खुर्रम ने कांगड़ा के विरुद्ध ओजस्वी विजय प्राप्त की। इन तीनों विजयों ने

खुर्रम की प्रतिष्ठा में अभूतपूर्व वृद्धि की और वह जहांगीर का प्रिय बन गया। लेकिन असलियत यह थी कि मेवाड़ गत 75 वर्षों से और दक्षिण गत 25 वर्षों से और कांगड़ा 5 वर्षो से निरंतर युद्ध रत थे और स्वयं में जर्जर हो चुके थे। इसके अतिरिक्त ''मेवाड़ में लगभग सारा कार्य खाने आजम पूरा कर चुका था और दक्षिण मे खानेखानां की शतरंजी चाले रंग ला रही थी। किन्तु खाने आजम और खाने खानां दोनो भाग्यहीन थे। पेड़ तो उन्होने लगाए और फल खाये शाह खुर्रम ने। '' खुर्रम की सफलतओं में उसके बड़े भाई परवेज का दुर्भाग्य भी था। मेवाड़ और दक्षिण दोनों ही जगहों की कमान पहले परवेज के हाथ में थी और परवेज को सफलता मिलती इसके पहले ही परवेज को हटाकर खुर्रम को भेज दिया गया। ''मेवाड़ क्षेत्र में अपने जौहर दिखाने के पूर्व ही वह (परवेज) वापस बुला लिया गया। और दक्षिण में उसे (परवेज को) कार्य संचालन का मौका ही नहीं दिया गया। परवेज का दुर्भाग्य ही खुर्रम का सौभाग्य बन गया।''

इधर दक्षिण से शाहजहां के पीठ फेरते ही मलिक अम्बर पुन: सक्रिय हो गया और उसने अपने खोये हुए प्रदेशों को पुन: अधिकृत करना शुरू कर दिया। सन् 1612 ई० में खुर्रम (शाहजहां) को पुन: दक्षिण भेजा गया। इस बार भी खुर्रम ने आत्मिक साहस, शौर्य और कूटनीति का परिचय देते हुए दक्षिण में मुग़लों की शक्ति को पुन: स्थापित किया। खुर्रम ने शक्ति और नीति का समन्वय करके मलिक अम्बर से संधि की और दक्षिण मे पुन: शांति स्थापित हुई। इससे उसका भाग्य प्रखर हुआ और उसकी और अधिक प्रसिद्धी हुई। लेकिन ''उसकी सफलता ही उसके पराभव का कारण बन गई। नूरजहां की ईर्ष्या ने उसे (खुर्रम) अविवेक का मार्ग अपनाने पर बाध्य किया।'' वस्तुत: नूरजहां अपने दामाद शहरयार को उत्तराधिकारी घोषित करना चाहती थीं अत: खुर्रम की कीर्ति में उसे अपने लक्ष्य की असफलता का आभास होने लगा, इसलिए वह उससे द्वेष करने लगी। जब सन् 1622 ई० में कंधार पर ईरान (फारस) की सेना ने हमला किया तो जहांगीर ने उसे कंधार कूच करने का हुक्म दिया। लेकिन खुर्रम ने इस का उल्लंघन किया और जहांगीर के खिलाफ विद्रोह कर दिया।''उसका विद्रोह परिणाम था दो सबल आकांक्षाओं के टकराव का जिसके द्वारा एक पक्ष अपने प्रतिद्वन्द्वी को पराजित करना चाहता था।''जहांगीर के विरुद्ध विद्रोह ने शाहजहां की स्थिति को अत्यधिक कमजोर कर दिया। ''यह शाहजहां की एक महान भूल भी थी क्योंकि अपने

दुस्साहस के कारण वह अपने शत्रुओं के हाथ की कठपुतली बन गया। यद्यपि उसने अपने अनुचित कार्यों को क्षमा याचना के आवरण से ढकना चाहा किन्तु अपने दुराचरण के फलस्वरूप उसे उस अद्वितीय स्थिति से हाथ धोना पड़ा जो उसने साम्राज्य में प्राप्त कर ली थी।''यद्यपि विद्रोही शाहजहां को घोर विपत्तियों का सामना करना पड़ा लेकिन अंत में भाग्य ने उसी का साथ दिया। 29 अक्टूबर सन् 1627 ई० में काश्मीर से लौटते समय राजौरी में बीमार जहांगीर की मृत्यु हो गई। शाहजहां उस समय सूदूर दख्खिन में नासिक में निराशाजनक जीवन व्यतीत कर रहा था। लेकिन शीघ्र ही उसने अपने योग्यता के बल पर सिहांसन पर अधिकार जमा लिया।

जहांगीर की मृत्यु के पश्चात् नूरजहां ने अपनी शक्ति को बनाये रखने का अंतिम प्रयास किया। बादशाहनामा का रचयिता अब्दुल हमीद लाहौरी लिखता है- ''नूरमहल (नूरजहां) बड़े संघर्ष और झगड़ों का कारण थी। स्वर्गीय बादशाह के राज्यकाल में शासन की बागडोर उसी के हाथ में थी। अब भी इसी से चिपके रहना चाहती था। उसने नाशुदानी (अर्थात् निकम्मा, यह शब्द जहांगीर के छोटे पुत्र और नूरजहां के दामाद शहरयार के लिए प्रयुक्त होता था।) को लिखकर सलाह दी कि जितनी सेना वह खड़ी कर सकता हो करे और फिर शीघ्र उसके पास आ जाए।'' लेकिन नूरजहां का भाई आसफखाँ (जो शाहजहां का ससुर भी था) सचेत था, उसने प्रमुख सभासदों को अपने पक्ष में करके खुसरों के पुत्र दावरबख्श को बादशाह घोषित किया और साथ ही दक्षिण में शाहजहां को खबर की कि वह शीघ्रताशीघ्र दिल्ली पहुँचे। इकबाल नामा-ए- जहांगीरी का लेखक मुतामद खाँ ने इन घटनाओं को वर्णन विस्तार से किया है - ''नूरजहां बेगम ने अपने भाई (आसफखाँ) को मिलने के लिए कई लोगों को उसके पास भेजा परन्तु उसने कई बहाने बनाए और नहीं गया। अब आसफ खाँ ने बनारसी नामक एक तेज हरकारे को जहांगीर की मृत्यु की खबर देने के लिए शाहजहां के पास भेजा। जल्दी इतनी थी कि पत्र लिखने का भी समय नहीं था। इसलिए विश्वास दिलाने के लिए उसने अपने हाथ की अगूंठी भेजी। दूसरे दिन शाही अनुचार भिम्बार आए वहाँ पर जनाजा तैयार किया गया और हिफाजत के साथ लाश को लाहौर भेज दिया गया और वहाँ इसको उस बाग में दफनाया गया जो नूरजहां ने बनवाया था। ''मुतामद खाँ आगे लिखता है ''जब रियासत के अमीरों और हाकिमों को यह मालूम हुआ कि आसफ खाँ दावर बख्श को बादशाह घोषित करने की युक्ति इसलिए रच रहा है कि शाहजहां

का राज्यारोहण सुरक्षित हो जाय तो उन्होने आसफखाँ की सहायता की और जो उसने कहा वही किया। वे जानते थे कि दावर बख्त तो केवल बलि का बकरा है। भिम्बार के निकट दावर बख्त के नाम का खुतबा पढ़ा गया और सब लोग लाहौर रवाना हुए। लेकिन नूरजहां अपने दामाद शहरयार को ही बादशाह बनाना चाहती थी। उसके और उसकी लड़की (अपनी पत्नि) की बातों में आकर शहरयार ने लाहौर मे अपने आप को बादशाह घोषित किया। मुतामद खाँ लिखता है कि "उसके (पत्नि) कहने पर उसने (शहरयार ने) शाही उपाधि धारण कर ली और शाही कोष छीन लिया और लाहौर में जो कुछ भी रियासत की चीजे थी सब हथिया ली।" इधर आसफ खाँ ने दावरबख्श को आगे करके लाहौर पर हमला बोला और शीघ्रता से उस पर कब्जा जमा लिया। शहरयार पकड़ा गया और कैद किया गया। बाद में शाहजहां की आज्ञा से दावरबख्श, उसका भाई गर्शस, शहरयार, स्वर्गीय दानियाल के पुत्र तहमुरास और होइंग सभी का वध कर दिया गया।

शाहजहां का शासनकाल और उसकी विजयें

मुतामद खाँ के अनुसार - "जुमाद-उल- अव्वल 1037 हिजरी को जहांगीर के शासनकाल के पच्चीसवे वर्ष को की 10 बहमन को सब लोगों की सहमति से शाहजहां को लाहौर मे बादशाह घोषित किया गया और उसके नाम का खुतबा पढ़ा गया।" बृहस्पतिवार 28 जनवरी सन् 1628 को शाहजहां आगरा के नजदीक पहुँचा। सोमवार 4 फरवरी सन् 1628 ई० को ज्योतिषियों द्वारा निश्चित समय पर नए बादशाह का राजतिलक समारोह मनाया गया। उसके नाम का पुनः खुतबा पढ़ा गया तथा उसने अबुल मुजफ्फर शिहाबुद्दीन मुहम्मद साहेब किराने सानी की उच्चतम उपाधि ग्रहण की।"

शाहजहां के शासन काल में तीन महत्त्वपूर्ण विद्रोह हुए। ये तीनों ही उस मनोवृत्ति के पुनर्जागरण के चिन्ह है जो भारत में तुर्की साम्राज्य की दीर्घकालीन अवधि में सामान्य रूप से उमड़ती हुई दृष्टिगोचर होती है। प्रत्येक विद्रोह का नेता मरहुम बादशाह जहांगीर का कृपापात्र ही था। यह कोई संयोग न था इसमें गहन तथ्य है वस्तुतः अकबर ने वंशानुगत प्रथा का एक हद तक उन्मूलन करके व्यक्तिगत योग्यता पर बल दिया था। अकबर ने केन्द्रीय सत्ता और सामंत के पारस्परिक संबंधों को एक नई परिभाषा दी थी। जिससे अमीर अधिक आज्ञाकारी और बादशाह के प्रति श्रद्धा और भक्ति को अपना कर्तव्य मानने लगे। अकबर के

काल में अमीरों को अपना कर्तव्यपालन करना था और बादशाह उनकी योग्यतानुसार उन्हें पद और सम्मान प्रदान करता था। स्वेच्छाचारी निरंकुशता के इस सारगर्भित सिद्धांत को जहांगीर ने न केवल शिथिल कर दिया बल्कि धीरे-धीरे उसका परित्याग कर दिया। मातृभूमि में ही जागीर देने की प्रथा या पक्षपात ने या दोनों के सम्मिश्रण ने एक ऐसी मनोवृत्ति का जन्म दिया जिसने तत्कालिक तौर पर तो साम्राज्य के प्रति घातक प्रभाव नहीं दिखाया लेकिन इसी के प्रभाव से औरंगजेब के बाद एक शक्तिशाली केन्द्रिय सत्ता के अभाव में साम्राज्य का विघटन ताश के महल की तरह भर भराकर हो गया।

शाहजहां के शासन काल का पहला विद्रोह खानजहां लोदी का हुआ। खानजहां लोदी एक प्रसिद्ध अफगान सरदार था जो अकबर के दरबारी दौलत खाँ लोदी का लड़का था। जहांगीर के शासनकाल में वह पाँचहजारी मनसबदार था साथ ही गुजरात और दक्षिण का सुबेंदार भी रह चुका था। वह जहांगीर और नूरजहां दोनों का प्रियपात्र था और वे उसके साथ न सिर्फ उदारता से व्यवहार करते बल्कि सम्मान भी करते थे। उसके खिलाफ कुछ अभियोग लगाये गये थे जिनमें उत्तराधिकार के संघर्ष के समय शाहजहां का साथ नहीं देंना, दक्षिण की सुबेदारी के समय हिसाब किताब में गबन, मालवा में अनुचित व्यवहार इत्यादि थे। इन सबसे डर कर खाने जहाँ 5 अक्टू 1629 ई० को आगरा से भाग गया। शाही सेना ने उसका निरंतर पीछा किया। खानेजहां धौलपूर बुदेलखंड, मालवा बघेलखंड इत्यादि होता हुआ अहमदनगर पहुँचा जहाँ के शासक ने उसका स्वागत किया और उसे सैन्य सहायता दी। स्थिति इतनी बिगड़ गई कि स्वयं शाहजहां को दक्षिण जाना पड़ा। खानजहां मालवा होते हुए पंजाब की ओर बढ़ा किन्तु रास्ते में ही सिरोज के पास विक्रमादित्य बुंदेला ने खानजहां के सहयोगी दरिया खाँ और अनेक साथियों को मार डाला। शीघ्र ही केन नदी के पास बांदा के सिहोदा नामक स्थान में माधोसिंह और उनके सिपाहियों ने खानजहां एवं उसके पुत्र अजीज के सिर काटकर मुग़ल दरबार भेज दिया। इस प्रकार पहला विद्रोह 16 माह में कुचल दिया गया।

शाहजहां के शासनकाल का दूसरा विद्रोह बुंदेलखण्ड में वीरसिंह बुंदेला के पुत्र जुझार सिंह बुंदेला द्वारा किया गया। इस विद्रोह का प्रारंभ सन् 1628 में हुआ जो बीच में रूक -रूक कर सन् 1635 तक चलता रहा। प्रारंभ में उसके शाहजहां से अच्छे संबंध थे। शाहजहां के राज्याभिषेक के समय वह आगरा दरबार में था और

सम्राट की सेवा भी की। इस बीच उसी अनुपस्थिति में उसका पुत्र विक्रमादित्य बुंदेला ओरछा का शासन चलाता था। जो अपने निर्दयतापूर्ण व्यवहार के कारण शीघ्र ही प्रजा में अलोकप्रिय हो गया। इधर आसफ खाँ ने अमीरों और अधिकारियों के हिसाब किताब की कड़ाई से जांच शुरू की। जुझार सिंह भयभीत होकर ओरछा लौट आया और विद्रोह का झण्डा गाड़ दिया। मुग़ल सेना के महावत खाँ अब्दुलाखाँ, खानेजहां और स्वयं शाहजहां ने मिलकर चारो और से घेरा डाल दिया। विवश जुझारसिंह ने आत्मसमर्पण किया। लेकिन यह स्थिति लम्बे समय तक न रही। शाहजहां की चेतावनी के बावजूद सन् 1634 में जुझारसिंह ने गोड़वाना के राजा भीम नारायण पर हमला बोला। शाहजहां ने इसे विद्रोह मानकर औरंगजेब को बुंदेलखंड भेजा। मुग़ल सेना ने निरंतर जुझारसिंह का पीछा किया। बादशाह नामा का लेखक अब्दुल हमीद लाहौरी लिखता है - "शाही सेना का आगमन सुनकर जुझार ने (चौरागढ़) दुर्ग की तोपें नष्ट कर दी। वहां की समस्त सम्पत्ति नष्ट कर दी और दुर्ग के अंदर भीमनारायण की बनायी हुई इमारतें नष्ट कर दी और फिर अपने परिवार और यथासंभव सम्पत्ति के साथ दक्षि की ओर रवाना हो गया।.... शाही सेना से पीछा शुरू किया....जब जुझार और विक्रमाजीत को पीछा करने वालों ने बहुत दबाया तो जिन स्त्रियों के घोड़े थक चुके थे और साथ नहीं जा सकती थी उनको उन्होने मार डाला और फिर पीछा करने वालो पर टूट पड़े .... यद्यपि वे प्राणपत्र से लड़े परन्तु हारकर उन्हें जंगल में भाग जाना पड़ा। तब समाचार मिला कि जुझार ने अपना धन और परिवार गोलकुण्डा की ओर भेज दिया है और उसका (जुझार का) विचार बाद में जाने का है। अब शाही सेना ने गोलकुण्डा की ओर कुच किया।.... पीछा ऐसी तेजी से किया गया कि विद्रोहियों को जौहर करने का समय नहीं मिला जो भारत की एक मूर्ख प्रणाली है निराश होकर उन्होने राजा नरसिंह देव की पटरानी को खंजर के दो वार से आहत कर दिया। फिर अन्य स्त्रियो और बच्चों को भी वे तलवार और खंजरों से समाप्त ही करने वाले थे कि शाही सेना आ गयी और जिसने उनमें से बहुतों का मार डाला। जुझार का पुत्र दुर्गवाहन और विक्रमाजीत का पुत्र दुर्जनशाल बंदी बना लिए गए। जुझाार सिंह के अन्य दो पुत्र उदबहान (उदयभानु) और सियामदावा (श्यामदेव) जो गोलकुण्डा की ओर भागे थे पकड़ लिए गये।.... उसी समय सूचना मिली कि जुझार और विक्रमाजीत को गोड़ लोगों ने मार डाला है.... खानदौरा उनका सिंर काट लाया जो दरबार भेज दिया गया।.... उसने (खानदौरा ने) जुझार की स्त्रियां दुर्गवाहन और

दुर्जनशाल को उपस्थित किया। सम्राट के आदेश से उन्हें मुसलमान बना कर एक का नाम इस्लाम कुली और दूसरे का नाम अली कुली रखा।.... रानी पार्वती बहुत आहत थी। इसलिए उसको छोड़ दिया और दूसरी स्त्रियों को मुग़ल हरम की सेवा में भेज दिया गया।.... जुझार का पुत्र उदयभानु और श्यामदेव जो गोलकुण्डा भाग गये थे। कुतुब-उल मुल्क ने पकड़कर निगरानी में सम्राट के पास भेज दिए। ... छोटे बच्चे के लिए आदेश हुआ कि उसे मुसलमान बना लिया जाय और विक्रमाजीत के पुत्र को फिरोज खाँ नाजिर के हवाले किया गया। उदयभानु और श्यामदेव बालिग थे। उनसे कहा गया कि इस्लाम और मृत्यु दोनों में से एक पंसद कर लो। उन्होने मृत्यु पंसद की तो उन्हें नरक में भेज दिया गया। '' इस तरह शाहजहां ने सन् 1635 तक बुंदेलखंड में विद्रोहो का दमन किया लेकिन इससे बुदेलों को स्वतंत्रता की भावना को कुचला नहीं जा सका। शीघ्र ही महोबा के चम्पतराय ने मुग़लों के विरुद्ध विद्रोह का नेतृत्व किया। यद्यपि 1642 ई० में वह मुग़लों के नियंत्रण में चला गया। लेकिन बाद में औरंगजेब के शासन में इसी चम्पतराय के पुत्र छत्रसाल ने मुग़ल सत्ता को भीषण चुनौती दी।

शाहजहां के शासन काल का तीसरा महत्त्वपूर्ण विद्रोह मऊ- नूरपूर के शासक जगतसिंह का सन् 1642 में हुआ। मऊपूनपुर का शासक राजा बसु भी जहांगीर का कृपा पात्र था। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र सूरजमल गद्दी पर बैठा जिसने बाद में शाही सत्ता के प्रति विश्वासघात किया। फलत: उसे हटाकर उसके भाई जगतसिंह को गददी पर बिठाया गया। जहांगीर के राज्यकाल के अंतिम चरण में उसे 3000 जात और 2000 सवार का मनसब प्राप्त था। जगतसिंह की अनुपस्थिति में उसका पुत्र राजरूप राज्य की देखभाल करता था। उसने कर नहीं चुकाया ओर जब सरकरी अधिकारियों ने कर की मांग की तो उसने ढिठाई प्रदर्शन किया। इस कार्य को विद्रोह माना गया और मुराद के नेतृत्व में शाही सेना भेजी गई। जगतसिंह ने थोड़ें संघर्ष के बाद आत्मसमर्पण कर दिया। शाहजहां ने न सिर्फ उसे क्षमा कर दिया। बल्कि उसकी जागीर भी उसे लौटा दी।

शाहजहां के काल मे पुर्तगाली विद्रोही (सन् 1632 ई) हुआ। पुर्तगाली बंगाल में हुगली के किनारे वर्षों से बसे हुए थे। शाही सरकार से उन्हें नमक के व्यापार का एकाधिकार भी प्राप्त था जिसके बदले में वे शाही खजाने में 10000 रू प्रति वर्ष जमा करते थे। इस बीच उन्होने अपनी शक्ति काफी बढ़ाली और व्यापार का विस्तार चीन मलुक्का और व्यापार का विस्तार चीन मलुक्का और मनीला तक

कर लिया। उन्होने जबरिया धर्म परिर्वतन समुद्री लुटमार सीमावर्ती मुस्लिम प्रदेशों में लुटमार एवं दास व्यापार शुरू कर दिया। बंगाल के सूबेदार कासिम खाँ ने पुर्तगालियों के ठिकाने पर जल एवं थल दोनों मार्गों से हमला करके पुर्तगालियों की ताकत को कुचल दिया।

शाहजहां ने सन् 1634 में लघुतिब्बत के शासक अब्दुल के खिलाफ फौज भेजी। अब्दुल ने शीर्घ ही मुग़लों की अधीनता स्वीकार कर ली किन्तु वह अधिक दिनों तक मुग़लों के अधीन नहीं रह सका। सन् 1637-38 में जफर खाँ के नेतृत्व में पुन: मुग़ल सेना ने अब्दुल पर विजय प्राप्त की और 10 लाख रुपये हर्जाना वसूला। शाहजहां असम को मुग़लसाम्राज्य में शामिल करना चाहता था। जिसके कारण सन् 1628 से 1639 ई० तक मुग़ल सेना और अहोम लोगों के मध्य संघर्ष चलता रहा। सन् 1638 ई में मालवा के भागीरथ भील 1644 ई० में गोड़वाना के मारवी गोड़ 1648 ई० में बिहार के छोटा नागपुर क्षेत्र में पलामू के चीरू जाति के शासक राजा प्रताप तथा उत्तर पश्चिम सीमा प्रांत की उदण्ड कबाइलियों को परास्त किया गया। इधर दक्षिण में मुग़लों के संघर्ष चलते रहे। जब शाहजहां स्वयं सन् 1636 में दक्षिण गया तब स्थिति में थोड़ा बदलाव आया। बीजापुर ने मुग़लों की अधीनता स्वीकार की और प्रतिवर्ष 20 लाख रुपये देना स्वीकार किया। गोलकुण्डा ने भी थोड़ी आनाकानी के बाद समर्पण कर दिया और 6 लाख रुपये वार्षिक कर देने पर सहमति दी।

एक शताब्दी से भी अधिक समय से कांधार हिन्दुस्तार के मुग़ल बादशाहों और फारस के शाह के बीच शत्रुता का कारण बना था। जहांगीर के शासन काल के अंतिम दिनों में सन् 1622 ई में कांधार मुग़लों के हाथ से निकल गया था। सन् 1638 ई में कोंधार के गर्वनर अली मरदान खाँ ने फारस के शाह से नाराज होकर कांधार को मुग़लों को सौंप दिया। सन् 1648 में फारस की सेना ने कंधार पर कब्जा फिर से जमा लिया। कांधार की पुन: वापसी के लिए सन् 1649 सन् 1652 और सन् 1653 में तीन असफल प्रयास किए गये जिनमें 12 करोड़ रू से अधिक खर्च हुआ। साथ ही मुग़लों की सैन्य व राजनीतिक प्रतिष्ठा को भी धक्का पहुंचा।

शाहजहाँ के सहयोगी शासक

(1) मेवाड़

अमरसिंह सन् (1597-1620) की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र कर्णसिंह

(सन् 1620-1628ई) 26 जनवरी, 1620 ई० को मेवाड़ की गद्दी पर बैठा। दिल्ली की ओर से उसके आभिजात्य को सम्मानित किया गया तथा उसके पैतृक राणा पद की स्वीकृति दी गई। जहांगीर ने उसके लिए इस अवसर के लिए खिलअत, एक घोड़ा तथा एक हाथी भेजा। राजा किशनदास शोक तथा बधाई व्यक्त करने के लिए सम्राट की ओर से उदयपुर आया। कर्णसिंह का राज्यकाल मेंवाड़ के लिए सुख शांति का युग था जो 1615 ई० की संधि का सुपरिणाम माना जाना चाहिये।

नये राणा ने प्रारंभ से ही कुछ शासकीय और कुछ आर्थिक सुधार कियें। उसने राज्य की परागनों में विभाजित किया और ग्रामीण शासन के लिए पटेलों, पटवारियों और चौकीदारों की नियुक्तियां की। उसने निर्धनों के लिए दान तथा आर्थिक सहायता का प्रबंध किया जिससे संभवत: वे पुन: मेवाड़ लौट सके और घरबार बसा लें। उसने उदयपुर मे विशाल राजप्रासाद बनवाया और नगर के चारों ओर चाहर दीवारी बनवाने का प्रबंध किया। इन शासकीय सुधारों से आम जनता में सुरक्षा की भावना प्रसृत हुई। इनसे राज्य की कृषि तथा वाणिज्य संबंधी व्यवस्था को भी बढ़ावा मिला। राजप्रासाद तथा शहर पनाह के निर्माण कार्य न कई विस्थापितों की श्रम उपलब्ध कराने में सहायता पहुँचाई। राणा का यह सौभाग्य था कि उसके समय मे मेवाड़ के संबंध मुग़ल साम्राज्य से इतने मधुर थे कि न तो ऐसे संबंध पहले रहे थे और न उनका इस रूप में बना रहना आगे संभव था। इस प्रकार की घनिष्ठता की स्थिति इसलिए भी सम्भावित हो सके कि खुर्रम और कर्ण का मिलना बहुधा होता रहता था। उसके उपरांत मेल-जोल का बंधन और दृढ़ होता गया जबकि खुर्रम ने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। विद्रोह के दौरान मार्च 1623 में बिलोचपुर में परास्त होने के बाद खुर्रम माण्डू की ओर लौटा। माण्डू लौटते हूए मेवाड़ मार्ग में पड़ता है सम्भवत: कणसिंह से सहायता प्राप्त करने के अभिप्राय से खुर्रम उदयपुर में ठहरा। ऐसा करना स्वाभाविक भी था, क्योंकि उसके कर्णसिंह से संबंध अच्छे थे। वास्तव में विधि की गति बड़ी विलक्षण है जो शाहजादा एक समय विजेता की शान में उदयपुर में प्रवेश कर चुका था वही शाही रोष के विरुद्ध उदयपुर की शरण में पहुँचा। जब खुर्रम सहायतार्थ उदयपुर आया तो राणा बड़े असमंजस्य में पड़ा। शरणार्थी को शरण न देना आतिथ्य के नियमों का उल्लंघन करना था। परंतु साथ ही साथ विद्रोही राजकुमार को पनाह देना सम्राट के क्रोध का भाजन बनना था। परंतु राणा ने खुर्रम को अतिथि समझा। पहले तो उसे देलवी की

हवेली में ठहराया और तदतंर उसे पीछोला झील के जगमंदिर मे रखा। वैसे तो उसने उसके सम्राट के विरुद्ध सक्रिय सहायता देने से इन्कार कर दिया। परंतु उसे हर प्रकार से शत्रुओं से बचाये रखने अथवा उनसे छिपाये रखने में राणा ने बड़ी सहायता दी। शाही अतिथि को यहाँ लगभग चार माह शांति से दिन बिताने की सुविधा प्राप्त हुई। इसी अवधि में उसने गुवदोवाली सुन्दर इमारत का यहाँ निर्माण करवाया जो आगे जाकर अपनी प्यारी पत्नी की स्मृति में ताजमहल के बनाने की योजना में संभवत: लघु आदर्श प्रमाणित हुआ। कुछ समय उदयपुर में रहकर खुर्रम माण्डू चला गया और वहाँ से दक्षिण की ओर निकल गया। इस विपरीत काल तथा दुर्दिनों में राणा कर्णसिंह के छोटे भाई भीम ने उसकी बड़ी सहायता की थी जो संधि के अनुसार मुग़ल दरबार में मेवाड़ी सेना के साथ रहता था। उसकी सैनिक योग्यता और कुशलता से प्रभावित होकर सम्राट ने उसे राजा की उपाधि और मेड़ता की जागीर प्रदान की थी। ऐसा प्रतीत होता है कि खुर्रम के विद्रोही होने के पूर्व उसी सेवाएं शाहजादे के लवाजमे के साथ स्थानांतरित कर दी गई थी। वह 500 घोड़ों के साथ खुर्रम की सेवा में नासिंक उपस्थित हुआ था। उसी की सेवा के फलस्वरूप राजकुमार के अधिकार में पटना और बिहार आ सके। परंतु 1624 ई की टोंस नदी के निकट दमदमा के युद्ध मे परवेज और महाबतखाँ की सेनाओं ने विद्रोहियों का परास्त किया और यही भीम की मृत्यु हो गई। शक्तिशाली राजपूत सहयोग से वंचित हो जाने से खुर्रम को अपने पिता ने क्षमा याचना करनी पड़ी और वह हतप्रभ होकर बालाघाट में एकांत वास के रूप में दिन काटने लगा।

अक्टूबर 28, 1627 ई० को जब जहांगीर की मृत्यु हो गई तो खुर्रम के भाग्य ने पलटा खाया। उसने अपने जीवन के स्वप्नों को साकार बनाने के लिए पैतृक राज्य प्राप्त करने हेतु दक्षिण से प्रस्थान किया। जनवरी, 1628 ई० को जब वह मेवाड़ के मार्ग से होता हुआ गोगुन्दा पहुँचा तो राणा ने उसका अभिनन्दन किया। और उसके सम्मान में एक तलवार भेंट की गई। यहाँ "सम्राट" की 38 वर्षगांठ का उत्सव तुलादान द्वारा सम्पादित किया गया। इस प्रकार अपनी सीमा में आये हुए भावी सम्राट का स्वागत कर कर्णसिंह ने उसको आगरा तक पहुंचाने के लिए अपने भाई अर्जुन को साथ भेजा।

इस तरह मेवाड़ ने प्रथम बार मुग़ल दरबार की गति विधि में सक्रिय भाग लिया। इस अवधि में मेवाड़ -मुग़ल संबंध बड़े मधुर बने रहे। परंतु अब कणसिंह भी अधिक समय इस सोहार्दपूर्ण वातावरण से लाभ न उठा सका। शाहजहां के

सम्राट बनने के दो महिनों के भीतर की भीतर कर्णसिंह की भी मार्च 1628 ई० को मृत्यु हो गई। जगतसिंह के (1628-1652ई०) के सिंहासनारूढ होते ही मेवाड़ और मुग़लों के संबंध में बदलाव आया। जगतसिह महत्त्वाकांक्षी राणा था और चाहता था कि अवसर का लाभ उठाया जाय। जब शाहजहां अपने राज्य के आंतरिक मामलों की समस्याओं को सुलझाने में लगा हुआ था तथा जब 1628 ई० में जुझारसिंह बुंदेला ने विद्रोह का झंडा उठा रखा था तब जगतसिंह ने अपनी निकटवर्ती राजपूत रियासतों के कारोबार में हस्तक्षेप करना आरंभ किया। देवलिया प्रतापगढ़ का शासक जसवंतसिंह, जो मेवाड़ की अधीनता में माना जाता था, मंदसोर के अधिकारी के सहयोग से राणा की भूमि पर कब्जा करना चाहता था। राणा ने जसवंतसिंह को उदयपुर बुलाया और उसे तथा उसके लड़के महासिंह को मरवा दिया। जसवंतसिंह के छोटे लड़के हरिसिंह ने इस घटना की सूचना सम्राट को दी। सम्राट ने राणा से अप्रसन्न होकर देवलिया हरसिंह को दिया और उसका मेवाड़ से संबंध विच्छिन्न कर दिया गया। राणा ने इससे अप्रसन्न होकर 1628 ई० में रामसिंह के नेतृत्व में एक सेना देवलिया को लूटने के लिए भेज दी। देवलिया में जब उसे कुछ सफलता मिली तो उसने डूंगरपुर सिंरोही और बांसवाड़े पर जो कभी मेवाड़ के अधीन थे, राजनीतिक प्रभाव स्थापित करने की चेष्टा की। 1628 ई० में अखयराज को डूंगरपुर पर आक्रमण करने के लिए नियुक्त किया। इस राजपूत सेनानायक ने डूंगरपुर के कस्बे से ख़ूब माल लूटा। इस विजय से राणा के हौसले बढ़ गये। उसने सिरोही के आक्रमण के लिए एक सेना भेज दी और उस पर ब्जा कर लिया। इसके पश्चात् राणा ने भागचंद को जो उसका मंत्री था, बांसवाडा के विरुद्ध भेजा। उसने लगभग छः महीने तक वहाँ राज्य को बड़ी हानि पहुँचाई। अपनी निर्बल स्थिति हो जाने से बांसवाड़े का समरसिंह राणा के पास पहुँचा। उसने राणा से क्षमा याचना की, तथा मेवाड़ की सार्वभौमिक शक्ति को स्वीकार करके कर के रूप मे दो लाख रुपये राणा को अर्पित किये। इस प्रकार की राणा की गतिविधि से सम्राट बहुत अप्रसन्न हुआ। परंतु जब राणा को सम्राट की अप्रसन्नता का पता चला तो उसने 1633 ई० मे देलवाड़े के झाला कल्याण को सम्राट् के लिए एक हाथी को भेट रूप में देने तथा लिखित क्षमा याचना अर्पित करने भेजा। सम्राट ने भी बहुमूल्य खिलअत, सोन चांदी के साज सहित दो घोड़े एक हाथी तथा एक हार राणा के लिए देकर उसे विदा किया। इसी तरह से घरियावद के भोमतराम को दक्षिण में सैनिक देकर तथा झाला कल्याण को सम्राट को दक्षिण विजय की बधाई देने मांडू भेजा।

बादशाह का ध्यान बटाने के लिए जगत्सिंह लगातार दक्षिण के लिए सैनिक सहायता भेजता रहा और जब- जब दक्षिण विजय के समाचार प्राप्त होते थे वह भेट तथा बधाई भेजने में नहीं चूकता था।

परंतु शाहजहां राणा की हरकतों को जानता था। उसको दबाने के लिए 1643 ई में वह यात्रा के बहाने अजमेर आया। राणा ने कुंवर राजसिंह को सम्राट के लिए भेट लेकर दरबार में भेजा। कुंवर का अजमेर के निकट जोगी तालाब पर आतिथ्य किया गया। बादशाहनामा और तारीखे सलातीन-ए-चकताई के अनुसार शाही सेनाएं चित्तौड़ तक पहुंच गई थी। परंतु राणा ने भेंट भेज कर संकट को टाल दिया। इस प्रकार राणा ने युक्ति से अपने राज्य काल में अपने व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा तथा दिल्ली की सर्वोच्च शक्ति के बीच एक संतुलन बनाये रखा। जब जब सम्राट का ध्यान किसी अन्य भारतीय समस्या की ओर होता था तो वह विनम्र आचरण अपनाता था। राणा की इस नीति की समीक्षा करते हुए दरबारी कवि रघुनाथ लिखता है कि जगतसिंह हमेशा बलशाली शत्रु के साथ मित्रता की व्यवहार करता था और निर्बल शत्रु को दबाता था।

मेवाड़ और मुग़ल साम्राज्य की संबंध जगतसिंह के समय में इतना घनिष्ट था कि राणा को अपने राज्य के बाहर भी आने जाने की स्वतंत्रता थी। वह शैव तथा वैष्णव धर्म का अनुयायी होते हुए भी जैन धर्म के प्रति सहिष्णु था। उसने वि.स. 1704 में ओंकारेश्वर की यात्रा की तथा उसकी माता जम्बुबती द्वारका, मथुरा एवं प्रयाग यात्रार्थ गई। ये सभी कार्य अपने राज्य के बाहर की सीमा में इसीलिए सम्पादित हो सके कि उसके संबंध सम्राट से अच्छे थे। एक राज परिवार की महिला का मुग़ल अधिकार क्षेत्र में निर्भीक यात्रा करना दोनों शक्तियों में सामंजस्य का द्योतक है और अपने ढंग का पहला उदाहरण है। जगतसिंह के द्वारा बलात् श्रम लेने की प्रथा की विरुद्ध आज्ञा निकालना तथा युद्ध के अवसर पर परम्परा से जनता से लिए जाने वाले करों को न लेना यह प्रमाणित करते है कि उस समय युद्ध की संभावनांए नहीं के बराबर थी। अपने राज्यकाल के अंतिम दिनों में जगतसिंह ने पूर्व में हुई संधि के विरुद्ध चित्तौड़ दुर्ग की मरम्मत शुरू कर दी। उसके इस कार्य से शाही सेना को चित्तौड़ पर हमले का अवसर मिला। इसी बीच जगतसिंह की मृत्यु अक्टूबर सन् 1652 ई को हो गई। इसके बाद उसका पुत्र राजसिंह मेवाड़ की गद्दी पर बैठा।

महाराणा राजसिंह (1652-1680) 10 नवम्बर सन् 1652 ई को मेवाड़ की गद्दी पर बैठा। उसने औरंगजेब के शासन काल मे सिसौदिया राठौर संघ बनाकर राजपूतों की मर्यादा में श्रीवृद्धि की। राणा राजसिंह सच्चचरित्रता और विश्वास की ऐसी शक्ति के रूप में उभरे जिसने आने वाले युग को प्रभावित किया। उसने सबसे पहले अपने पिता राणा जगतसिंह की चित्तौड़ दुर्ग मरम्मत नीति को साकार रूप दिया। राजसिंह ने अपने ही वंश के गरीबदास को, जो मुग़लदरबार छोड़कर वापस आ गया था तथा जो पूर्व में शाहजहां का द्वारा मनसब से सम्मानित हो चुका था अपना प्रमुख सलाहकर बनाया। शाहजहां राणा की इन गतिविधियों को सहन नहीं सकता था। वह 24 सितम्बर सन् 1654 ई० को अजमेर के लिए चल दिया जहाँ से राणा के विरुद्ध कार्यवाही की जानी था। बादशाह ने सादुल्ला खाँ के सेनापतित्व में संधि के विरुद्ध चित्तौड़ दुर्ग की मरम्मत को नष्ट करने के लिए 30000 सैनिकों (जिसमें 1500 बंदूकची शामिल थे) को भेजा। सादुल्लाखाँ को यह आदेश दिया गया कि यदि राणा आज्ञा का पालन नहीं करे तो शाही सेना के द्वारा मेवाड़ को नष्ट भ्रष्ट कर दिया जाये और उसे (राणा को) यथोचित दण्ड दिया जाये। राणा ने समझदारी से काम लिया और संधि कर ली। मरम्मत किए गये चितौड़ दुर्ग की प्राचीर और बुर्ज ढहा दिए गये तथा राणा ने अपने पुत्र को बादशाह की सेवा में भेज दिया।

(2). मारवाड़ -

शाहजहां की समकालीन मारवाड़ शासक गजसिंह (1619-1638 ई०) था। राजा गजसिह का जन्म लाहौर मे हुआ पिता सूरसिंह (1595-1619ई०) की मृत्यु के पश्चात् बुरहानपुर के शाही शिविर में उसका राजतिलक हुआ। वह उस समय दक्षिण अभियान में था। वहीं पर बादशाह जहांगीर की ओर से सल्तनत का एक बड़ा अमीर और खानखाना का पुत्र दराब खाँ उसके पास था और उसके सिर पर ताज रखकर उसके ललाट पर राजतिलक कर उसकी कमर में तलवार बांधी थी। नौ दुर्गो (नवकोटि मारवाड़) वाले पैतृक राज्य के साथ उसके पट्टे में गुजरात के सात इलाके, ढूंढाड़ की झिलाई जागीर और अजमेर के अन्तर्गत मसूदा की जागीर भी सम्मिलित थी। शाही कृपा के प्रमाण पत्र के रूप में राठौड़ घुड़सवारों के घोड़ों को "दागने" की प्रथा से छूट दे दी गई। इस नियम से बादशाह ने राठौड़ सामन्तों के एक घोर अपमान से रक्षा की थी। उसका बड़ा लड़का अमरसिंह शुरू से ही अपने पिता के पास रहा और उसके द्वारा लड़े गये सभी युद्धों में महत्त्वपूर्ण भूमिका

अदा की थी। खिड़कीगढ़, गोलकुण्डा केलिय, परनाला कंचनगढ़ असीरगढ़ और सतारा - इन सभी स्थानों पर राठौड़ों को अपने गौरव के अनुकूल सफलता मिली थी। उनकी सेवाओं से प्रसन्न होकर बादशाह ने उनके राजा को दल थम्मन की उपाधि प्रदान की थी। बाद में जब खुर्रम ने अपने साधनों पर भरोसा करते हुए अपने पिता को सिंहासन से हटाकर उस पर स्वयं बैठने की चेष्टा की तब ऐसे नाजुक अवसर पर जहांगीर ने स्वामिभक्त राजपूत राजाओं से सहायता की अपील की। इस अपील को स्वीकार किया गया क्योंकि राजपूत हमेशा से ताज के प्रति निष्ठावान रहे थे। मारवाड़ आमेर कोटा और बून्दी के राजा लोग अपनी- अपनी सेनाओं के साथ बादशाह की सहायता के लिए जा पहुँचे।

इस समय जहांगीर राठौड़ राजा गजसिंह के उत्साह से इतना अधिक प्रसन्न हुआ कि उसने न केवल उससे हाथ ही मिलाया, परंतु उसके हाथ को चूम भी लिया जो कि एक असाधारण बात थी। जब बनारस के पास राजपूत लोग विद्रोहियों के करीब जा पहुंचे तो शाही सेना का हरावल (अग्रभाग) आमेर के मिर्जा राजा को सौंप दिया गया। शाहजादा परवेज का यह कदम आमेर की राजकुमारी से उत्पन्न खुर्रम के विरुद्ध आमेर के राजा का सहयोग प्राप्त करने की नीति का ही एक अंश था अथवा जैसा कि मारवाड़ के भट्ट ग्रंथ में लिखा है कि चूंकि वह सबसे बड़ी सेना ले गया था अत: उसे हरावल प्रदान किया गया। जो भी कारण रहा हो इसके परिणाम अच्छे नहीं रहे। गजसिंह ने इसको अपमान समझा क्योकि वह इस राठौड़ों का अधिकार समझता था। अत: उसने शाही शिविर को छोड़ से कुछ दूर हटकर अपना शिविर कायम किया। उसने पिता पुत्र के मध्य लड़े जाने वाले इस युद्ध में किसी भी पक्ष का साथ न देने तथा तमाशा देखने का निश्चय कर लिया, परंतु मेवाड़ के भीमसिंह के तिरस्कारयुक्त पत्र ने उसे अपना निश्चय बदलने के लिए विवश कर दिया, अन्यथा उस दिन खुर्रम को सिंहासन प्राप्त हो गया होता। भीमसिंह ने महाराजा गजसिंह को लिख भेजा था कि या तो हमारा (खुर्रम का) पक्ष लो अन्यथा वीरों की भांति तलवार निकाल कर हमसे युद्ध करों। राठौड़ गजसिंह परवेज के द्वारा किये गये अपमान को भूल गया और सेना सहित युद्ध में सम्मिलित हो गया। भीमसिंह मारा गया और खुर्रम को युद्ध से भागने के लिए विवश कर दिया गया। यह सब कुछ राठौड़ों और हाड़ाओं के कारण संभव हो सका था। गजसिंह की सन् 1638 ई में मृत्यु हो जाने पर उसका पुत्र जसवंत सिंह गद्दी पर बैठा।

महाराज जसवंत सिंह (सन् 1638-1678 ई०) ने मारवाड़ के गौरव को नई

ऊंचाईयों दी। इनका जन्म 26 दिसम्बर, 1620 ई० में बुरहानपुर में हुआ था। इनकी माता मेवाड़ की राजकुमारी थी। जसवंतसिंह जब ग्यारह वर्ष के थे तभी इनके पिता का देहांत हो गया था। पिता के स्वर्गवास के समय जसवंतसिंह बूंदी में अपना विवाह करने गये थे। गजसिंह का देहांत आगरा में हुआ था अत: जसवंतसिंह बिना समय गवाये फौरन आगरा गया। वहाँ पहुचते ही बादशाह शाहजहां ने 25 मई 1638 को स्वयं उसे शाहीतौर पर टीका किया और खिलअल दी। साथ में हीरों जड़ी कंटार, एक घोड़ा एक हाथी, एक झण्डा, राजा का खिताब और 4000 संवारों की जात प्रदान की। शाहजहां ने राजा जसवंतसिंह को टीके के साथ मारवाड़ के पाँच परगनों जोधपुर, सोजत, मेड़ता, सिवाना और फलौदी का राज्य दिया।

जोधपुर के उत्तराधिकार के झगड़े को देखते हुए शाहजहां ने बिना सयम गंवाये जसवंतसिंह को जोधपुर का राजा घोषत कर इस विवाद को अगले 40 साल के लिये समाप्त कर दिया। अपना टीका पाने के 24 दिन बाद जसतंसिंह ने भी बादशाह को छ: हाथी भेंट कियें, उसके बाद बालक राजा शाहजहां के साथ पेशावर गया। रास्तें में लाहौर के पास शाहजहां ने राजा जसवंतसिंह की मनसब 5000 कर दी और उसे मारवाड़ का छटा परगना जैतारण भी दे दिया। एक ही वर्ष में बादशाह ने उसे चार बार शाही सम्मान और खिताब प्रदान किये। लाहौर जमरूद और दिल्ली में दो वर्ष बादशाह के पास रहने के बाद जसवंतसिंह 21 फरवरी 1640 को अपने राज्य जोधपुर में लौटे और 30 मार्च को बड़ी धूम- धाम से 14 वर्ष की अवस्था में उसका राज्याभिषेक हुआ। दो वर्ष के छोटे से समय में जसवंतसिंह शाहजहां का प्रिय सरदार बन गया था। अत: युवा होने से पहले ही उसे ईरान के शाह के विरुद्ध शाहजादा दारा के साथ कंधार विजय हेतु भेजा गया। किन्तु कंधार तक पहुँचने से पहले ही फारस के शाह शफी का देहांत हो गया अत: मुग़ल सेना बिना लड़े वापस लौट आई। कंधार से लौटकर जसवंतसिंह जोधपुर गया। अभी वह दो वर्ष भी घर न रहा पाया था कि शाहजहां ने उसे आगरा का सूबेदार नियुक्त किया। इस समय जसवंतसिंह सिर्फ उन्नीस वर्ष का था। इस नियुक्ति ने जसवंतसिंह का सम्मान बढ़ा दिया और उसकी गिनती श्रेष्ठ मुग़ल सरदारों में होने लगी। टाड महोदय का कहना है कि- "राजस्थान के उस समय के राजाओं में जसवंतसिंह को बहुत ख्याति मिली। वह एक सफल शासक था और उसके शासन में सभी प्रकार से राज्य ने उन्नति की थी। वह विचारशील, गंभीर और रणकुशल राजपूत था।"

शाहजहां की मां जोधाबाई से जसवंतसिंह का खून का संबंध था। बादशाह ने उसे "खालाजात भाई" की पदवी देकर उसका सम्मान और बढ़ा दिया। राजा को सोने की पगड़ी और घोड़ा देकर फिर सम्मानित किया गया। जसवंतसिंह के घोड़ों में से एक बार दो हजार और दूसरी बार 2,500 घोड़े अपनी निजी सेना के लिये लेकर शाहजहाँ ने जसवंतसिंह का और अधिक सम्मान किया। बाद में उसे 5000 की मनसब 5000 की जात देकर अपने श्रेष्ठ दरबारियों में स्थान दिया। बादशाह की अनुपस्थिति में आगरे का सूबेदार रहना भी किसी राजपूत के लिये बड़े गौरव की प्राप्ति थीं। औरंगजेब की अधीनता में राजा को एक बार फिर काबुल भेजा गया। बादशाह भी उसके साथ था किन्तु 1649 के कंधार अभियान में भी जसवंतसिंह ने सक्रिय भाग नहीं लिया और बादशाह की गैरहाजरी में राजपूतों पर नियंत्रण रखने के लिए उसे काबुल से वापस भारत भेज दिया गया। इस प्रकार 5000 की जात व मनसब प्राप्त करना, बादशाह को अपने विश्वास पात्र सैनिकों की सेना देना, खालजात भाई का खिताब पाना और औरंगजेब के साथ काबुल तक जाना आदि, जसवंतसिंह की अप्रतिम सफलता थी। मार्च 1650 की तारीख को बादशाह शाहजहां ने जसवंतसिंह को विशेष दरबार में मोतियों की हार भी पहनाया। इन सब सम्मानों से स्पष्ट है कि जसवंतसिंह मुग़ल बादशाह का प्रिय दरबारी था। शाहजहां ने ऐसा सम्मान और किसी हिन्दू राजा की नहीं दिया था।

इन सफलताओं ने राजा जसवन्तसिंह का मान बहुत बढ़ा दिया और जनवरी 1654 में शाहजहां ने अपने विवाह की वर्षगांठ के उत्सव में जसवन्तसिंह के 6000 सवार और जात की मनसब से सुशोभित किया। इस प्रकार राजा जसवन्तसिंह के शासन के पहले 20 वर्ष प्रगति,समृद्धि और सफलता के वर्ष थे। जोधपुर की जो क्षति अकबर के समय राव चन्द्रसेन और मोटा राजा उदयसिंह के अधीन हुई थी राजा जसवन्तसिंह ने उस खोये हुए स्थान व राज्य को पुन: प्राप्त कर अपना व अपने देश का गौरव बढ़ाया।

(3) जयपुर

इतिहास प्रसिद्ध राजा मानसिंह (सन् 1589-1614 ई०) के पुत्र भावसिंह (सन् 1614-1621 ई०) की निस्संतान मृत्यु के बाद महासिंह का ज्येष्ठ पुत्र जयसिह (सन् 1621 ई०-1667 ई०) जयपुर (आमेर) का शासक बना। मिर्जाराजा जयसिंह के नाम से प्रख्यात इस राजा ने तीन मुग़ल सम्राटों जहांगीर शाहजहां और

औरंगजेब की सेवा की। उसने मलिक अम्बर के विरुद्ध अहमदनगर में जाटों के विद्रोह दमन, बुरहानपुर में खानेजहां के विरुद्ध, उजबेगों का विद्रोह दमन और कंधार में अपूर्व वीरता का प्रदर्शन किया। जिसके कारण शाहजहां ने उसे मिर्जा राजा का खिताब दिया। शाहजहां ने गद्दी पर बैठते ही जयसिंह को जाटों के विद्रोह का दमन करने भेजा था। इस कार्य में जयसिंह को 41 दिन लगे किन्तु विद्रोहियों का निरंतर पीछा कर जयसिंह ने इनका पूर्ण दमन कर दिया। बादशाह ने प्रसन्न होकर जयसिंह की मनसब तीन से चार हजार कर दी। दक्षिण में दो वर्ष तक रह रह कर जयसिंह ने विद्रोही मलिक अम्बर के बचे हुए सैनिकों का दमन किया। उस समय उसके साथ मुग़ल सेनापति खानेजहां भी था। खानेजहां शाहजहां का समर्थक नहीं था। अत: 1628 ई० मे जयसिंह खानेजहां को अकेला छोड़कर बादशाह के पास अजमेर आ गया। बाद में अपनी स्वामीभक्ति का परिचय देने के लिये बादशाह के कहने पर उसने खानेजहां लोदी को रीवा के पास नीमी स्थान पर घमासान युद्ध में एक ही दिन में पराजित कर मैदान छोड़ने के लिए बाध्य किया। इस विद्रोही सेनापति को दक्षिण के निजाम का समर्थन प्राप्त था। इससे पहले जयसिंह ने धौलपुर में भी खानेजहां को पराजित किया था। यह जयसिहं की दूसरी सफलता थी और शाहजहां इससे बहुत प्रभावित हुआ। उसने जयसिंह को अपना पूर्ण समर्थक व विश्वासपात्र बना लिया। खानेजहां लोदी क विरुद्ध अभियान में सैकड़ों राजपूत सैनिक मारे गये और उसका पूर्ण दमन 1631 मे जाकर हो पाया किन्तु इस अभियान से मुग़ल दरबार में जयसिंह का मान बहुत बढ़ गया। शाहजहां ने इस विजय पर फिर जयसिंह की पद वृद्धि की। शाहजहां के समय जयंसिह की तीसरी सफलता उजबेगों के विद्रोह के विरुद्ध थी। बादशाह को जब अजमेर में यह समाचार मिला कि उत्तर पश्चिमी सीमा पर उजबेग लोग उपद्रव मचा रहे है तो उसने जयसिंह को 1628 ई० में पूर्ण सेनापति के अधिकार देकर सीमा क्षेत्रों में उजबेगों के दमन करने भेजा। जाटों और लोदियों की भांति यहाँ भी जयसिंह को विद्रोहियों के दमन में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। अनेक विद्रोही उजबेग मारे गये और जो शेष रहे वह भी भाग गये। इसके बाद वह फिर खानेजहां के पीछे लग गया और 1631 ई० तक उसका पूर्ण दमन कर दिखाया। शाहजहां के काल में चौथी महत्त्वपूर्ण घटना औरंगजेब की प्राणरक्षा थी। घटना बड़ी रोमांचकारी और प्रभावशाली थी। 28 मई, 1623 ई० को बादशाह और उसका परिवार आगरे में हाथियों की लड़ाई देख रहा था कि एक हाथी बिगड़ कर शहजादे औरंगजेब की तरफ झपटा।

देखने वाले किंकर्त्तव्यविमूढ़ से ही थे तथा हाथी औरगजेब का अपने पैरों तले कुचलने ही वाला था कि जयसिह ने दौड़ कर हाथी पर भाले का वार किया जिससे घायल हाथी वापस लौट गया। इस घटना से शाहजहां और अधिक प्रभावित हुआ तथा उसने जयसिंह का पद और बढ़ा दिया। पाँचवां महत्त्वपूर्ण अभियान परेण्डा का घेरा था। आदिलशाह का पुत्र इस्माइल और बीजापुर का किलेदार विद्रोही हो रहे थे। शाहजहां ने दक्षिण भारत के इन विद्रोहियों का दमन करने के लिये शहजादा शुजा के साथ जयसिंह को भेजा। जयसिंह ने रात्रिकालीन आक्रमण में शत्रु को हताहत कर भारी क्षति पहुंचाई। किन्तु अति दुर्गम पहाड़ों में मुग़लों का भारी तोपखाना काम नहीं कर सकता था और रसद आदि पहुँचने में भी भारी असुविधा रहती थी इसलिये स्थिति को समझकर जयसिंह ने शत्रु को खुले मैदान में घेरने के लिये किले का घेरा उठाकर शत्रु को बाहर आकर युद्ध करने का अवसर दिया। परेण्डा के घेरे में जयसिंह ने अपने युद्ध कौशल का परिचय देकर सारे मुग़ल दरबार को प्रभावित किया था। दक्षिण में बीजापुर और गोलकुण्डा की रियासतें स्वतंत्र थी और मुग़लों को सदा तंग करती थी। बीजापुर के सेनापति शाही जी भौसली ने दौलताबाद के थाने को घेर लिया और मुग़लों को तंग करना शुरू किया। परेण्डा से हट कर जयसिंह ने शाहजी का सामना किया। मराठे सैनिक लुक छिपकर मुग़ल सेना पर आक्रमण करते थे। जयसिंह ने भी इसी विधि को अपनाया और मराठों की रसद रोक ली। अंत में शाहजी की पराजय हुई और जयसिंह ने 3000 मराठा और 800 बैल गाड़ियों को बंदी बना लिया। बादशाह जयसिंह की इस विजय से बहुत प्रसन्न हुआ और विजय के तत्काल बाद 1636 में जयसिंह को पाँच हजारी मनसबदार बना दिया। यह जयसिंह का छठा सफल अभियान था।

इसके बाद शाहजहां ने जयसिंह को दक्षिण का सूबेदार बनाकर बीजापुर और गोलकुण्डा विजय के लिये भेजा। दक्षिण में जयसिंह ने बड़ी दृढ़ता से सारे विद्रोहियों का दमन कर दक्षिण में अमन कायम कर दिखाया। बादशाह इस सफलता से भी बहुत प्रसन्न हुआ और उसने जयसिंह को अनेक बहुमूल्य उपहार दिये और चाटसू व अजमेर के राज्य जयसिंह के राज्य के हिस्से बना दिय गये। यह जयसिंह की सातवी सफलता थी। जयसिंह का आठवां सफल कार्य कंधार अभियान था। मध्य एशिया पर आधिपत्य स्थापित करने के लिये मुग़ल बादशाह सदा प्रयत्नशील रहते थे। इसी उद्देश्य से तथा अफगान विद्रोहियों का दमन करने के लिये 1647 में जयसिंह को काबुल कंधार विजय के लिये भेजा गया। जयसिंह

दस वर्ष तक भारत की पश्चिमी सीमा के बाहर रहा। अफगान शत्रु दल मुग़लों के रसद मार्ग काट देते थे और असमय घेर कर मुग़लों को क्षति पहुंचाते थे। यदा कदा मुग़ल थानों को नष्ट करना उनका मुख्य उद्देश्य बन गया था। जयसिंह ने बड़ी लगन और योग्यता से कंधार ,काबुल, पेशावार और हिरात आदि स्थानों के युद्धों में विजय प्राप्त कर अपने अभियान को सफल बनाया। सारे शत्रु उसके आतंक और वीरता से भयभीत थें। पहले तीन वर्षों में ही 1650 ई० तक जयसिह ने पूर्ण नियंत्रण व सामान्य स्थिति स्थापित कर बादशाह को प्रभावित किया। शाहजहां ने जयसिंह के पुत्र कीरतसिंह की पदोन्नति की और उसे मेवात का फौजदार बना दिया। अगले सात वर्ष तक वह मुग़ल सेना के अग्रभाग का सेनापति बनकर काबुल में रहा। बादशाह ने उसे काबुल का सूबेदार भी बनाया और छह हजारी मनसब व जात प्रदान की। यह मनसब किसी भी हिन्दू राजा के लिये अत्यंत महत्त्वपूर्ण और सम्मान का चिन्ह था। बादशाह शाहजहां के प्रति अपनी वफादारी दिखाकर जयसिह ने 1657 ई में गृहयुद्ध के समय शाहजदा शुजा को बनारस के पास बहादुरपुर में हराया। शुजा तो भाग गया पर जयसिंह को लगभग दो करोड़ रुपये की सम्पत्ति हाथ लगी। यह शाहजहां के प्रति उसका अंतिम सहायक कदम था। शाहजहां बीमार पड़ गया तो उसके चार पुत्रों में उत्तराधिकार युद्ध शुरू हो गया। यहाँ भी जयसिंह ने अपनी योग्यता और नीति निपुर्णता का परिचय दिया तथा बिना युद्ध किये 25 जून 1658 को मथुरा में जाकर औरंगजेब से भेट की तथा अपने सहयोग और स्वामी भक्ति का आश्वासन दिया। जोधपुर के राजा जसवंतसिंह ने इस अवसर पर दारा की सहायता कर अदूरदर्शिता का परिचय दिया और जयसिंह औरगजेब को मान्यता देकर अपनी योग्यता और अनुभव का लाभ उठाया। यह भी उसकी महान सफलता थी कि वह चारो भाईयों से सबसे योग्य व सफल शहजादे का समर्थन करता रहा। इस प्रकार शाहजहां के अधीन रह कर जयसिंह ने 36 वर्ष के समय से दस बड़े काम सफलतापूर्वक कर जयपुर राज्य का विस्तार ही नहीं किया वरन् मुग़ल दरबार में अपना श्रेष्ठ स्थान सुरक्षित कर लिया।

(4) बीकानेर

यद्यपि बीकानेर के शासक सूरसिंह (सन् 1613-1631 ई) ने खुर्रम (शाहजहां) के जहांगीर के प्रति विद्रोह के समय जहांगीर का साथ दिया था। किन्तु जब खुर्रम शाहजहां के नाम से बादशाह बना तब उसने काबुल अभियान, जुझार सिंह बुंदेला विद्रोह दमन एवं खानेजहां लोदी के विद्रोह दमन में पूरी निष्ठा से सेवा

की और अपने वीरोचित शौर्य का प्रदर्शन किया। सूरसिंह की मृत्यु के पश्चात् उसका एकमात्र पुत्र कर्णसिंह (सन् 1631-1669 ई०) बीकानेर का शासक हुआ। अपने पिता के जीवनकाल में ही कर्णसिंह शाही सेवा में नियुक्त हो गया था और उसे दो हजारी मनसब प्रदान किया गया। उसे दौलतबाद का शासनधिकारी भी नियुक्त किया गया। कर्ण सिंह ने फतह खाँ, शाहजी एवं परण्डे के अभियानों में वीरता दिखलाई। यद्यपि कर्णसिंह दाराशिकोह के न्यायोचित अधिकार का समर्थक था तथापि वह उत्तराधिकार के युद्ध में तटस्थ बना रहा। उसके विरोधियों ने औरंगजेब के बादशाह बनने के बाद उसके खिलाफ षडयंत्र रचा लेकिन बूंदी के हाड़ा राजा के द्वारा सतर्क कर दिये जाने के कारण वह बच गया। उसने औरंगजेब की सेवा स्वीकार कर ली थी। कर्णसिह के चार पुत्र हुए पदमसिंह, केसरी सिंह, मोहन सिंह और अनूपसिंह शाही सेवा में काम करते हुए पहले दोनों पुत्र बीजापुर अभियान के दौरान वीरगति को प्राप्त हुए और तीसरा लड़का मोहनसिंह शाही शिविर मे एक दुर्घटना के फलस्वरूप मारा गया। फरिश्ता ने अपने ग्रन्थ 'दक्षिण का इतिहास ' में इस दुर्घटना का उल्लेख करते हुए लिखा है कि एक हिरण के बच्चे को लेकर शाहजादा मुअज्जम और मोहनसिंह में झगड़ा उठ खड़ा हुआ। दोनों ने अपनी तलवारे निकाल ली। शाहजादा के हाथों मोहनसिंह मारा गया। फरिश्ता के अनुसार उसके दोनों भाई इस दुर्घटना के बाद मारे गये थे। कर्णसिंह ने औरंगजेब के साथ भी कार्य किया। उसकी मृत्यु सन् 1669 ई में बीकानेर मे हुई।

(5) जैसलमेर

शाहजहां के समकालीन जैसलमेर का शासक रावल मनोहर दास (सन् 1627-1650) ई० था। मनोहर दास रावल कल्याण (सन् 1613-1627 ई०) का एकमात्र पुत्र था। जिस समय मनोहर दास जैसलमेर का शासक बना उस समय दिल्ली में बादशाह जहांगीर का अंतिम समय था। शहरयार एंव शाहजहां में सत्तासंघर्ष चल रहा था जिसमें अन्ततः शाहजहां सफल हुआ। रावल मनोहरदास के समय मुग़ल दरवार से संघर्ष के कोई विवरण नहीं मिलते अतः ये माना गया कि उसके दिल्ली से ठीक-ठाक संबंध रहें होगें। रावल मनोहरदास के अपने पड़ोसियों यथा बलोचो और पोकरण के हम्मीर राठौड़ से संघर्ष के विवरण मिलते है। रावल मनोहरदास की मृत्यु के पश्चात् उसका दत्तक पुत्र रावल रामचंद्र मात्र दस माह का राजसुख भोग पाया। मनोहरदास की एकमात्र पुत्री का विवाह जोधपुर नरेश गजसिंह के साथ हुआ था और मनोहरदास की मृत्यु के पश्चात् जोधपुर नरेश

जसवंतसिंह ने न सिर्फ पोकरण के इलाके वापस लिए (जो राव चंद्रसेन ने जैसलमेर का एक लाख फदीयों के बदले गिरवी रखा था।) बल्कि उत्तराधिकार संघर्ष में रावल सबल सिंह का पक्ष लिया। सबल सिंह (सन् 1650–1660 ई) जैसलमेर के पूर्व शासक राव मालदेव (सन् 1550–1561 ई०) के तीसरे पुत्र खेतसिंह का पौत्र था। वह रिश्ते में रावल रामचंद्र की ही तरह रावल मालदेव का प्रपौत्र था। सबलसिंह को जैसलमेर की गद्दी शाहजहां द्वारा जारी शाही टीका फरमान के द्वारा मिली थी। मुहम्मद वारिस कृत बादशाहनामा के अनुसार सबल सिंह को 1000 जात और 700 सवार का मनसब प्राप्त था। शाहजहां द्वारा भाटी घराने को महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठा प्रदान की गई थी जिसके अंतर्गत सबलसिंह को शाह हजार का मनसब और माही मारातिब की उपाधि दी गई थी।

(6) अन्य राजपूत राज्य

बूंदी

बूंदी के राव रतन (सन् 1607–1621ई०) को जहांगीर ने पाँच हजारी मनसब दार बनाया था। उसके बाद उसका पोता राव शत्रुशाल (सन् 1621–1658 ई०) बूंदी की राजगद्दी पर बैठा। शाहजहां ने स्वयं बूंदी जाकर उसका राजतिलक किया था और उसे न केवल पैतृक बूंदी राज्य का शासनाधिकार दिया बल्कि शाही राजधानी का गर्वनर भी नियुक्त किया। उसका यह पद उसके जीवन भर कायम रहा। राव शत्रुशाल ने शाहजहां के समय दौलताबाद बुरहानपुर खानेदश कंधार बल्ख एंव बदख्शा के अभियानों में अपूर्व वीरता का प्रदर्शन किया। जब शाहजहां ने अपने चारों पुत्रों का चार सूबों का प्रशासन सौपा तो राव शत्रुशाल को औरगंजेब के अधीन सेनापति बनाकर दक्षिण भेजा गया। जहाँ उसने सभी युद्धों में अत्यधिक ख्याति अर्जित की खासकर दौलतबाद और बीदर युद्ध में। बीदर दुर्ग के अभियान मे हमले का नेतृत्व स्वयं राव शत्रुशाल ने किया था और सभी दुर्ग रक्षकों को मारकर दुर्ग पर कब्जा किया। सन् 1653 ई में हुए गुलबर्गा के युद्ध में भी हाड़ा राव ने अपूर्व पराक्रम का परिचय दिया था।

शाहजहां की मृत्यु की अफवाह फैलने के समय राव शुत्रशाल औरंगजेब के साथ दक्षिण में था। जब राव शत्रुशाल को बादशाह का यह फरमान मिला कि वह दिल्ली उपस्थित हो तब वह औरंगजेब का घेरा तोड़कर उत्तर चला गया। सामूगढ़ की लड़ाई में राव शत्रुशाल ने दारा की सेना के हरावल दस्ते का नेतृत्व किया था।

इस युद्ध में वे सभी राजपूत दारा के साथ थे। जो शाहजहां को वैधानिक बादशाह मानते थे। इस युद्ध में जब परिणाम दारा के पक्ष की ओर झुक रहा था तभी अचानक दारा ने मैदान छोड़ दिया जिससे अफरातफरी मच गई। इस अवसर पर राव शत्रुशाल ने अपने सैनिकों को ललकारते हुए कहा कि कोई सैनिक नहीं भागेगा, हमने जिसका नाम खाया है उसके लिए प्राण उत्सर्ग करेगें। इसके बाद उसने अपना हाथी आगे बढ़ाया और शत्रुओं का संहार करने लगा। तभी उसके हाथी पर एक गोला आ गिरा और हाथी मैदान से भाग खड़ा हुआ। शत्रुशाल भागते हुए हाथी से उतर कर घोड़े पर सवार होकर पुन: युद्ध रत हो गया। उसने शाहजादे मुराद को अपना लक्ष्य बनाकर दाहिने हाथ से भाला फेंका परतु उसके पहले ही उसके मस्तक में शत्रु की गोली लग गई जिससे उसका निशाना चूक गया। मुराद बच गया लेकिन शत्रुशाल मारा गया। उसके मरते ही उसके छोटे पुत्र भरत सिंह ने नेतृत्व संभाला और युद्ध जारी रखा। शत्रुशाल के भाई मोखिमसिंह, उसके दोनो लड़के व भतीजे सहित युद्ध में भाग ले रहे प्रत्येक हाड़ा सरदार और सैनिक ने लड़ते लड़ते वीरगति प्राप्त की लेकिन युद्ध से कोई नहीं भागा। राव शत्रुशाल ने जीवन मे 52 युद्धो में भाग लिया और अपनी स्वामीभक्ति पराक्रम और बहादुरी से अपना नाम अमर कर लिया।

कोटा

बूंदी के राव रतन (सन् 1607-1621 ई०) का पुत्र राव माधोसिंह (सन् 1624-1648ई) ने खुर्रम को बुरहानपुर से हटाने में जिस वीरता का परिचय दिया था उससे प्रसन्न होकर जहांगीर ने उसे सन् 1624 ई० में कोटा का राजा बना दिया। जब माधोसिह बुरहानपुन में बंदी खुर्रम की देखरेख कर रहा था तब उसने खुर्रम को बंदी गृही से भगा दिया जिससे प्रसन्न होकर जब खुर्रम शाहजहां के रूप में बादशाह बना तब उसने कोटा राज्य का फरमान दिया और अनेक परगने देकर कोटा राज्य की सीमा में अभिवृद्धि की। राव माधोसिंह ने खानजहां लोदी, जुझार सिंह बुदेला एवं कधार के शाही अभियानों में अच्छी वीरता का प्रदर्शन किया। रावमाधोसिंह के पाँच पुत्र यथा मुकुन्द सिंह, मोहन सिंह, जुझारसिंह, कनीराम और किशोर सिंह हुए।

रावमाधोसिंह के बाद कोटा की राजगद्दी पर उसका बड़ार, पुत्र राव मुकुंद हाड़ा (सन् 1648-1658 ई०) बैठा। राव मुकुन्द हाड़ा ने वैधानिक शासन के सिद्धातों के प्रति राजपूती निष्ठा पर कार्य करते हुए दारा का पक्ष यह मानकर लिया कि इसमें वैधानिक बादशाह शाहजहां की इच्छा है। उत्तराधिकार के लिए उज्जैन

के निकट लड़े गये युद्ध में पाँचो भाईयों ने सभी सामंतों सहित औरगजेब के विरुद्ध युद्ध लड़ा। यद्यपि उस युद्ध में औरंगजेब विजयी हुआ लेकिन एक भी हाड़ा युद्ध से नहीं भागा और लड़ते लड़ते वीरगति को प्राप्त हुए। केवल सबसे छोटा हाड़ा किशोरसिंह को मृतकों के बीच से बुरी तरह घायल परंतु जीवित निकाल लिया गया।

कोटा और बूदी के अतिरिक्त डूंगरपुर बांसवाड़ा देवलिया प्रतापगढ़ किशनगढ़ आदि अनेक छोटे छोटे राजपूत राज्यों के शासको ने मुग़ल बादशाह शाहजहां के प्रति अपनी निष्ठा बताई और उसकी ओर से अनेक युद्धों में शौर्य एवं बलिदान का परिचय दिया।

विद्रोही राजपूत राज्य-बुंदेलखण्ड

शाहजहां के शासनकाल में एक महत्त्वपूर्ण विद्रोह बुदेलों का हुआ था। जहांगीर के समय बुंदेला वीरसिंह देव बादशाह का जिगरी मित्र था और मुग़ल दरबार मे उसकी शान अलग ही थी। सन् 1627 ई में वीरसिंह देव की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र जुझारसिंह बैठा। उसी समय शाहजहां भी गद्दी पर बैठा। नए बादशाह को बधाई देने जाते समय वह बुंदेलखण्ड में शासन संचालन की जिम्मेदारी अपने पुत्र विक्रमादित्य को सौंप गया। विक्रमादित्य उन्मत और ऊधमी तो था ही इसके अतिरिक्त वह घमण्डी और क्रूर भी था। शीघ्र ही रियासत के पुराने कार्यकर्ताओं से उसकी अनबन हो गई। कुछ को उसने कड़ी सजाएं दी और कुछ को कारागार में ठूंस दिया। 10 अप्रैल सन् 1628 ई को जुझारसिंह आगरा आया और उसने सम्राट को एक हजार नकद और एक हाथी भेंट किया। सम्राट ने उसे 4000 जात और 4000 सवार के मनसब पर बहाल किया तथा बहूमूल्य रत्न जटित एक कटार निशान और एक नक्कसरा भी प्रदान किया। इस प्रकार दरबार में तो उसका स्वागत संतोषजनक ही रहा। किन्तु कुछ समय बाद ही सम्राट ने यह आदेश दिया कि वीरसिंह देव के नाजायज लाभो की छानबीन की जाय। जुझारसिंह को अब यह एहसास होने लगा कि सम्राट को सन्तुष्ट करना असंभव है तथा अपमानित होने के सारे लक्षण प्रस्तुत हो रहे है अत: 11 जून को वह चुपचाप आगरा से निकल भागा। तत्काल तो उसका पीछा न किया गया क्योंकि ठीक इसी समय नज़र मुहम्मद ने काबुल पर आक्रमण कर दिया था किन्तु जैसे ही यह विपदा समाप्त हुई शाहजहां ने बुन्देला सरदार की ओर अपना ध्यान मोड़ दिया। सम्राट ने एक विशाल सेना महाबत खाँ की कमान में आगरा से रवाना कर दी तथा प्रमुख सेनापति की उग्रता

को संयत रखने के अभिप्राय से इस्लाम खाँ को उसकी सहयोगी नियुक्त कर दिया। उधर खानजहां को यह आदेश दिया कि 8000 सैनिकों के साथ वह ओरछा की ओर अग्रसर हो जाए। उससे यह भी कहा गया कि वह राजा भारतसिंह बुन्देला को भी साथ लेता आए जो बुन्देला गद्दी का प्रतिद्वन्दी हकदार था। पूर्व की दिशा से अब्दुल्ला खाँ और बहादुर खाँ रूहेला की कमान में एक तीसरी सेना को ओरछा की ओर बढ़ने का हुक्म हुआ। सैन्य कार्यवाही तीव्र करने तथा कार्य में गति लाने के विचार से शाहजहां ने अक्टूबर सन् 1628 ई में आगरा से प्रस्थान किया। 3 जनवरी सन् 1629 ई० को ग्वालियर पहुँचा। इसी दौरान महाबत खाँ ने जो कि सम्राट के आगे-आगे चल रहा था, ग्वालियर होते हुए बुन्देलखंड में प्रवेश किया। वह ओरछा से 32 मील की दूरी पर था जबकि खानेजहां दक्षिण दिशा से प्रवेश करता हुआ उसके निकटतम पहुंच गया और उसने चारों ओर लूटपाट शुरू कर दी। उधर अब्दुल्ला खा ने बुन्देलखण्ड की पूर्वी सीमा से घुस कर ईरज के दुर्ग की घेराबन्दी कर दी। बाकर खाँ और अन्य साथियों को लेकर उसने दुर्ग पर पूर्व दिशा में धावा बोल दिया। बहादुर खाँ रूहेला ने उस पर उत्तर दिशा से आक्रमण कर दिया। राजा पहाड़सिंह ने अपने हाथी द्वारा दुर्ग की बाहरी दीवार नष्ट भ्रष्ट कर डाली। उधर मुख्य प्रवेशद्वार से बहादुर खाँ अंदर घुस गया। दुर्ग रक्षक बहुत ही वीरता से लड़े तथा उनके 3000 योद्धा रणक्षेत्र में काम आए। शाही सेनानायकों के दृढ़संकल्प तथा ईरज पर उनकी विजय को देखकर जुझारसिंह ने महाबत खाँ से यह प्रार्थना की कि वह सम्राट से उसकी सिफारिश कर दे। इस पर शाहजहां ने उसके अपराधों को क्षमा कर दिया। इस कार्य की सफलतापूर्वक समाप्ति के उपरांत 7 फरवरी 1629 ई० को शाहजहाँ ग्वालियर से चल दिया और एक सप्ताह बाद आगरा आ गया। यहाँ महावत खाँ ने अपराधी जुझारसिंह को शाहजहां के सामने पेश किया। जुझारसिंह ने दस लाख पचास हजार नकद क्षतिपूर्ति के रूप में और चालीस हाथी पेशकश (भेंट) के रूप में दिए। इसके बदले शाहजहां ने उसको पूर्ववर्ती मनसब पर तो बहाल कर दिया किन्तु उसकी कुछ जागीरें जब्त कर ली जो खानेजहां, अब्दुल्ला खाँ, रशीद खा, सैयद मुजफ्फर खाँ और पहाड़सिंह को दे दी गई। जुझारसिंह को यह आदेश मिला कि वह 2000 सवार और 2000 पियादे लेकर दक्षिण में हाजिर हो। जुझार सिंह सन् 1634 ई० तक दक्षिण में रहा और फिर वह महावत खाँ की अनुमति से ओरझा वापस आ गया। ओरछा आने के उपरांत उसने पुनः महत्त्वाकांक्षी कार्यक्रम शुरू कर दिया और अपनें राज्य के दायरे को

विस्तृत करने में लीन हो गया। इस सम्राट आगरा में नहीं था और दक्षिण में शांति स्थापित नहीं हो पाई थी। अत: यह पैर पसारने का अच्छा मौका था। जुझार सिंह ने अकारण ही राजा प्रेम नारायण पर धावा कर दिया और उसे चौरागढ़ के किले में घेर लिया। जब प्रतिरोध बिल्कुल असंभव हो गया तब प्रेमनारायण ने कुछ शर्तों पर समर्पण कर दिया। परंतु ज्यों ही वह दुर्ग के बाहर निकला बुन्देलों ने अपने शपथपूर्ण बचनों का उल्लंघन कर आश्वस्त और निश्शंक राजा को चारों ओर से घेर लिया। नैराश्यग्रस्त होकर उसने अपनी रानियों के तो वध कर डाला और स्वयं दो तीन सौ योद्धाओं के साथ लड़ते- लड़ते वीरगति को प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् जुझारसिंह ने चौरागढ़ के दुर्ग पर अधिकार कर लिया। इस दौरान राजा प्रेमनारायण का पुत्र खानेदौरां के पास मालवा पहुंचा और वहाँ से वह सम्राट के पास आया ताकि उसके समंक्ष जुझारंसिंह के अकारण आक्रमण उसके अत्याचारों तथा अपने पिता की नृशंस मृत्यु का व्यौरा प्रस्तुत कर सके। शाहजहां ने उसकी शिकायतें ध्यानपूर्वक सुनी तथा जुझारसिंह पर उसे बहुत क्रोध भी आया। यह क्रोध उचित ही था क्योकि उसने बिना उसने बिना राजाज्ञा ही एक सहवर्गीय करद रियासत पर चढ़ाई कर दी थी और इससे भी अधर्म उसका यह कर्म था कि उसने शाही आदेशों की अवहेलना की थी। इसके अतिरिक्त शाहजहां के ध्यान में एक अन्य महत्त्वपूर्ण विचार भी आया। क्या दक्षिण की सीमा पर एक शक्तिशाली राजा को बिना दंडित किए छोड़ देना उचित होगा? परंतु इसके पूर्व कि जुझारसिंह के खिलाफ सैनिक कार्यवाही की जाए सम्राट ने यह भी मुनासिब समझा कि उससे कुछ शर्तें मानने के लिए कहा जाए ओर यदि वह उन शर्तों को स्वीकार कर ले तो उसे क्षमा कर दिया जाएगा। लेकिन जुझारसिंह ने सम्राट की मांगों का अस्वीकार कर दिया। यदि उसे उस सम्पत्ति एवं भूमि से जो कि उसने आठ मास के सतत परिश्रम के बाद प्राप्त की थी वंचित ही होना था तो फिर उसने इतना परिश्रम ही क्यों किया? उसने शाही संदेहवाहक को अनौपचारिक रीति से विदा कर दिया और दक्षिण में अपने पुत्र जगराज को यह कहला भेजा कि वह वहाँ से चुपचाप भाग आए। अत: आखेट के बहाने जगराज दौलताबाद से निकल भागा। बालाघाट के सूबेदार खानेजहां ने तो उसका पीछा न किया किन्तु पाईघाट के अधिकारी खानेदौरां ने अधिक सतर्कता दिखाई और उसने भगोड़ो का जोरों से पीछा किया और मालवा में स्थित अशथा स्थान पर उसका परास्त भी किया। यदि अल्लहावर्दी खाँ ने अवसावधानी न बरती होती और उसने खानेदौरां को सहयोग दिया होता तो जगराज नि:संदेह पकड़ ही

लिया जाता पर वह बच निकला और धामुनी पहुँच गया। जुझारसिंह द्वारा सम्राट की ओर प्रस्तुत की गई शर्तों को अस्वीकार करना तथा जगराज का दक्षिण से चुपके से भागना ऐसी घटनाएं थी जिनके आधार पर विद्रोही के खिलाफ शाहजहां का कड़े कदम उठाना न्यायसंगत ही था। अत: साम्राज्य के तीन विशिष्ट सेनापतियों की कमान में 20,000 योद्धाओं की एक विशाल सेना को यह आदेश हुआ कि बुन्देलखंड में घुसकर सारे राज्य को नष्ट -नष्ट कर डाले। इस विस्तृत सैनिक सज्जा को देखकर जुझारसिंह ने आसफ खाँ से सम्पर्क स्थापित किया और उससे यह कहा कि वह सम्राट से उसको क्षमा दिलवा दे। शाहजहां सुन्दरराय को पुन: ओरछा भेजने को राजी हो गया परंतु इस बार शाही मांगे पहले की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़ी बढ़ी थी। जुझारसिंह से यह कहा गया कि तीस लाख नकद क्षतिपूर्ति के रूप में दे, चौरागढ़ के बदले बयानवां की सरकार समर्पित करें अपने पुत्र जगराज को दक्षिण में खानेजमां की सेवा में तथा अपने पौत्र को जमीन के बतौर दरबार में भेजे। सेनापतियों को यह आज्ञा हुई कि संदेशवाहक की वापसी तक वह कार्यवाही स्थगित रखें।

उपर्युक्त नई शर्तें पहले की शर्तों से कही अधिक कड़ी थी। जुझारसिंह ने उन्हे स्वीकार किया। संभवत: उसका भय प्रदर्शन केवल दिखावटी ही था वार्तालाप एक चतुर चाल थी जिसका उद्देश्य था अपने सैनिकसज्जा की पूर्ति हेतु आवश्यक समय प्राप्त कर लेना। जब जुझारसिंह के उद्वेगकारी आचरण की सूचना सम्राट को मिली तो उसने तुरंत ही अपने अफसरों के नाम पूर्व निर्धारित योजना के अनुरूप अभियान शुरू करने की आज्ञा जारी कर दी। चूंकि तीनों सेनापति समान ही स्तर के थे। इस कारण उनमें पारस्परिक मतभेद की संभावना थी। इस संभावना को निरस्त करने के अभिप्राय से सम्राट ने राजकुमार औरंगजेब को उच्चतम पद पर नियुक्त कर दिया तथा उसके मामा शायस्ता खाँ को उसका संरक्षक (अतालकि) और परामर्श दाता बना दिया। राजकुमार का मनसब 15,000 जात और 5000 सवार किया गया और शाही कर्मचारियों को यह आदेश हुआ कि योजनाओं की कार्यान्वित करने के पूर्व में अनुमति हेतु उन्हें राजकुमार के सामने आवश्य प्रस्तुत किया जाये। यह भी संकेत किया जाता है कि राजकुमार औरंगजेब को यह उत्तरदायी पद इस आशय से प्रदान किया गया था कि भविष्य में उसको दक्षिण का सूबेदार नियुक्त होना था। नि:संदेह मुग़ल वंश मे यह बहुत ही पुरानी परंपरा थी कि शीघ्र राजकुमारों को शासन प्रबंध के अनुभव प्राप्त करने का अवसर दिया जाय

लेकिन औरंगजेब ने इस अभियान में क्रियात्मक रूप से कोई भी भाग न लिया। देखते ही देखते जुझारसिंह का एक-एक किला शाही कर्मचारियों के हाथों में आ गया। जुझारसिह का साहस टूट चुका था। उसमें इतनी हिम्मत शेष न रह गई थी कि चौरागढ़ में रूककर शत्रु से टक्कर ले। शाही सेना के आते ही उसने अपनी तोपे नष्ट कर डाली सारी इमारते धराशयी कर दी और स्वयं शाहपुर भाग गया। वहाँ से उसने लांजी होकर दक्षिण की राह ली। यह सुनते ही शाही अफसरों ने अपनी गतिविधियाँ तेज कर दी और वह शीघ्र ही चौरागढ़ पहुँच गए। खानेदौरां तुरंत ही गढ़ में घुस गया और प्रमुख देवालय पर चढ़कर उसने अजान लगवाई तथा शाहजहां के नाम से प्रार्थना करवाई। अहदाद खाँ तथा अन्य लोगों को किला सौंपकर वह लौट पड़ा और अब्दुल्ला खाँ के साथ जुझारसिंह का पुन: पीछा करने लगा। शाहपूर पहुँचने पर वहाँ के राघव चौधरी ने खानेदौरां को विद्रोहियों को गतिविधि का कच्चा चिट्ठा बता दिया। अत: खानेदौरां और अब्दुल्ला खाँ ने तेजी से कूच किया। राजकुमार औरंगजेब धीरे-धीरे आराम से उनके पीछे-पीछे चलता रहा। वह चंदावल की रक्षा कर रहा था और कर्मचारियों के पास से जो इतिवृत आती थी उसको दरबार में भेज देता था। सम्राट ने राजकुमार को यह आदेश दिया कि वह घामुनी वापस चला आए। खोनदौरां ओर अब्दुल्ला खाँ विद्राहियों का चांदा तक पीछा करते रहे और लगभग उन तक पहुंच भी गए। खानेजहां ने रात्रि में ही उन पर वार करने को कहा पर अब्दुल्ला खाँ ने उसे ऐसा करने से रोक दिया। परिणाम इसका यह हुआ कि जुझारसिंह को समय पर सूचना मिल गई और उसे गोलकुण्डा की राह ली। परंतु शीघ्र ही खोनदौरां ने उसको धर दबोचा। जुझारसिंह का पुत्र दुर्गनसाल जीवित ही पकडा गए लेकिन जुझारसिंह और जगराज ने भाग कर निकटवर्ती जंगलों में शरण ली, परंतु भाग्य ने उनका साथ न दिया। अन्तत: गोडत्रो ने उनका वध कर डाला। खोनदौरां को उनके शव मिल जाए। उसने उनका सिर काट कर दरबार मे भेज दिया। इधर शाहजहां ने सैय्यद खानेजहां को यह आदेश दिया कि वह उस धन सम्पत्ति को खोज निकाले जो कि जुझारसिंह जंगलों और कूपों में गड़ी छोड़ गया था। स्थानीय जनता की निशानदेही के आधार पर उन्होनें धामूनी और दतिया के बीच का सारा इलाका छान डाला और थोड़े ही समय में अट्ठाईस लाख नकद ढुंढ निकला। अंततोगत्वा लगभग तो एक करोड नकद शाही कोष में जमा हुआ। इस प्रकार सम्राट जहांगीर ने जिस बुन्देला वंश की सर्वाधिक सम्पन्न शाखा का पोषण एवं संरक्षण किया उसी के पुत्र शाहजहां ने क्रुरता पूर्वक दु:खाँत कर

डाला। जुझारसिंह उद्दण्ड विद्रोही अवश्य था और वह कड़े दण्ड का भागी भी था। इस विषय पर दो मत नहीं हो सकतें किन्तु उसके जो पुत्र जीवित ही बंदी बना लिए गए थे उन्हें जबरन मुसलमान बनाने तथा उसकी स्त्रियों को दासी बनाकर उन्हें शाही हरम अथवा अमीरों की हवेलियों में कलंकित जीवन व्यतीत करने के लिए विवश करने या मंदिरों को ध्वस्त और अपवित्र करने में शाहजहाँ की कीर्ति धूमिल हुई।

बुन्देलखंड के शेष दुर्गों को अधिकृत करने में अधिक समय नहीं लगा। दतिया पर तो शीघ्र ही मुग़लो का दखल हो गया परंतु झांसी मे जुझाारसिंह के एक अनुगामी बसंत ने आक्रमण कारियो का थोड़ा बहुत विरोध किया। लेकिन विवश होकर दुर्ग रक्षकों को आत्मसमर्पण करना पड़ा। मुग़लों को यहाँ अपार धन सम्पत्ति प्राप्त हुई। गोला बारूद सहित सारा तोपखाना तथा अनाज से भरा भण्डार भी उनके कब्जे में आ गए।

चम्पतराय का विद्रोह

जुझारसिंह के पतन के उपरांत बुन्देलो के इतिहास का क्रम तो खंडित हो जाता है परंतु उनके राजा के विरुद्ध हुए क्रूर अत्याचारों के फलस्वरूप उस प्रान्त की जनता में जो विरोध की भावना जाग्रत हो गई वह आगे चल कर गहरा रंग लाई। शीघ्र ही एक सुयोग्य एवं कर्मठ नेता ने उनको एक छत्रछाया में एकत्र कर मुग़लों को चुनौती देना शुरू कर दिया। इस नेता का नाम चम्पतराय था। यह महोबा के राजा उदयजीत का वंशज था। यद्यपि महोबा का राज्य ओरछा राज्य के चमत्कारी वैभव के सामने फीका पड़ गया था किन्तु धंगा और गंडा की गाथाएं वहाँ अब भी जीवित थीं और समय समय पर जनता को प्रोत्साहन एवं प्ररणा प्रदान करती रहती थी। चम्पतराय के रक्त में वीरता हिलोरे ले रही थी। वह दबंग एवं निडर था। वीरसिंह का मित्र होने के नाते उसने विद्रोह के दौरान जुझारसिंह की यथाशक्ति सहायता भी की थी। जुझारसिंह के दमन के उपरांत उसन उसके पुत्र पृथ्वीसिंह को बुन्देला गद्दी का हकदार घोषित कर दिया। उसे अभी तक मुग़ल नहीं पकड़ पाए थे। अपने उत्साही साथियों के सहयोग से उसने झतरा के मुहालों पर धावे शुरू कर दिए। वहाँ के फौजदार बाकी खाँ ने चम्पतराय के कार्यकलाप को रोकने का भरसक प्रयास किया किन्तु बुन्देलो की छापामार सामरिक नीति ने उसकी सभी योजनाएं विफल कर दी। जब जनवरी सन् 1639 ई० में मध्य शाहजहां आगरा से

लाहौर चल दिया। तब चम्पतराय और भी निर्भीक हो गया। वह बिना संकोच मुग़ल चौकियों पर धावा मारने लगा और अक्सर सरकारी सूबेदारों के काफिलों को लूटने लगा। उसकी लूट-पाट का दायरा सिरौज भिसला और धामूनी तक विस्तृत हो गया। फलतः दक्षिण का मार्ग संकट में आ गया। मजबूर होकर शाहजहां ने विद्रोहियों को घेरने के लिए अब्दुला खाँ को भेजा। अब्दुला खाँ ने चम्पतराय को परास्त करने में एक वर्ष से अधिक घोर परिश्रम किया परंतु उसकी दाल न गली। अंत में अप्रैल सन् 1640 ई में जब उसके गुप्तचरों ने यह सूचना दी कि चम्पतराय और पृथ्वीराज ओरछा और झांसी के बीच के जंगलों मे छिपे हुए है तब अब्दुल्ला खाँ ने विद्रोहियों को तितर-बितर करने के लिए स्वयं ही जाने का विचार किया, परंतु बाकी खाँ ने उसको समझ-बुझा कर अभियान की कमान अपने हाथ में ली और सफलतापूर्वक बुन्देलों पर छापा मार कर पृथ्वीराज को पकड़ लाया। शाहजहाँ की आज्ञानुसार उसे ग्वालियर के बंदीगृह में कैद कर दिया गया। लेकिन बागी चम्पतराय हाथ न आया तथा बुन्देलखंड में उत्पात मचाता रहा।

जिसे ढीले-ढीले ढंग से अब्दुला खाँ ने अभियान का संचालन किया उससे शाहजहां बहुत ही असंतुष्ट हुआ अतः उसे उसके स्थान पर बहादुर खाँ रूहेला को नियुक्त कर दिया। यह एक साहसी और जोशीला युवक था। इसने अपना कार्य बड़े ही उत्साह से शुरू किया और विद्रोहियों की टुकड़ी को आनन-फानन में पराभूत कर दिया। परंतु उसके प्रतिद्वन्द्वियो ने सम्राट से उसकी चुगली की और यह समझाया कि यदि बहादुर खाँ को कुछ समय और बुन्देलखंड में रहने दिया गया तो वह वहाँ दूसरा रूहेलखंड ही बना लेगा। अतः सम्राट ने उसे वापस बुला लिया और अब्दुल्ला खाँ को वहाँ पुन भेज दिया। किन्तु स्थिति पूर्ववत् गंभीर ही बनी रही। चम्परातपय जाल में न फंसा। क्योंकि उसे बुन्देलखंड की जनता का सम्पूर्ण सहयोग प्राप्त था। अब सम्राट की यही उचित प्रतीत हुआ कि वह पहाड़सिंह को ही अपनी जन्मभूमि में उपद्रव के दमन का भार सौंप दे। वह वीरसिंह देव का पुत्र था इस कारण अपने भाई बंधुओं का समर्थन प्राप्त कर सकता था। फलतः चम्पतराय का पलड़ा हल्का पडने की संभावना थी। दूसरे वह बुंदेलखंड का निवासी था और वहाँ की चप्पा चप्पा भूमि से परिचित था तथा विद्रोहियों के ही अस्त्र शस्त्रों से संघर्ष कर सकता था। शाहजहाँ का यह अनुमान सही निकला। मई सन् 1642 ई में पहाड़सिह बुंदेलखंड आ गया और एक मास के भीतर ही चम्पतराय ने आत्मसमर्पण कर दिया। शाहजहाँ की अनुमति से वह पहाड़सिंह की सेवा में दाखिल हो गया।

चम्पतराय बढ़ती हुई लोकप्रियता के कारण शीघ्र ही पहाड़सिंह उसके प्रति ईर्ष्यालु हो गया। अत: चम्पतराय ने उसकी सेवा त्याग दी और राजकुमार दाराशिकोह की सेवा में चला गया। पहाड़सिंह से अनवन होते हुए भी चम्पतराय उससे दिखाने को सौहार्द संबंध बनाए रहा। अत: एक बार जब चम्पतराय उससे भेंट करने आया तब उसने पहाड़सिंह उसको विष देने का असफल प्रयास किया। एक अन्य अवसर पर उसने चम्पतराय पर चोरी का आरोप लगाकर उसे अपमानित भी किया। चम्पतराय ने इसकी शिकायत राजकुमार दाराशिकोह से की। मामले की छानबीन करने के बजाय राजकुमार ने पहाड़सिंह की बात का ही विश्वास किया और चम्पतराय की जागीर छीन ली फलत: वह राजकुमार से विमुख हो गया और उसने मुग़लों से अपनी शत्रुता पुन: शुरू कर दी। दी। वह दारा से बदला लेने के अवसर की प्रतीक्षा करता रहा। यह अवसर उसे तब मिला जबकि उत्तराधिकार का युद्ध छिड़ा। उसने औरंगजेब को न केवल वह सुनसान घाट ही दिखाया जहाँ से औरंग जेब ने चम्बल नदी पार की बल्कि सामूगढ़ की लड़ाई में वह औरगजेब का ही पक्ष लेकर लड़ा। इस प्रकार उसने प्रतिशोध की प्यास बुझाई। परंतु औरंगजेब से मैत्री केवल एक क्षणिक अनुबंध ही था। उसके सिंहासनसीन होने के उपरांत चम्पतराय के प्रसिद्ध पुत्र छत्रसाल ने मुग़ल सत्ता की चुनौती दी और बुंदेलखंड में डट कर विद्रोह किया।

शाहजहां की धार्मिक नीति एवं उसका प्रभाव

अकबर की धार्मिक नीति उदार थी और जहांगीर को धर्म के विषय में उपेक्षा थी परंतु शाहजहां कट्टर मुसलमान था। उसकी माता और दादी राजपूत महिलायें थी परंतु इसका उस पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। अकबर की मृत्यु के समय शाहजहां की आयु केवल 12 वर्ष की थी। इसलिए अकबर की उदार नीति से भी वह प्रभावित नहीं हो सकता था। तख्त पर बैठते समय वह 36 वर्ष का हो गया था इसलिए वह स्वयं अपनी ही नीति चला सकता था। जैसे जहांगीर ने सुन्नी मुसलमानों को संतुष्ट करने के लिए राज्याभिषेक के बाद ही कुछ नियम जारी किए थे। उसी प्रकार शाहजहां ने भी तख्त पर बैठते ही सिजदा बंद कर दिया। वह समझता था कि सिजदा केवल खुदा को ही करना चाहिए। इसी प्रकार उसने जमीन बोस का तरीका भी बंद कर दिया। इन बातों से कही अधिक महत्त्वपूर्ण है उसका गैर मुसलमानों के प्रति रवैया। हिंदू मंदिरों को अपवित्र करने और उन्हें ध्वस्त करने की प्रथा ने शाहजहां के काल में एक व्यवस्थित रूप धारण कर लिया। यद्यपि इस

प्रथा का पुनरूत्थान जहांगीर के शासनकाल में ही हो गया था। अब्दुल हमीद लाहौरी के अनुसार शाहजहाँ ने सबसे पहले जनवरी 1633 में अपने पूरे साम्राज्य में नवनिर्मित मंदिरों को गिरा देने का हुक्मनामा जारी किया। कहा जाता है कि केवल वाराणसी में ही बहत्तर मंदिरों को ध्वस्त कर दिया गया। काजवीनी के अनुसार इस आदेश के बाद नए मंदिरों के निर्माण या पुराने मंदिरों के जीर्णोद्धार के काम पर पूरी तरह पाबंदी लगा दी गई। बर्नियर ने कश्मीर के मंदिरों को गिराने की बात का उल्लेख किया है। काजवानी जिन अन्य पाबंदियों का उल्लेख करता है वे है- हिन्दुओं को मुसलमानों की शैली में कपड़े पहनने की मनाही, खुले में पर्दे में शराब बेचने या पीने पर पाबंदी, मुस्लिम कब्रिस्तान के पास श्मशान बनाने या सती होने देने पर रोक तथा मुस्लिम युद्ध-दासों की खरीद पर प्रतिबंध। सन् 1634 मे शाहजहां ने यह पाबंदी भी लगवा दी कि कोई मुसलमान लड़की किसी हिन्दू मर्द को नहीं ब्याही जा सकेगी और अगर ऐसा हुआ तो उस लड़की को हिन्दू घर से वापस बुला लिया जाएगा। किन्तु यदि वह हिंदू मुसलमान बन जाए और उस मुसलमान लड़की से हुई शादी को फिर इस्लामी रस्मों रिवाज से पूरा करा ले तो वह उस लड़की को अपने साथ रख सकता है। इस प्रकार शाहजहां की धार्मिक नीति में अकबर और जहांगीर की नीतियों से बहुत परिर्वतन आ गया। किंतु इस नीति का प्रभाव क्षेत्र बहुत ही सीमित रहा। राजधानी के आसपास के सुबों में तो इस नीति का अनुपालन होता रहा किंतु साम्राज्य के दूर दराज के हिस्सों में इन आदेशों का कड़ाई से पालन नहीं हो सका। कुछ स्थानों में तो हिन्दुओं के साथ समझौता भी हो गया। गौ हत्या निषेध संबंधी अकबर और जहांगीर के आदेश शाहजहां ने वापस ले लिए। किंतु यह निषेघ खंभात में लागू था और इस छूट के लिए हिन्दुओं को भारी रकम चुकानी पड़ी। मानरीक ने उल्लेख किया है कि हिंदू बहुल स्थानों में पशु वध के विरुद्ध कड़ी निषेधाज्ञा लागू थी। उसके अनुसार तीर्थयात्रा कर भी अस्तित्व में था।

शाहजहां के शासनकाल में मक्का और मदीना के शरीफ और लोगों के हित लाभ के लिए भारी भारी रकमें नियमित रूप से भेजी जाती थी। मोहम्मद वारित के मतानुसार शाहजहां के गद्दीन शीन होने से लेकर 1651 तक मक्का को लगभग दस लाख रुपये भेजे गए। रुपये भेजने का विचित्र तरीका यह थी कि जब कभी कोई बड़ा अधिकरी हज करने निकलता तो उसे तिजारती माल सौंप दिया जाता। मक्का में उसी बिक्री पर लगभग शतप्रतिशत मुनाफा हो जाता। मुनाफा और मूल

पूंजी मक्का और मदीना के शरीफ और गरीबों-कंगालों के बीच बराबर -बराबर बांट दिए जाते है। लाहौरी और काजवीनी जैसे भारतीय ऐतिहासिक दस्तावेजों में शाहजहां को एक अत्यन्त आदर्श बादशाह बतलाया गया है। वे शाहजहाँ को शरीयत का रक्षक और हिन्दुस्तान में इस्लाम का उद्धारकर्ता बताते हैं। उन्होनें शाहजहाँ की धर्मपरायणता और प्रजा की भलाई के लिए सतत् तत्परता की प्रशंसा की तथा उसके दोषों का क्षमा करते हुए उसके कुछ अप्रिय कृत्यों को तत्कालीन राजनीतिक सामाजिक नैतिकता के आधार पर उचित भी ठहरा देते हैं। शाहजहाँ के बारे में एक तथ्य बिल्कुल सही है कि उसने अपनी धार्मिक नीतियों और राजनीतिक निर्णयों में उलेमाओं को भाग लेने का अवसर नहीं दिया। शाहजहां सभी मुसलमान त्यौहार बहुत ठाट बाट के साथ मनाता और इन अवसरों पर दान देता था। इन उत्सवों में हिन्दू भी उपस्थित होते थे। मक्का जाने वाले यात्रियों की देख-रेक्ष करने के लिए एक अफसर नियुक्त किया गया जो मीर-ए-हज कहलाता था। सदर उल सदूर (धार्मिक मामलों का निरीक्षक) चार हजार का मनसबदार था। शाहजहां कट्टर सुन्नी थी और उसने घोषणा की थी कि जो लोग इस सम्प्रदाय का अनुसरण नहीं करेगें उन्हे नष्ट कर दिया जाएगा (खाफीखाँ)। उसने गोलकुण्डा के सुल्तान कुतुब उल मुल्क को सुन्नी धर्म स्वीकार करवाया (खाफीखाँ)। परंतु उसके लिए यह संभव नहीं था कि जो प्रथाये पहिले से जारी हो गई थी उन्हें बंद कर दिया जाये। इन्हें बंद करने से जनता में असंतोष फैलने की संभावना थी और उसके ठाट-बाट में भी कभी आ सकती थी इसलिए उसने झरोखा और तुलादान जारी रखा। वह ज्योतिषियों में मुहूर्त भी पूछा करता था तथा चित्रकला का संपोषक था। वह चाहता था कि इलाही पंचाग बंद कर दिया जाये परंतु वह बंद नहीं हुआ। अकबर और जहांगीर हिन्दू राजाओं के राज्याभिषेक का टीका लगाया करते थे परंतु शाहजहां इसको इस्लाम धर्म के विरुद्ध समझाता था इसलिए यह काम उसने प्रधानमंत्री के सुपुर्द कर दिया था। (मासीर ए आलमगीरी) शाहजहां ने यह आदेश भी जारी किया था कि राजसेवा में केवल मुसलमान ही भर्ती किए जायं (खाफीखाँ) परंतु यह बात भी नहीं चली। उसके राज्य में 51 मनसबदार हिन्दू थे। इनमें चार 5000 के एक मनसबदार 4,000, का नौ मनसबदार 3000 के एक ढाई हजार का, नौ मनसबदार 2000 के, नौ मनसबदार 1500 वाले तथा 118 मनसब दार एक हजारी थे। इनमें 14 मनसबदार तो हिन्दू राजा थे ओर चार दीवान थे। जोधपुर नरेश महाराजा जसवंतसिंह का मनसब 6000का था और वह उस समय का सबने बड़ा उमराव

था। इसके अलावा शाहजी भौसला को 6000 का मनसब दिया गया था ऐसे बड़े प्रलोभन से ही उसने शाही सेवा करना स्वीकार किया था परंतु वह तत्काल ही पीछे हट गया था। वह व्यवस्था कार्यान्वित नहीं हुई। शाहजहां ने जजिया कर तो पुनः जारी नहीं किया परंतु यात्रीकर जो अकबर और जहांगीर के समय में नहीं दिया जाता था फिर से लगा दिया। तब बनारस के प्रसिद्ध विद्वान कवीन्द्रआचार्य की अध्यक्षता में एक शिष्टमंडल ने बादशाह के पास आकर इस कर का विरोध किया जिसके परिणामस्वरूप यह पुनः बंद कर दिया गया।

शाहजहां की यह धर्मान्धता तूफान की भांति आंरभ हुई और तूफान की भांति कम भी हो गई। पिछले दो पुश्तों से जारी धार्मिक उदारता की नीति को बदलना आसान नहीं था। इसके अतिरिक्त दाराशिकोह पर शाहजहां का बड़ा प्रेम था। इसलिए शाहजहां पर से शाहजादे की उदारता का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता था। दाराशिकोह इतना उदार था कि उसने मथुरा के केशवराय मंदिर को एक जीना बनाकर भेंट किया था। जयपुर नरेश महाराजा मानसिंह की माता का अगस्त 1639 में बंगाल में देहांत हुआ तो उसकी छतरी के लिए शाहजहां ने 200 एकड़ जमीन प्रदान की थी। 1647 केबाद गुजराती हिन्दू मंदिर भी दुबारा बना लिए गए।

इस समय हिन्दू लोग मुसलमानों को अपने धर्म में प्रविष्ट करने में लग गये थे। यह बात शाहजहां का सहन नहीं होती थी। कश्मीर से वापिस लौटते समय उसको मालूम हुआ कि भदौरी और किम्बार के हिन्दुओं ने मुसलमान लड़कियों से विवाह करके उन्हे हिन्दू बना लिया और मरने पर इनको जलाया जाता है दफनाया नहीं जाता। जहांगीर को भी इस बात का पता था और उसने प्रथा को बंद करने का प्रयास किया था परंतु वह सफल नहीं हुआ था। शाहजहां इस प्रथा से इतना क्रुद्ध हुआ कि उसने इसको कानून के विरुद्ध घोषत किया और आदेश दिया कि मुसलमान लड़कियों को उनके पतियों से छीन लिया जाय और इन हिन्दू पतियों को अर्थदण्ड दिया जाए। परंतु यदि वे इस्लाम धर्म स्वीकार कर ले तो उन्हें मुक्त कर दिया जाए। इसी प्रकार की प्रथा गुजरात में भी जारी की गई थी, जो शाहजहां ने बंद करवाई। कश्मीर में ऐसे चार हजार विवाहों और गुजरात में चार सौ विवाहों का पता लगा था। शाहजहां के आदेशों का फिर भी उल्लघंन होता रहा। बैरागियों ने बहुत से मुलसमानों को हिन्दू बना लिया था। इसी प्रकार सिक्ख गुरू गोविन्दसिंह ने भी 1645 से पहिले कितने ही मुसलमानों को सिक्ख धर्म में ले लिया था। दबस्तान ए मजाहिब मे लिखा है कि कीरतपुर के पास की पहाड़ियों में एक व्यक्ति भी

मुसलमान नहीं रहा था सबको हिन्दू बना दिया गया था। शाहजहां के गद्दी पर बैठने के बाद सिक्खों के साथ मुग़लों की पुनः ठन गयी। शाहजहां ने मुसलमानों की सिक्ख बनाये जाने पर पाबंदी लगा दी। लाहौर में अवस्थित प्रसिद्ध सिक्ख बावली को मिट्टी से भरवा दिया गया। शाहजहां के कार्य गुरू हरगोविन्द को सहन शक्ति के बाहर थे। उन्होने मुग़लों के विरुद्ध पुनः तलवार धारण कर लिया। सिक्ख और मुग़लों के बीच 1628, 1631 एवं 1634 ई में क्रमशः अमृतसर लाहौर एवं कर्तारपुर में युद्ध भी हुए। प्रारंभ में मुग़लों के विरुद्ध सिक्ख गुरू को सफलता मिलीं किंतु अंतिम युद्ध में उनकी पराजय हुई इस पराजय के बाद गुरू ने काश्मीर में जाकर शरण ली और वहाँ कीर्तिपुर नामक शहर को बसाया। अपने जीवन के अंतिम काल में वे यही रहते थे। गुरू हरगोविन्द का निधन 3 मार्च 1644 ई में कीर्तिपुर में ही हुआ। गुरू हरगोविन्द ने अपने पौत्र हरराय को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था। अस्तु उनकी मृत्यु के बाद हरराय 1645 ई में चौदह वर्ष की अवस्था में सिक्खों के सातवे गुरू बने। उन्होनें शांतिमय प्रचार की नीति को अपनाया और मुग़लों के साथ शांति स्थापित रखी।

शाहजहां की अभिलाषा थी कि अन्य धर्मावलम्बी लोग इस्लाम स्वीकार करें। इस काम के लिए उसने एक पृथक विभाग कायम किया था। (अब्दुल हमीद लाहौरी बादशाहनामा,) जो बंदी लोग मुसलमान बनने को तैयार होते थे, उन्हें मुक्त कर दिया जाता था। पुर्तगालियों के साथ जब युद्ध हुआ उनमें से कई सौ लोग बंदी बना लिए गए थे और उनसे कहा गया था कि जो लोग इस्लाम धर्म स्वीकार कर लेगें उन्हें मुक्त कर दिया जावेगा। जो हिन्दू इस्लाम धर्म स्वीकार कर लेता था वह हिन्दू कानून के अनुसार अपनी सम्पत्ति से वंचित हो जाता था। परंतु शाहजहां ने यह नियम बना दिया था कि यदि कोई हिन्दू इस्लाम धर्म स्वीकार करना चाहता हो तो उसके कुटुम्बियों की ओर से उसके मार्ग में कोई रूकावट नहीं आनी चाहिए। अकबर और जहांगीर ने हिन्दुओं की भावना का आदर करने के लिए गौवध सारे देश में से तो नहीं किन्तु कितने ही क्षेत्रों में बंद करवा दिया था। शाहजहां ने भी यह प्रथा जारी रखी। बंगाल में कुछ मुसलमानो ने गौवध किया तो उनके हाथ कटवा दिए गये थे। ऐसा कठोर दण्ड शायद इसलिए दिया गया होगा कि बंगाल में शाही आदेश का उल्लंघन किया जाता होगा। अन्य प्रांतों में अर्थदण्ड दिया जाता था।

उत्तराधिकार की लड़ाई और धार्मिक मामले

शाहजहां के बेटों (दारा, शिकोह, शुजा और मुराद बख्श) के बीच उत्तराधिकार की जो लड़ाई (1658-59) छिड़ी उसे मुग़लों की धार्मिक नीति का एक निर्णायक मोड़ माना जाता है इसे अनेक दृष्टिकोणों से भी देखा गया है। इतिहासकारों का एक वर्ग इस दो परस्पर विरोधी नीतियों के बीच की लड़ाई मानता है - धार्मिक सहिष्णुता और मुस्लिम धर्माधता लेनपूल के अनुसार ''दारा लघु अकबर सिद्ध होता जबकि श्रीराम शर्मा औरंगजेब के राज्यारोहण को मुस्लिम धर्मदर्शन की विजय घोषित करते है। इस कथन की पुष्टि पूवर्वती इतिहासकार जदुनाथ सरकार के उस विवरण से हो जाती है जिसमें औरंगजेब के शासनकाल के पूवार्ध का विश्लेषण मिलता है। सरकार के अनुसार इस काल का चरम बिंदु तब आया जब जजिया पुनः लगाया गया और उसने मारवाड़ को ''हड़प लेना'' और मेवाड़ को अधीन करना चाहा। औरंगजेब ने अपनी धर्माधता की वजह से अन्य कट्टर उपाय भी अपनाए, जो भारत में इस्लामी राज्य स्थापित करने का एक ''कष्टपूर्ण''प्रयत्न था। वस्तुतः इस प्रयत्न का अर्थ था संपूर्ण राज्य का इस्लामीकरण और हर प्रकार के विरोध की समाप्ति इतिहासकारों का एक अन्य वर्ग इस उत्तराधिकार की लड़ाई को मुख्य रूप से दो समुदायों के बीच का संघर्ष मानता है।

यह जान लेना भी महत्त्वपूर्ण है सामूगढ़ की लड़ाई (29 मई 1658) को निर्णायक रूप से जीत लेने के पहले दारा शिकोह पर अपधर्मी होने का जो आरोप लगाया जाता है उसे औरंगजेब अधिक महत्त्व नहीं देता था। यह भी सही है कि अपने छोटे भाई मुराद बख्श के साथ उसने जो 'अहदनामा' (समझौता) किया था उसके प्राक्कथन में दाराशिकाहे की भर्त्सना रईस अल मुलाहिदा (अपधर्मी शाहजादा) कह कर की गई और औंरंगजेब ने उस अपधर्मी से लोहा लेने के लिए बुरहानुपर के शेख अब्दुल लतीफ से आशीर्वाद मांगा था। पर अतहर अली की मान्यता है कि ये औपचारिक घोषणाएं मात्र थी। अपने बड़े भाई के खिलाफ आरोप पत्र में औरंगजेब दारा को इस बात के लिए दोषी ठहराता है कि दारा की इच्छा औरंगजेब को निष्फल करने की या खत्म कर देने की है। सामूगढ़ की लड़ाई के बाद तब तक बताए जा रहे इस कारण को कि शाहजहां के परामर्शदाताओं में से दारा को बदलना आवश्यक है कोई विशेष कारण गढ़ना जरूरी हो गया। तब दारा पर यह दोष मढ़ा गया कि वह अपधर्मी है और इस अपराध को कभी माफ नहीं किया जा सकता। आलमगीर नामा का लेखक मुहम्मद काजिम बताता है कि दारा का यही अपराध उसकी हत्या के लिए पर्याप्त था। इस बात के भी प्रमाण नहीं मिलते कि गद्दी के दावेदारों में से

किसी के भी कारनामे या कि उमरा वर्ग में से किसी गुट का व्यवहार ऐसा था जिनके आधार पर यह माना जा सके कि उत्तराधिकार की लड़ाई वस्तुतः दो धार्मिक मतवादों के बीच की लड़ाई थी। ए.एल श्रीवास्तव और आई० एच. कुरेशी के इस कथन में भी सचाई नजर नहीं आती कि सभी मुसलमान अधिकारियों ने बिना किसी भेदभव के औरंगजेब की तरफदारी की और राजपूतों ने दारा की। इसके विपरीत अतहर अली ने तो सांख्यिकीय आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि औरंगजेब बड़ी संख्या में राजपूतों का सहयोग प्राप्त करने में सफल हुआ था। के०आर० कानूनगो इसी तथ्य की स्थापना करते है जिस पर संदेह करने की गुजाइश नहीं है।

जहां तक इस विचार का संबंध है उत्तराधिकार की लड़ाई में शिया और सुन्नियों का भी संघर्ष था, केवल बर्नियर और मनूकी की शुजा का पक्ष लेते नजर आते है। चूंकि मनूकी ने बर्नियर को पढ़ा था इसलिए यह माना जा सकता है कि उक्त विचार मूलतः बर्नियर का ही होगा। रामप्रसाद त्रिपाठी का यह लिखना कि "कहा जाता है कि शुजा की मुख्य शक्ति फारसियों को तुष्ट करने में निहित थी, क्योंकि उसने शिया पंथ और उसके आचार विचार अपना लिए थे।" अपने आप ही गुमराह होना साबित करता है। यह बात इसलिए भी ठीक नहीं है क्योंकि मीर जुमला और शाइस्ता खाँ औरगजेब के पक्ष में थे और शाह नवाज खाँ सफवी दारा के पक्ष में। अतहर अली क्रे अनुसार इस मामले का सही तथ्य यह है कि उमरा वर्ग में सभी धर्मों और प्रजातियां वाले वर्गों मे वफादारी बंटी हुई थी। कुछ वर्ग वाले दारा का पक्ष ले रहे थे तो कुछ औरगंजेब का। 23 हिंदू उमरा (11राजपूत,10मराठे, 2 अन्य) औरंगजेब और मुराद के पक्ष मे थे तो 24 हिन्दु उमरा (22 राजपूत और 2 मराठे) दाराशिकोह के। यह संख्या यह नहीं बताती कि पक्षपोषक उमरा वर्ग धार्मिक आधार पर बंटा हुआ था। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि गद्दी प्राप्त करने के औरंगजेब के प्रयत्न हिन्दुओं के या राजपूतों के खिलाफ नहीं थे। यह भावना आगे भी लंबे समय तक बनी रही जिसके उदाहरण है जयसिंह ओर जसवंत सिंह का क्रमशः दकन और गुजरात के सूबेदार के सम्मानजनक पदों पर नियुक्त किया जाना तथा राजा रघुनाथ को साम्राज्य का दीवान पद (वित्त मंत्री) दिया जाना। मेवाड़ के राणा राजसिंह से उसके घनिष्ट संबंध थे। इस प्रकार इस मान्यता में कोई सार नजर नहीं आता कि औरगजेब की धार्मिक नीति मे जो परिर्वतन उसके शासनकाल के अंतिम वर्षों मे दिखाई पड़ता है उसकी शुरूआत उत्तराधिकार की

लड़ाई के साथ ही हो चुकी थी और यह भी कि औरगंजेब की हिंदू विरोधी भावना शाहजहां के काल में शाहीसेवा मे राजपूतों या हिन्दूओं की लगातार बढ़ती संख्या की प्रतिक्रिया की उपज थी।

इस प्रकार स्पष्ट है कि उत्तराधिकार की लड़ाई के उद्देश्य चाहे जो भी रहे हो, पर इसका धार्मिक उद्देश्य कदापि नहीं था फिर भले ही औरंगजेब ने (दारा के खिलाफ) मुराद का समर्थन जुटाने के लिए कट्टरवादी घृणा का भाव प्रदर्शित करने का प्रयत्न क्यों न किया हो। उसकी सर्वोच्च महत्त्वाकांक्षी तो राजगद्दी प्राप्त करना ही थी। इसमें कोई शक नहीं कि व्यक्तित्व की कसौटी पर दारा और औरंगजेब में स्पष्ट विरोध था। दारा में अकबर की ही तरह बौद्धिक रूझान था, एक एक सर्वज्ञात तथ्य है कि जबकि औरंगजेब में क्रमशः कट्टरपन बढ़ता गया या कम से कम वह उसे प्रकट तो करने ही लगा था। कितने शिया और सुन्नी अथवा हिन्दु और मुसलमान दोनों पक्षों में थे इससे अधिक अंतर नहीं पड़ता। वास्तव में दोनों पक्षों में से किसी ने भी इस डर से धर्म का मामला नहीं उठाया कि कहीं कोई वर्ग उनसे दूर न हो जाए।

◆◆◆

औरंगजेब एवं राजपूत

सत्रहवी शताब्दी के आखरी पचास वर्ष में हिन्दुस्तान के जितने बड़े इलाके में तैमूरी राजवंश के अंतिम प्रतापी बादशाह औरंगजेब का राज्य रहा उतना पहले किसी मुग़ल बादशाह का नहीं रहा। उसके आधिपत्य में मुग़ल साम्राज्य की सीमाएं अपनी पराकाष्ठा में पहुँच गई थी। उत्तर पश्चिम में गजनी से लेकर पूर्व में चटगांव तक तथा उत्तर में काश्मीर से लेकर दक्षिण में कर्नाटक को अंतिम छोर तक फैले इस विशाल साम्राज्य का अस्तित्व सिर्फ और सिर्फ औरंगजेब के ही कारण था। इसलिए उसकी मृत्यु के मात्र दस वर्ष के अंदर ताश के पत्ते की तरह भरभराकर अनके छोटे बड़े प्रांतीय राज्यों में टूट गया। बाबर ने जिस सुगठित साम्राज्य का स्वप्न देखा था और अकबर ने जिसकी बुनियाद खड़ी की उसके विनाश के बीज औरंगजेब ने अपने जीवनकाल में ही बो दिए थे। वस्तुत: औरगंजेब एक असफल शासक ही सिद्ध हुआ। स्वयं औरंगजेब अपने अंत समय में अपनी विफलता को महसूस करने लगा था। औरगंजेब ने अपने पुत्र शाह आजम को लिखा था (तारीख-ए-इदरातखाँ) ''वृद्धावस्था आ पहुँची निर्बलता ने मुझे दबा लिया है... मेरा समय शक्ति में व्यतीत हुआ है परंतु अब केवल शोक ही पीछे रह गया है... भविष्य की आशाएं नष्ट हो रही है... शिविर और अनुचर असहाय और संत्रस्त है मेरी भांति वे भयभीत है और पारे के समान विचलित है... मुझे अपनी मुक्ति के विषय में डर है न जाने मुझ क्या यातनाएं मिलेगी। यद्यपि मुझे ईश्वर की दया और उदारता पर विश्वास है तथापि अपने कर्मों के कारण भय ने मुझे घेर रखा है ''कुछ इसी तरह का पत्र औरंगजेब ने अपने एक दूसरे पुत्र कामबख्श को भी लिखा था। (तारीख-ए-इदरातखाँ)... ''मैं अपने पापों और त्रुटियों का फल अपने साथ ले जा रहा हूं ....शिविरो और अनुचरों के विषय में मैं भयभीत हूं.... मैने अनेक अपराध किए है न जाने मुझ क्या दण्ड मिलेगा... मानव जाति का रक्षक ही शिविर की रक्षा करेगा।'' ये दोनों पत्र औरगंजेब के अंतिम पत्रों में से है। इन वर्गों में एकाकी और असफलता से भरे औरंगजेब की व्यथा स्पष्ट देखी जा सकती है जैसा कि जदुनाथ सरकार लिखते है''औरंगजेब का जीवन एक लम्बी दुखाँत कहानी थी वह एक ऐसे व्यक्ति की कहानी थी, जो जीवन भर अदृश्य परंतु निष्ठुर, कठोर भाग्य के साथ सफलतापूर्वक लड़ता ही रहा और जिसने यह दिखा दिया कि किस प्रकार

कठिन से कठिन पुरुषार्थ भी समय चक्र के समक्ष विफल हो जाता है।'' शाहजहां की स्वर्ण युग'' औरंगजेब के दीर्घशासन में धूमिल पड़ गया और उस अंतिम महान मुग़ल सम्राट की मृत्यु के समय उसके भीतर छिपा हुआ लोहा दिखायी पड़ने लगा। कहा जाता है स्वर्णजटित कब्र के भीतर कीड़े मकोड़े निवास करते है और प्रत्येक चमकती वस्तु सोना नहीं होती। यही बात मुग़ल साम्राज्य के संबंध में चरितार्थ हुई। (एस आर शर्मा)

औरंगजेब के जीवन के प्रारंभिक 40 वर्ष साम्राज्य के उच्चतम पद (अर्थात् बादशाह) हेतु उपयुक्त योग्यता के अर्जन करने मे लगातार कठिन आत्मप्रशिक्षण में ही व्यतीत हुए। उत्तराधिकार युद्ध में उसकी योग्यता एवं शक्ति की कठिन अग्निपरिक्षा हुई जिसमें उसकी वीरता साहस एवं बुद्धिमानी ने दिल्ली की बादशाहत उसे दी। औरंगजेब के शासन का प्रारंभिक पचीस वर्ष इक्की दुक्की घटनाओं को छोड़ शांति और समृद्धि का ही रहा तब औरगंजेब की कीर्ति सर्वोच्चता पर पहुँच गई मालूम सी पड़ती है। लेकिन उसके शासन के अंतिम पचीस वर्षों में यह सारी समृद्धि दक्षिण के विनाशकारी असफल युद्धों की भेंट चढ़ गई। जब हम अकबर और औरंगजेब की तुलना करते है तो हमारे समक्ष स्पष्ट हो जाता है कि औरंगजेब ने अकबर के किये कराये को उलट देने का, नाश कर देने का संकल्प किया था और उसे अपने उद्देश्य में संघातक सफलता मिली।

औरंगजेब का शासनकाल

खाफी खाँ (मुतंखब-उल-लुबाब) के अनुसार औरंगजेब का जन्म 1028 हिजरी (1619ई०)को दोहद नामक स्थान पर जो अहमदाबाद और मालवा के सूबों की सीमा पर स्थित है, हुआ था। उस समय उसके पिता शाहजहां दक्षिण के सूबेदार थे। लेकिन जदुनाथ सरकार के अनुसार औरंगजेब का जन्म दोहद में 15 जीकाद, सन् 1027 अर्थात् 24 अक्टूबर ईसवी सन् 1618 को हुआ था। शाहजहां और अर्जुमंद बानों मुमताज महल की चौदह में से छठवी संतान औरंगजेब अपने भाईयों से हुए उत्तराधिकार युद्ध में विजयी होकर एवं अपने पिता शाहजहां को कैदकर 1 जिलकदा,1068 हिजरी (21 जुलाई सन् 1658 ई०) को अपने पिता के सिंहासन पर बैठा। लेकिन उसने अपना विधिवत राज्याभिषेक 24 रमजान 1069 हजरी (5जून सन् 1659 ई०) को अब्दुल मुजफ्फर मुहीउद्दीन मुहम्मद औरंगजेब बहादूर ''आलमगीर पादशाहे गाजी'' की ऊंची उपाधि के साथ करवाया।

शाहजहां ने अपने विद्रोह के समय जून 1626 ई० में बादशाह जहांगीर के पास लाहौर में 8 वर्ष के औरंगजेब को बंधक के रूप में भेजा था जहाँ से उसे फरवरी 1628 ई में मुक्ति मिली थी। इसी वर्ष से उसकी विधिवत शिक्षा दीक्षा प्रारंभ हुई। उसके अध्यापकों में गिलम का मीर मुहम्मद हाशिम प्रमुख था। शाहजादे ने शीघ्र ही कुरान और हदीस का अच्छा परिचय प्राप्त कर लिया और नस्ख लेखन शैली में सिद्धहस्त हो गया। उसके लिखने की नस्तलीक और शिकस्त शैलियों भी बहुत अच्छी थी उसे कविता से अरूचि थी। लेकिन उपदेशात्मक एवं नीति कविताओं की उसने कभी उपेक्षा नहीं की। औरंगजेब को संगीत चित्रकारी और ललित कलाएं पसंद नहीं आती थी। अपने पिता के उलट (जिसे स्थापात्य कला से अत्यधिक प्रेम था और जिसने दिल्ली का लालकिला, आगरा का ताजमहल जैसी विश्वविख्यात इमारतों आदि का निर्माण कराया था।) उसे स्थापत्य कला से कोई प्रेम नहीं था और उसके राज्य मे कोई भी उल्लेखनीय सुंदर मस्जिद भवन या मकबरा नहीं बनाया गया।

उसके बचपन की सबसे उल्लेखनीय घटना उसके धैर्य पूर्ण साहस की प्रदर्शन है। यह घटना उस समय घटी थी जब आगरा के किले के बाहर यमुना के किनारे हाथियों की एक लड़ाई में एक क्रुद्ध हाथी ने उस पर 28 मई 1633 ई० को आक्रमण कर दिया था। विजयी हाथी अपने प्रतिद्वंद्वी को भगाकर औरंगजेब पर बुरी तरह झपटा। औरंगजेब ने दृढ़ता के साथ अपने धोड़ो को भागने को रोका। अपने भाले से हाथी के मस्तिक पर वार कर दिया। हाथी के दांत के एक झटके ने उसके घोड़े को भूमि पर पटक दिया। परन्तु औरंगजेब ठीक उसी समय पर काठी से कूद पड़ा और फिर से हाथी का सामना किया। ठीक उसी समय सहायता आ पहुँची। हाथी भाग गया और राजकुमार बच गया। सम्राट ने औरंगजेब को उसके वजन के बराबर स्वर्ण प्रदान करके पुरस्कृत किया। शांहजहां ने दुस्साहस के लिए प्यार से डांटा तो शाहजादे ने उत्तरं दिया '' इस लड़ाई मैं मारा जाता तो कोई लज्जा की बात नहीं होती... मृत्यु सम्राटों के ऊपर आवरण डालती है।

13 दिसम्बर 1634 ई०को ओरंगजेब ने शाही सेना के साथ दस हजार घुड़सवारों के रूप में प्रथम नियुक्ति प्राप्त की। उस समय वह केवल सोलह वर्ष का था। अगले सितम्बर में उसे ओरछा के राजा जुझार सिंह और उसके पुत्र विक्रमादित्य के विरुद्ध चढ़ाई में युद्ध की कला सीखने को भेजा गया। ये दोनो

बुर्देले सरदार वर्ष के अंत में पूरे तरह से अंत कर दिए गए। 14 जुलाई 1636 ई० से 28 मई 1644 ई० तक औरंगजेब ने दक्षिण की सूबेदार के रूप में सेवा की। इस बीच वह सम्राट से मिलने कई बार उत्तर भारत की यात्रा पर आया। दक्षिण की उसकी यह पहली सूबेदारी बगलाना की विजय और अहमदनगर की निजाम शाही वंश के समूल नाश के कारण उल्लेखनीय हो गयी। मई 1644 ई० में अपने कार्य में दाराशिकोह के द्वेषपूर्ण हस्तक्षेप और अपने बड़े बेटे के प्रति शाहजहां के पक्षपात के विरोध में औरंगजेब ने अपना पद छोड़कर एकान्त का जीवन बिताना आंरंभ कर दिया। इस पर सम्राट बहुत रूष्ट हुआ और एकदम उसको सूबेदारी जागीर और भत्ता तीनों से वंचित कर दिया। कुछ महीनों तक वह अपमान सहता हुआ आगरा में बना रहा। जहॉआरा की प्रार्थना पर पुन: उसे अपने पद पर बहाल कर दिया गया। 16 फरवरी 1645 ई० को उसे गुजरात की सूबेदारी दी गई। कठोर शासन द्वारा उसने उस प्रांत में फैली हुई अव्यवस्था का दमन किया। फलत: सम्राट से उसे अनेक प्रकार पुरस्कार प्राप्त हुए।

दो वर्ष बाद उसे गुजरात से बुलाकर बल्ख और बदख्शां जीतने मध्य एशिया भेजा गया। मीरात ए आलम के अनुसार इस अभियान मे औरंगजेब ने एक ऐसा कार्य किया जिससे औरंगजेब की कीर्ति समूचे विश्व में फैल गई। जब शाही सेना बल्ख पहुची तो बुखारा के बादशाह अब्दुल अजीज खाँ की सेना से उसे घेर लिया बुखारा की सेना चीटियों और टिड्डयों की भांति अपार थी। जब भयंकर युद्ध हो रहा था तभी दोपहर की नमाज का वक्त हो गया। अपने अधिकारियों के निषेधात्मक अनुरोध की अवहेलना करके वह अपने घोड़े से उतरा और उसने जानबुझकर युद्धरत दोनों सेनाओं के समक्ष शांतिपूर्वक नमाज के सभी दस्तुरों को पूरा किया। उसके चारो ओर लड़ते हुए सैनिकों की अवाक् भीड़ थी परंतु उसका चित्त शांत था उसने सभी की उपेक्षा की। यह बातें सुनकर अब्दुल अजीज खाँ को औरगजेब की वीरता और धीरता पर आश्चर्य हुआ उसने समझा कि ईश्वर इस शाहजादे की सहायता कर रहा है फिर उसने कहा कि '' ऐसे व्यक्ति से लड़ना अपना विनाश करना है और उसने लड़ाई रोक दी।

दक्षिण की दूसरी सूबेदारी के साथ औरंगजेब के जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण अध्याय प्रारंभ हुआ। साम्राज्य के लिए भविष्य में होने वाले संघर्ष को दृष्टि में रखते हुए लिखा जा सकता है कि जिस प्रकार गॉल जूलियस सीजर का प्रशिक्षण क्षेत्र बना था उसी प्रकार दक्षिण औरंगजेब का बन गया था अदाबे आलमगीरी में

सुरक्षित उसके कई सौ पत्र उसके अलगे छह वर्षों के जीवन और कार्य के विषय में बहुत रोचक जानकारी प्रदान करते है। किस प्रकार उसने बार बार आने वाली वित्तीय कठिनाईयों पर विजय प्राप्त की, किस प्रकार उसने अपने चारों तरफ चुने हुए अधिकारियों की मंडली एकत्रित की और किस योग्यता तथा परिश्रम से उसने व्यवस्था बनाये रखने और जनता को प्रसन्न करते हुए देश पर शासन किया, यह सब उन पत्रों से विदित होता है। निरंतर निरीक्षण और अभ्यास के द्वारा उसने अपनी सेना को अच्छी दशा में रखा। वह बहुधा दौरे पर ही रहता होगा जैसा कि वह अपने एक पत्र में स्वीकार करता है कि मैं उन दिनों एक पक्का घुड़सवार और कुशल शिकारी था। इस प्रकार 1658 ई० के अंत तक वह आगामी उत्तराधिकार युद्ध के लिए शाहजहां के बेटों में निस्सन्देह सबसे अधिक योग्य और सबसे अधिक सुसज्जित हो गया। एक लम्बे षड्यंत्र के बाद उसने गोलकुण्डा के शासक के वजीर मीर जुमला को अपनी ओर फुसला लिया। जिन योग्यतम फारस निवासियों को कभी भी भारत में सेवा करने का अवसर मिला, वह उनमें से एक था। औरगंजेब की सिफारिश पर शाहजहां ने मीरजुमला को अपने अधिकारियों में भरती कर लिया और उसे शाही सुरक्षा का उत्तरदायित्व सौपा। मीरजुमला के परिवार और सम्पत्ति को लौटा दने के लिए गोलकुण्डा के शासक को विवश करने के उद्देश्य से औरंगजेब ने 24 फरवरी 1656 ई को हैदराबाद पर आक्रमण किया। शासक गोलकुण्डा की ओर भागा जहाँ उसे भारी हानि के साथ एक अपमानजनक संधि करने के लिए विवश होना पड़ा। मीरजुमला 20 मार्च को औरंगजेब के पक्ष में आ मिला। उसे दिल्ली बुलाया और 7 जुलाई 1657 ई को वजीर बना दिया गया। इसके बाद 18 जनवरी 1657 ई को वह औरंगजेब की सहायता करने के लिए दक्षिण वापस चला गया। गोलकुण्डा के ऊपर किये गये इस आक्रमण के एक वर्ष बाद बीजापुर के शासक मुहम्मद आदिलशाह की मृत्यु हो जाने पर औरगजेब ने अपने पिता की स्वीकृति से जनवरी 1657 ई० में बीजापुर पर आक्रमण कर दिया। उसने बीदर और कल्याणी के किलों पर क्रमश: 29 मार्च और 1 अगस्त को अधिकार कर लिया। बीजापुर राज्य के एक बड़े प्रदेश की जीतकर वह सम्मान मिलने की प्रतीक्षा में ही था कि सम्पूर्ण दृश्य अत्याशित एवं आकस्मिक ढंग से बदल गया।

उत्तराधिकार का युद्ध

6 सितम्बर 1657 ई को शाहजहां के दिल्ली में बीमार होते ही समूचे साम्राज्य

में संशय का वातावरण हो गया। यद्यपि दारा ने पुत्रोचित भक्ति के साथ शाहजहां की सेवा की लेकिन उसने कुछ ऊंटपटांग हरकते भी की। उसने हरकारों को रोक दिया और भाइयों को दिल्ली के हालात पता ही नहीं चलने दिए। अफवाहों के जोर में यह माना गया कि शाहजहां का निधन हो गया है। दो शाहजदों मुराद और शुजा ने क्रमश : गुजरात और बंगाल में अपने आपको बादशाह घोषित कर दिया। औरंगजेब ने इन सबसे अलग खेल खेलने का निश्चय किया। उसने दारा को धर्मद्रोही कह कर भर्त्सना की और यह घोषणा की कि उसका उद्देश्य दारा के प्रभुत्व से शाहजहां को मुक्ति दिलाना और साम्राज्य को गैर-इस्लामिक प्रभावों से छुटकारा दिलाना है। अंत में उसने कुरान की शपथ लेकर मुराद बख्श से संधि की कि पंजाब से पश्चिम की ओर का पूरा मुग़ल इलाका उसे दे दिया जाएगा। इस बीच दारा ने बंगाल से आ रहे शुजा के खिलाफ अपने पुत्र सुलेमान शिकोह और मिर्जा राजा जयसिंह के नेतृत्व में एक सेना भेजी तथा दक्षिण से आ रहे औरगंजेब व मुराद की सम्मिलित सेना के विरुद्ध दूसरी सेना महाराजा जसवंतसिंह और कासिम खाँ के नेतृत्व में भेजी। पहली सेना ने 14 फरवरी 1658 ई को बनारस के पास बहादुरपुर में शुजा की फौज को हराया और उसका पीछा मुंगेर तक किया। इधर दक्षिण से आ रहे औरंगजेब और गुजरात से आ रहे मुराद की सेनाएं दीपालपुर के पास मिल गयी और इस सम्मिलित सेना ने उज्जैन से 14 मील दक्षिण में स्थित धरमत नामक स्थान पर 15 अप्रैल 1658 ई० को एक लम्बी और भयंकर संघर्षपूर्ण लड़ाई में महाराजा जसवंतसिंह की सेना को नष्ट भ्रष्ट कर दिया। औरगंजेब और मुराद की विजयी सेना उज्जैन से राजधानी आगरा की ओर बढ़ी। इधन धरमत के युद्ध के बाद दारा अपनी बची हुई सेना लेकर धौलपुर पहुचा और चम्बल नदी के सोर घाटों पर अधिकार जमा लिया ताकि औरंगजेब नदी पार नहीं कर पाये और उसकी फौज को रोक दिया जाये ताकि सुलेमान शिकोह की फौज आकर मिल जाये। लेकिन औरंगजेब ने धौलपुर से 40 मील पूर्व भदौली के पास के घाट से जहाँ घुटने -घुटने पानी था नदी पार कर ली और आगरा की ओर तेजी से बढ़ा। जैसे ही दारा को पता चला वह शीघ्र ही आगरी की ओर लौटा और आगरा से कुछ की दूर सामूगढ़ पर पड़ाव डाला। औरंगजेब भी वहीं 28 मई 1658 ई को पहुँचा। 29 मई 1658 ई० को एक भयंकर गर्म दिन में हुए भयावह युद्ध ने हिन्दुस्तान के भाग्य का फैसला कर दिया और दारा परास्त होकर बरास्ते दिल्ली पंजाब चला गया। औरंगजेब ने शीघ्र ही आगरा पर अधिकार किया और अपने वृद्ध पिता शाहजहां को कैद कर लिया।

25 जून 1658 ई को उसने एक शाही दावत में मुराद को भी कैद कर लिया। बाद में 4 दिसम्बर 1661 ई को एक हत्या के आरोप में ग्वालियर के किले में उसका सर काट लिया गया। दारा का पीछा पंजाब सिंध होते हुए थट्टा तक किया गया जहाँ मार्ग में भंयकर कठिनाईयाँ सहते हुए वह कच्छ की खाड़ी के पार गुजरात पहुँचा। औरगंजेब के सेनापति प्रत्येक स्थान में उसका पीछा करते रहे। अंत में वह बोलन दर्रे के पास दादर पहुँचा जहाँ के जमीदार मलिक जीवा ने विश्वासघात करके उसे गिरफ्तार करा दिया। 30 अगस्त 1659 ई को दारा की हत्या करके उसका शव आगरा में धुमाया गया। फरार सुलेमान शिकोह को गढ़वाल के राजा ने गद्दारी करके 1661 ई में पकड़ा दिया। ग्वालियर के किले में मई सन् 1662 ई में उसकी गुप्तरीति से हत्या कर दी गई। इस बीच शुजा को 5 जनवरी 1659 इ को खजवा के पास हुए युद्ध में हरा दिया गया। शुजा ने भागकर अराकान की पहाड़ियों शरण ली। बाद में आराकन के राजा के विरुद्ध षडयंत्र के आरोप मे शुजा का कत्ल कर दिया गया।

उत्तर भारत में औरगंजेब

औरंगजेब ने अपने शासन के प्रारंभिक 25 वर्ष उत्तर भारत में रहते हुए अपेक्षाकृत अधिक शांति और आनंद का उपभोग किया। उसने अपने राज्याभिषेक पर बधाई देने के लिए आये हुए फारस बुखारा मक्का, अरब और अबीसीनियां के शानदार राजदूतों का स्वागत किया। ये राजदूत मुग़ल दरबार की शान शौकत देखकर मुग्ध हो गये। ऐसी शान- शौकत थी जिसे देखकर बर्नियर टैवर्नियर तथा उस समय के अन्य यूरोपीय यात्रियों की आखें चुधिया गयी थी।

यद्यपि साम्राज्य के मध्यभाग में शांति का राज्य था तथापि सीमांतों पर युद्ध चल रहा था। महात्वाकांक्षी तथा साहसी अधिकारी अपने स्वामी के राज्य को विस्तृत करने में प्रयत्नशील थे। अप्रैल से लेकर दिसम्बर 1661 ई के बीच बिहार के सूबेदार दाऊदखाँ ने पालामऊ को जीत लिया। बंगाल के सूबेदार मीरजूमला ने सन् 1662 तक कूचबिहार और आसाम को रौद डाला। बंगाल के दूसरे सूबेदार शाइस्ताखाँ ने 26 जनवरी 1666 ई० को पुर्तगाली और बर्मी समुद्री डाकुओं से चटगांव छीन लिया। कश्मीर से किये जाने वाले एक अभियान ने नवम्बर 1665 ई० में तिब्बत के शासक को सम्राट का एक सामंत बनने और इस्लाम के आगे आत्मसमर्पण करने के लिए विवश कर दिया। इन सबसे बढ़कर बात यह हुई कि योग्य और चतुर सेनापति जयसिंह ने साहसी और अब तक अजेय मराठा सरदार

शिवाजी को वश में कर लिया, उसके दो तिहाई किलों को जीतकर साम्राज्य में मिला लिया और उसे आगरा जाकर सम्राट को अभिवादन करने के लिए फुसला लिया। शिवाजी के साथ व्यवहार करने में औरगजेब की राजनयिक भूल तथा कैद से 19 अगस्त को शिवाजी के अद्‌भूत छुटकारे की कहानी से सम्पूर्ण भारत सुपरिचित है।

एक अधिक भयानक परंतु दूर के संकट की तरह अफगान सीमा पर युसुफजाई घरानों और उनके सहायकों का विद्रोह 1667 ई में आरंभ हुआ। इन हट्टे कट्ट पहाडियों के विरुद्ध कई वर्ष तक युद्ध चलता रहा। एक के बाद दूसरे मुग़ल सेनापतियों ने अपने अपने हाथ आजमाये और अपनी-अपनी सैनिक प्रसिद्ध को वहाँ दफना बैठे। अंत में खैबर के फाटक के इन संरक्षकों को भारतीय मालगुजारी में से एक बड़ी वार्षिक सहायता देकर ही संधि खरीदी जा सकी। बीजापुर के शासक और शिवाजी के विरुद्ध भी युद्ध की स्थिति कई वर्षों तक बनी रही। किन्तु बीजापुर का शासक मुग़ल सेनापतियों को इसलिए घूस देता रहता था कि वे लोग युद्ध को धीमी गति से चलाते रहे और शिवाजी अपनी रक्षा करने में पूरी तरह समर्थ था।

इस बीच औरंगजेब ने अपनी धार्मिक कट्टरता का खुलकर प्रदर्शन करना प्रारभं किया। अगस्त 1669 ई में बनारस का विश्वनाथ मंदिर और जन 1670 ई में मथुरा में वीरसिंह बुंदेला द्वारा निर्मित केशवराय का मंदिर ध्वंस किया गया। सन् 1679 ई० में जजिया फिर से लागू किया गया। इसके पूर्व 1675 ई में सिख गुरू तेगबहादुर को मार डाला गया। महाराजा जसंवतसिंह की जमरूद में मृत्यु के बाद उत्तराधिकार के लिए संघर्ष में वीर दुर्गारास राठौड़ ने जसवंतसिंह के पुत्र अजीतसिंह के पक्ष में राजपूताना की जातीय चेतना की आग को प्रज्जवलित कर दिया। औरंगजेब के साथ सिसौदिया राठौड़ संघ के युद्ध में विजय एक पक्ष की नहीं हुई। अन्ततः औरगंजेब के चतुर्थ पुत्र शाहजादा अकबर ने जनवरी 1681 ई को अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह किया जो असफल रहा। दुर्गादास राठौड अकबर को लेकर दक्षिण में शम्भाजी के पास मई 1681 ई में पहुँचे। अब औरंगजेब दक्षिण की ओर मुड़ा, उसके जीवन के शेष 26 वर्ष दक्षिण में रहकर बीते।

दक्षिण भारत में औरंगजेब

दक्षिण में औरगजेब ने 26 वर्षो तक निरंतर गतिमान परंतु निष्फल परिश्रम

किया। दुबले पतले नाटे परंतु चतुर फुर्तीले बीर मराठो ने निरंतर युद्ध में सम्राट के स्वास्थ्य को, उसकी सेना के साहस को और राज्य के कोष को ध्वस्त कर दिया। यह ऐसा युद्ध था जिसकी व्यर्थता औरंगजेब को छोड़कर सबने देखी लेकिन औरगजेब उससे नहीं उकताया। जो बढ़ती हुई हठधर्मी के साथ उस समय तक नीति का अवलम्बन करता रहा जब तक वह नब्बे वर्ष का बूढ़ा होकर निराशा अन्धकार और कुटुम्ब तथा राज्य को पूरी तरह निगल जाने के लिए तत्पर अव्यवथा के बीच कब्र में न जा सोया। शिवाजी के सबसे बड़ा पुत्र शम्भू अपने पिता से अधिक साहसी आक्रमणकारी था। परिमाणों का कोई भय उसे रोक नहीं सकता था। औरंगजेब के पुत्र अकबर को अपने पेशनर के रूप में पाकर वह मुग़ल साम्राज्य के विरुद्ध बड़ा कदाम उठा सकता था। इसके भी बढ़कर बात यह थी कि औरंगजेब के सभी सेनानायक और दक्षिण के राज्यों के विरुद्ध भेजे गये उसके बेटे तक उस पर विजय पाने में असफल रहे और उन पर भ्रष्टाचार का सच्चा संदेह किया गया। इस कारण औरंगजेब के सामने युद्ध का स्वयं संचालन करने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग ही न बच रहा। इस उद्देश्य को लेकर वह 8 सितम्बर 1681 ई को अजमेर से दक्षिण के लिए रवाना हुआ और 22 मार्च 1682 ई को राजधानी अर्थात् औरंगाबाद पहुँचा। वहाँ से वह 13 नवम्बर 1683 ई को अहमदनगर आया। यह वह नगर था जहाँ तेईस वर्ष बाद आकर मरना उसके भाग्य में लिखा था। उसके दो पुत्र और कुछ सरदार बीजपुरियों और मराठो के विरुद्ध भेजे गए परंतु वे शम्भु के बहुत से किलो पर अधिकार कर लेने पर भी कुछ निर्णायात्मक कार्य न कर सकें राजकुमार मुअज्जम जो एक बड़ी सेना लेकर रामघाट के दर्रे में होकर सन् 1683 ई में दक्षिणी कोकणा में प्रविष्ट हुआ। सन् 1684 ई को असफलता और भारी हानि उठाकर वापस लौट आया। सन् 1684 ई में पहिले 6 महिनों में मुग़लों ने शम्भू जी पर लगातार चढ़ाईयों की और उन्हें सफलता भी मिली। इधर मराठों की आंतरिक व्यवस्था ध्वस्त हो चुकी थी। अक्टूबर 1688 ई में शुरू हुए शिरके घराने के विद्रोह को शांत कर रायगढ़ लौट रहे लापरवाह शम्भू जी को उसकी मंत्री कविकलश के साथ संगमेश्वर में मुग़ल सेनानायक मुकर्रबा खाँ ने 1 फरवरी 1689 ई को पकड़ लिया। एक पखवाड़े के निरंतर अत्याचार और अपमान के बाद 11 मार्च 1689 ई० को कोरेगांव में भयावह पीड़ाजनक क्रूरता के साथ इन दोनों कैदियों को मृत्युदण्ड दिया गया।

इस बीच औरंगजेब के अधिकार में दक्षिण में दो अन्य राज्य बीजापुर और

गोलकुण्डा भी आ गये। 1 अप्रैल 1685 ई को शाहजादा आजम और खानेजहां बहादुर ने बीजापुर का घेरा शुरू किया। निरंतर छोटे होते घेरे ने सन् 1686 में अंतिम आदिलशाही शासक सिकन्दर को आत्म समर्पण करने हेतु विवश किया और बीजापुर को साम्राज्य में मिला लिया गया। इधर 28 जून सन् 1685 ई को शाहजादा मुअज्जम के नेतृत्व में शाही सेना गोलकुण्डा की ओर रवाना हुई। वहाँ के शासक अबुलहसन के खिलाफ उसी के सामंतों को मुग़लों ने फुसला लिया। गोलकुण्डा के अधिकारियों के विश्वासघात के कारण 28 सिंतम्बर 1687 ई को दुर्ग के दरवाजे मुग़लो के लिए आधीरात मे खुल गये। शाह अबुल हसन को घसीट कर बाहर निकाला गया और उसे गिरफ्तार कर उसका राज्य साम्राज्य में मिला लिया गया।

सर जदुनाथ सरकार लिखते है इस समय ऐसा प्रतीत हुआ कि औरंगजेब ने सब कुछ पा लिया, लेकिन वास्तव में उसने सब कुछ खो दिया। यह उसके अंत का प्रारंभ था। उसके जीवन का सबसे अधिक करूणा और नैराश्यपूर्ण अध्याय अब खुला। मुग़ल साम्राज्य अब इतना विशाल हो गया था कि एक व्यक्ति द्वारा अथवा एक केन्द्र से उसका शासन नहीं चलाया जा सकता था अजगर की भांति औरंगजेब ने जितना वह पचा सकता था। उससे अधिक निगल लिया था। हाल ही में मिलाये गये सभी राज्यों के प्रांतों को अपने अधिकार मे ले लेना और साथ ही मराठों का दमन करना उसके लिए असंभव हो गया। उसके शत्रु चारों और उठ खड़े हुए। वह उन्हें परास्त तो कर सका परंतु उन्हें सदा के लिए कुचल देना उसके वश की बात नहीं रही। जैसे ही उसकी सेना एक स्थान से कूच करती वैसे ही शत्रु जो निकट ही मंडराता रहता था फिर से उस पर अधिकार जमा लेता और औरंगजेब का कार्य व्यर्थ हो जाता। उत्तरी और मध्य भारत के अनेक स्थानों में अव्यवस्था का राज्य था। सुदूर दक्षिण में स्थित वृद्ध सम्राट हिन्दुस्तान के अपने अधिकारियों पर नियंत्रण न रख सका और प्रशासन शिथिल और भ्रष्ट हो गया। सामंत और जमींदार स्थानीय अधिकारियों की अवहेलना करने लगे और देश अपना अधिकार जताने लगे। विशेष रूप से आगरा के प्रांत में स्थायी अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी। शाही सरंक्षण हट जाने पर कला और विद्या का ह्रास होने लगा। एक भी शानदार इमारत बढ़िया लिखी हुई पांडुलिपि और सुन्दर चित्र औरंगजेब के शासन का स्मरण कराने के लिए उपलब्ध नहीं है। दक्षिण में लगातार चलने वाले युद्ध ने उसके कोष को रिक्त कर दिया। सरकार दिवालिया हो गयी। वेतन न मिलने के कारण भूखों मरने वाले सैनिकों ने विद्रोह कर दिया। औरगजेब के शासन के अंतिम वर्षों मे राजभक्त

और योग्य दीवान मुर्शिदअली खाँ द्वारा नियमित रूप से भेजी जाने वाली बंगाल की मालगुजारी ही उसके कुटुम्ब और उसकी सेना के निर्वाह का एकमात्र सहारा रह गयी और उसके आगमन की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा की जाने लगी। प्रथम नेपोलियन कहा करता था कि ''स्पेन के फोड़े ने मुझे बरबाद कर दिया।'' उसी प्रकार दक्षिण के फोड़े ने औरंगजेब का सत्यानाश कर दिया।

औरंगजेब के सहयोगी शासक

(1)मेवाड

औरंगजेब के शासनकाल मे 1678 ई के पश्चात् की सहयोग की नीति में परिवर्तन्

हो गया था। इस नीति परिवर्तन का विवरण प्रस्तुत करते हुए डॉ वी.एस. भार्गव ने अपना मत इस प्रकार प्रस्तुत किया है। ''मुग़ल राजपूत सहयोग में जो शिथिलता शाहजहां के समय शुरू हो गई थी वह औरंगजेब के समय में अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गई। अपनी धर्मान्धता में बहकर वह इस बात को भूल गया कि राजपूतों की मित्रता से ही मुग़ल साम्राज्य की नींव दृढ़ हो गई थी। औरंगजेब ने राजपूतों के महत्त्व की उपेक्षा करना शुरू कर दिया। राजा जयसिंह और जसवंतसिंह राठोड़ के जीवित रहने तक तो उसने राजपूतों के विरुद्ध कोई कठोर कदम नहीं उठाए लेकिन उनकी मृत्यु के बाद राजपूतों की ओर से नजर फेरता गया। अपनी रक्तपात और प्रतिशोधी नीति से सम्पूर्ण राजपूत जाति को उसने शत्रु बना दिया लिया जिससे साम्राज्य को भारी क्षति पहुँची। जिन राजपूतों की तलवारों ने साम्राज्य की रक्षा की थी उन्ही तलवारों ने मुग़ल साम्राज्य की धज्जियाँ उड़ाना शुरू कर दिया। 1679 ई के बाद औरंगजेब ने राजस्थान में लगभग 30 वर्षों तक राजपूतों के विरुद्ध युद्ध लडे। अकबर ने राजपूतों और मुग़लों के सहयोग की जो आधारशिला रखी थी कि वह खंड खंड हो गई और दोनों एक दूसरे के शत्रु बन गए।

वस्तुत: राजपूत नरेशों की मुग़लों के प्रति सहयोग की नीति में 1678 ई के बाद सहसा परिवर्तन आना औरंगजेब की कुटिल साम्राज्यिक हस्तक्षेप की नीति तथा हिन्दू विरोधी विध्वंसकारी कट्टर धर्मान्धता की नीति की प्रतिक्रिया का परिणाम था। साम्राज्यिक हस्तक्षेप की नीति का ज्वलंत प्रमाण मारवाड़ के शासक जसवंतसिंह की 1678 ई में हुई मृत्यु के बाद औरंगजेब द्वारा जोधपुर राज्य से मारवाड़ के शासक जसवंतसिंह के नवजात पुत्र अजीतसिंह को वंचित कर उसे

खालसा करना था तथा विध्वसंकारी कट्टर धर्मान्धता की नीति का प्रकतीकरण औरंगजेब द्वारा हिन्दू मंदिरों को नष्ट भष्ट करने, हिन्दुओं पर जजिया कर लगाने तथा राजपूत नरेशों के प्रति संदेह व अपमानजनक व्यवहार करने के रूप में हुआ। इसका परिणाम मुग़ल साम्राज्य के पतन के रूप मे सामने आता है। अत: राजपूतों की मुग़लों के प्रति सहयोग की नीति में इस परिवर्तन का संक्षेप में विवरण प्रस्तुत किया जाना आवश्यक है यह परिवर्तन मुग़लों से मारवाड़ व मेवाड़ से संघर्ष के रूप में प्रकट हुआ।

औरंगजेब के समकालीन मेवाड़ शासक राणा राजसिंह (सन् 1652-1680 ई०), राणा जयसिंह (सन् 1680-1698 ई) एवं राणा अमरसिंह द्वितीय (सन् 1698-1707 ई) रहे। जिसमें से प्रथम शासक राणा राजसिंह ने 10 नवम्बर सन् 1652 ई को मेवाड़ की गद्दी पर बैठते ही उसकी प्रतिष्ठा के उन्नयन के लिए प्रयास प्रारंभ कर दिए। चित्तौड़ के दुर्ग की मरम्मत कराये जाने पर मुग़लों से उसका पहला संघर्ष शाहजहां के राजकाल में सन् 1654 ई को हुआ। जिसमें अपनी कमजोर सैन्य स्थितियों के कारण राणा को समझौता करना पड़ा। चित्तौड़ को पुन: नष्ट भ्रष्ट करने तथा राजकुमार को मुग़ल दरबार में भेजने जैसे शर्तो को मानकर मेवाड़ की शांति का क्रय किया गया। राणा राजसिंह उत्तराधिकार युद्ध में औरंगजेब के पक्ष में सहानुभूति रखते थे जबकि जयपुर और जौधपुर प्रारंभिक तौर पर दारा के पक्ष में थे और बाद में औरंगजेब के पक्ष में आ गये। अप्रैल 1658 ई में औरगंजेब ने राणा को अपने नर्मदा पार करने के सफल प्रयास की सूचना भेजवाई और अभ्यर्थना की कि वह अपने राजकुमार को अपनी सेना सहित भेजे। इधर दारा अपनी पूरी तैयारी में था उधर औरंगजेब की तैयारी भी कम न थी। राण राजसिंह को मुग़ल शाहजादों द्वारा लड़े जाने वाले युद्ध के परिणाम में संदेह था फलत: वे इसमें भाग लेने के स्थान पर मेवाड़ के उन सीमांत परगनों को पुन: वापस लेने में लग गये जिन पर पहले मेवाड़ का अधिकार था। गोपीनाथ शर्मा लिखते है कि "राणा ने 2 मई 1658 ई में टाका दौड़ की रस्म के बेहाने जिसमें वर्ष के प्रारंभ में शत्रु की सीमा पर शिकार करना होता था मुग़ल चौकियों पर धावा बोलने का क्रम शुरू किया।" राणा ने लगातार बारह धावे बोलकर दरीबा मांडल, बनेडा शाहपुरा खरवाड़ जहाजपुर, सावर और फुलिया पर अपना पुन: अधिकार स्थापित किया। राणा जब केकड़ी में था तब उसे दारा का पत्र मिला था जिसमें औरगंजेब के विरुद्ध सहायता मांगी गयी थी। राणा राजसिंह को औरंगजेब की धरमत विजय की खबर

मिल चुकी थी उसने दारा के राजदूत को खाली हाथ विद कर दिया। राणा ने अपना विजय अभियान जारी रखते हुए मालपुरा चाटसू टोंक, एवं लालसोट में मुग़ल इलाकों में लूट की। जब राणा बनास में था तब उसे औरंगजेब की सामूगढ़ विजय की खबर मिली। तब वह अपनी राजधानी लौटा और अपने लड़के सौभाग्य सिंह (सुल्तान सिंह) तथा भाई अरिसिंह को विजयी औरंगजेब को बधाई भेंट देने भेजा।

औरंगजेब ने स्वयं को 21 जुलाई 1658 ई में बादशाह घोषित कर दिया। राणा के भेजे हुए दल ने औरंगजेब से सालिमपुर में मुलाकात की और भेंट दी। औरंगेजब ने प्रसन्न होकर एक फरमान जारी किया जिसमें गयासपुर डूंगरपुर वांसवाड़ा आदि के परगने जिनकी आमदनी दो करोड़ दाम थी राणा के नाम कर दिये गये। राणा के पद भी छै: हजार जात और छै: हजार सवार कर दिए गये। इधर दारा (जिसका पीछा लगातार किया जा रहा था।) गुजरात से भागकर सिरोही पहुंचा। वहाँ से उसने 15 जनवरी 1659 ई को राणा को एक पत्र लिखकर सहायता मांगी। राणा ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया।

किशनगढ़ के शासक रूपसिंह ने अपनी पुत्री चारूमति का विवाह औरंगजेब से करने का वचन दिया। चारूमति ने राणा को एक पत्र भेजकर अपनी सहायता की अभ्यर्थना की। राजसिंह ने 1660 ई में किशनगढ़ पहुचंकर चारूमति से विवाह कर लिया। औरंगजेब ने राणा से ऐसे विवाह का कारण पूछा। राणा ने उदयकर्ण चौहान के साथ उत्तर भिजवाया कि यह विवाह एक साधारण घटना है और इसका अभिप्राय मुग़ल हित को हानि पहुँचाना नहीं हैं कुछ इतिहासकार औरंगजेब और राणा के मध्य बाद में बिगड़े संबंधों की जड़ से इस विवाह को मानते है लेकिन यह उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि इस विवाह के बाद भी मुग़ल मेवाड़ संबंध मैत्रीपूर्ण बने रहे। कुंवरलालसिंह मुग़ल दरबार में गये और भेंट का सौजन्यपूर्ण लेनदेन हुआ। बाद में मेंवाड मुग़ल संबंधों के बिगडने के तत्कालीन राजनीतिक कारण थे।

मुग़ल मेवाड़ संबंधों की मधुरता ने राणा राजसिंह को मेवाड़ की आंतरिक दशा सुधारने हेतु प्रेरित किया। जब राजसिह जनोपयोगी एवं निर्माण के कार्यों में व्यस्त था,औरंगजेब इस्लाम के प्रचार कार्य में लगा हुआ था। अपने विराट् राज्यारोहण के उत्सव में (1659 ई०) निवृत्त होने के अनंतर उसने कई ऐसे अध्यादेश निकाले जिसके द्वारा साम्राज्य में इस्लाम के आचार विचार के नियमों के परिपालन पर बल

दिया गया था अपने शासन काल के 11 वे वर्ष में (1668ई०) उसने अपने दरबार में संगीत को बंद करवा कर गायक वर्ग को निर्वासित कर दिया। 1669 में से उसने साम्राज्य के मंदिरों पाठशालाओं और मूतियों को तोड़ने के आदेश दे दियें। डॉ०ओझाा ने लिखा है कि इन नियमों की घोषणा के साथ साथ महाराण राजसिंह ने हिन्दूधर्म के रक्षार्थ सम्राट के हिन्दू विराधी नियमेां का विरोध करना आंरभ कर दिया। परंतु ऐसा मंतव्य एक भूल है स्थिति तो यह थी कि जब इस प्रकार के अध्यादेशों को लागू करवाने की आज्ञाएं निकाली गई थी राजसिंह इनके तनिक भी विचलित नही हुआ था। अलबत्ता वह दिल से ऐसे नियमों से घृणा करता रहा हो सकता है उसने निरंतर अपने राजनीतिक संबंध मुग़ल दरबार से भेटों के आदान प्रदान तथा राजदूतों के भेजने द्वारा बनाये रखे और साथ ही साथ अपने राज्य के आंतरिक सुधार निर्माण कार्य और धार्मिक उत्सवों के आयोजनों में रूचि लेता रहा। उसने औरंगजेब के अधीनस्थ राजस्थान के नरेशों से भी अच्छा संबंध बनाये रखने में कोई कसर न रखी।

लेकिन राणा राजसिंह को औरंगजेब के कट्टर धार्मिक रवैये से तथा जाट विद्रोह (1669,), सतनामी विद्रोह (1672), सिख विद्रोह (1675) और मराठा संघर्ष के यह अनुमान अवश्य हो गया कि एक न एक दिन मेवाड़ को भी शीघ्र ही मुग़ल आक्रमण का सामना करना पड़ेगा। इसलिए उसने सर्वप्रथम मेवाड़ की आंतरिक सुरक्षा पर ध्यान दिया। राणा ने उदयपुर से 10 मील दूर देवारी के दर्रे में सुदृढ़ दीवारें और फाटक बनवाकर उसे सुरक्षित कर लिया। विश्वस्त योद्धाओं को भीतरी गिर्वा में स्थापित करके उनके भु अनुदान निश्चित कर दिए। इधर औरगंजेब की संकुचित नीति ने ऐसा वातावरण बना दिया जिससे दीर्घ प्रतीक्षित युद्ध तय हो गया। जोधपुर के महाराजा जसवंत सिंह की जमरूद में 10 दिसम्बर 1678 ई को मृत्यु होने पर औरंगजेब ने मारवाड़ को खालसा घोषित कर दिया और खानेजहां बहादुर को आदेश दिया कि वह जोधपुर पर कब्जा कर ले। औरंगजेब इस हेतु खुद अजमेर तक 19 जन 1679 ई०को गया और मारवाड़ पर पूर्ण मुग़ल नियंत्रण कायम करके 2 अप्रैल 1679, को दिल्ली वापस लौटा। इधर वीर दुर्गादास राठौड़ जसवंतसिंह की दो विधवा रानियो और एक शिशु राजकुमार अजीतसिंह को लेकर दिल्ली पहुँचा। जहाँ उनकी प्रार्थना के अस्वीकृत होने पर वे भागकर निर्विध्न मारवाड़ पहुंच गए। फिर एक जनयुद्ध शुरू हुआ औरगंजेब पुन: स्वयं 25 सितम्बर 1679 ई को अजमेर पहुँचा और उसकी फौज ने शीघ्रता से मारवाड़ पर नवम्बर

1679 ई तक पुन: अधिकार कर लिया। लेकिन वह न तो राठौड़ों को परास्त कर पाया और न ही अजीतसिंह और विधवा रानियों को प्राप्त कर पाया। औरंगजेब के अत्याचारों ने समूचे मारवाड़ में उसके विरुद्ध घृणा का वातावरण उत्पन्न कर दिया और राठौड़ों में अपमानजनक समर्पण के बजाय आत्मोसर्ग की भावना प्रज्जवलित हो गयी। इस आधार पर वीर दुर्गादास राठौड़ ने मेवाड़ के राणा राजसिंह को एक पत्र लिखा। राणा राजसिंह ने दुर्गादास के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और मेवाड़ मारवाड़ संघ ने मुग़लों से प्रतिरोध शुरू किया।

औरंगजेब ने 27 अक्टूबर 1679 ई० को तहव्वर खाँ को मांडल और केन्द्रीय मेवाड़ पर अधिकार हेतु तथा हसन अली खाँ को राणा का राज्य नष्ट करने हेतु आज्ञा दी। इधर शाहजदा मुअज्जम को दक्षिण से तथा शाहजादा आजम को बंगाल से अपनी सेना सहित बुलाया गया। अहमदाबाद के सूबेदार मुहम्मद अमीर खाँ को यह आज्ञा की गई की वह राजपूत अधिकार क्षेत्र तथा गुजरात के बीच के प्रदेशों पर फौज सहित डेरा डाले। इस तरह मेवाड़ को चारों और से घेरकर शाहजादा अकबर को एवं बड़ी सेना सहित राणा का पीछा करने भेजा गया। उदयपुर नगर के बीच विशाल जगदीश मंदिर पर एक बड़ी लड़ाई हुई जिसमें निर्दयी आक्रमणकारियों ने मंदिर में तोड़फोड़ की। कुछ दिन देवारी ठहरकर औरंगजेब उदय सागर की ओर बढ़ा जहाँ उसने तीन मंदिर गिरवाये यहां से वह चित्तौड़ गया जहाँ 60 मंदिर गिराये गये। औरगजेब ने उदयपुर चित्तोड़ जीतकर कई बस्तियां और गांव जलाकर तथा राणा के पहाड़ों में शरण लेने पर यह सोचा कि सिसौदिया ताकत को कुचल दिया गया है और वह 22 मार्च 1680 को मेवाड़ छोड़कर अजमेर लौट गया।

इसी बीच 22 अक्टूबर 1680 ई० को राणा राजसिंह की मृत्यु हो गई और उसके पुत्र जयसिह का राज्याभिषेक कुरजगांव (जिलासहाड़ा) में हुआ। दुर्गादास राठौड़ और राणा ने शाहजादा अकबर से संधिवार्ता चलाई थी। अकबर ने यह विश्वास दिलाया कि वह बादशाह बनते

ही मेवाड़ की अधिकृत भूमि उसे लौटा देगा। अकबर ने राजपूतों की अध्यक्षता मे 11 जनवरी 1681 ई० को नाडौल में स्वयं को बादशाह घोषित किया। औरंगजेब को यह पता लगने पर वह चितिंत हुआ। अकबर और औरंगजेब की सेना अजमेर के 24 मील दक्षिण पश्चिम तथा पिसनगन से नौ मील उत्तर पश्चिम में स्थित कुर्की नामक स्थान पर आमने सामने हुई। औरंगजेब ने चालाकी से अकबर की

सेना में संदेह का वातावरण उत्पन्न कर दिया। उसने वीरदुर्गादास तक अकबर के नाम लिखा ऐसा पत्र पहुँचवाया जिसमें अकबर की यह लिखकर प्रशंसा की गई कि वह राजपूतों को फंसा कर ले आया है। यह ठीक वैसी ही चाल थी जैसी मालदेव के विरुद्ध शेरशाह ने चली थी। आवेश में आकर राजपूतों ने अकबर का डेरा लूट लिया और उसे वही छोड़कर सब भाग गये। जब लगभग 36 घंटे बाद बीर दुर्गादास को असलियत पता चली तो उसने चुने हुए 500 सैनिकों के साथ अकबर को शिवाजी के पुत्र शंभू जी के पास दक्षिण भिजवा दिया। अकबर के असफल विद्रोह और दक्षिण पलायन ने औरंगजेब को दक्षिण प्रयाण करने पर मजबूर किया और मेंवाड़ को शांति मिली। राणा जयसिह अपने पिता की तरह महत्त्वाकांक्षी नहीं होने के कारण लड़ाई बंद करने के पक्ष में था। इधर मेवाड़ की उजड़ी स्थिति भी इसका समर्थन कर रही थी। अंत में दोनों पक्षों के मध्य 24 जून 1681 को एक संधि हुई जिसमें शहजादा आजम और राणा जयसिंह ने हिस्सा लिया। संधि के अनुसार राणा ने जजिया देने के स्थान पर पुर मांडल और बदनौर के परगने मुग़लों को देने का वचन दिया। मुग़ल फौजे मेवाड़ छोड़ देंगी, राणा को उसका अधिकार क्षेत्र वापस मिलेगा तथा जयसिह को पाँच हजारी मनसब दिया जाएगा। इस संधि के बाद राणा जय सिंह ने औरगंजेब को एक बधाई पत्र लिखा था जिसके प्रत्युत्तर में उसने 18 जुलाई 1681 ई को राणा के नाम पर फरमान में यह आशा व्यक्त की कि वह संधि के अनुरूप आचरण करेगा ओर मुग़ल सल्तनत का विरोध नहीं करेगा।

सुलह होने के इस दिन से जयसिंह की मृत्यु (1698 ई०) पर्यन्त राणा और सम्राट के संबंध शांतिमय बने रहे। राणा ने इस अवधि में कई आंतरिक सुधार एवं निर्माण कार्यों में भाग लिया। 1691 ई में संसार की संभवत: सबसे बड़ा कृत्रिम झील जो जयसमुद्र के नाम से विख्यात है राणा ने बनवायी थी। उसके उत्तराधिकारी अमरसिंह द्वि. ने (1698-1707) कभी मुग़लों का विरोध नहीं किया। बल्कि जब औरंगजेब दक्षिण में युद्ध लड़ रहा था राणाने अपने सैनिक शक्ति को भेज कर उसकी सहायता की थी।

(2) मारवाड़ -

मारवाड़ के महाराजा जसंवतसिंह (1638-1678 ई०) न केवल औरंगजेब के समकालीन शासक थे बल्कि उन्होने उसके पिता शाहजहां के समय भी कार्य

किया था। शाहजहां के समय में उच्च मनसबदार हिन्दुओं में जसवंत सिंह अकेले थे जबकि औरंगजेब के समय में उनका साथ मिर्जा राजा जयसिंह ने दिया। उत्तराधिकार युद्ध के समय शाहजहां की ओर से दारशिकोह के आदेश पर जसवंतसिंह और कासिम खाँ को औरगंजेब और मुराद की संयुक्त सेना का मुकाबला करने दक्षिण भेजा गया। उज्जैन के नजदीक धरमत के मैदान में हुए युद्ध में जसवंत सिंह के पास 266 शाही मनसबदार 1000 बन्दूकची और 23,244 घुड़सवार थे कासिम खाँ 10,000 सेना लिए खड़ा था और मुकुन्दसिंह हाडा रतनसिंह राठौड़ आदि भी जसवंत के अधीन थे। औरंगजेब के पास लगभग 19,000 सैनिक थे और उसके तोपखाने में युरोप कके तोपची भी थे। इस युद्ध में औरंगजेब की विजय हुई और राजपूतों के 40 सरदार और 2000 वीर मारे गये। डॉ० रघुवीर सिंह के अनुसार कोटा का हाड़ा राव उसके तीन भाई, शाहपुरा का सुजानसिंह

सिसौदिया, गौड, अर्जन, झाला दयालदास आदि प्रारंभिक आक्रमणों के काम आए....जसवंतसिंह के चले जाने के बाद बची खुची शाही सेना का नेतृत्व रतलाम के राव रतन सिंह राठौड़ ने किया और बाद में वीरतापूर्वक युद्ध भूमि में शहीद हुआ। महाराज जसवंतसिंह को उसके मंत्रियों ने रोका और मारवाड़ की ओर रवाना किया। जसवंतसिंह सोजन होते हुए जोधपुर पहुँचे। बर्नियर मनूची एवं खाफी खाँ के अनुसार महाराजा के जोधपुर पहुँचने पर उनकी हाड़ा रानी किले का दरवाजा बंद करा लिया और कहला भेजा कि राजपूत युद्ध से या तो विजयी होकर लौटते है अथवा वहाँ मर मिटते है महाराजा पराजय के बाद लौट नहीं सकते यह कोई और व्यक्ति है।'' धरमत की पराजय ने जसवंतसिंह की बीस साल की मेहनत पर पानी फेर दिया। औरंगजेब उसे संदेह की नजर से देखने लगा। महाराजा के हृदय में भी मुग़लों की सेवा का वह उत्साह नहीं रह गया और औरंगजेब को भी आगे कभी महाराजा पर पूरा भरोसा नहीं हो सका। इस प्रकार धरमत का युद्ध दिल्ली ओर जोधपुर के मित्रतापूर्वक संबंधों के बीच एक दरार बन गयी जो क्रमशः चौड़ी होती गयी।'' सितम्बर 1658 में जसवंतसिंह ने औरंगजेब से पंजाब में सतलज के किनारे भेंट की। औरंगजेब ने प्रसन्न होकर महाराजा को मनसब, जड़ाऊ तलवार और खिलअत भेंट की। शुजा के विरुद्ध इलाहाबाद के पास खजवा के मैदान में जसवंतसिंह ने विद्रोह किया और औरंगजेब का साथ छोडकर जोधपुर लौट आया (5 जनवरी 1659 ई०)। जयपुर के मिर्जा राजा जयसिंह ने बीच बचाव करके औरंग जेब और जसवंतसिंह की सुलह करा दी। आखिरकार औरंगजेब ने महाराणा

जसवंतसिंह को गुजरात का सुबेदार बनाकर भेज दिया।

सन् 1662 ई में जसवंत सिंह को दक्षिण में शिवाजी के विरुद्ध शाइस्ताखाँ की मदद के लिए भेजा गया। 5 अप्रैल 1663 ई को शिवाजी और उनके सैनिकों ने पूना में प्रवेश करके रात के अंधेरे में शाइस्ता खाँ पर हमला किया। शाइस्ता खां पर शिवाजी के वार ने अंधेरे में धोखा खाया और खान के हाथ की उगलियो कट गई। इसके तुरंत बाद शिवाजी ने सूरत को लूटा। दो वर्ष पश्चात् शाहजादा मुअज्ज्म के साथ जसवंतसिंह के प्रयत्नों से मुग़ल मराठा संधि हुई और संधि की शर्तो के अनुसार बादशाह ने शिवा को राजा की उपाधि दी शंभू जी को पाँच हजारी मनसब, एक हाथी और रत्न जड़ित तलवार दी। राजा जसवंतसिंह 35 वर्ष से मुग़ल दरबार की सेवा कर रहे थे। इसी बीच तीन बार ये काबुल और सीमा प्रांत के विद्रोहो का दमन कर चुके थे। जब पेशावर में पठानों ने उपद्रव मचाकर मुग़ल अफसर शुजातखाँ मार डाला तब औरंगजेब ने राजा जसवंतसिंह को 1673 ई में काबुल जाने का आदेश दिया राजा गुजरात, मारवाड़ होता हुआ पेशावार पहुँचा और पठानों पर कई भीषण आक्रमण किये। अन्ततः पठानों ने इस अनुभवी राजपूत का लोहा मान लिया। जसवंत सिंह अपनी जीवन के अंतिम पाँच साल जमरूद में सीमा पर रहकर बिताये और स्वास्थ्य खराब रहने से 28 नवम्बर 1678 ई को अपने पीछे दो गर्भवती विधवा रानियाँ छोड़कर परलोक सिधार गये। उनके साथ -साथ जोधपुर और मुग़लों की मित्रता के संबंध भी समाप्त हो गये। मआसिर उल- उमारा के लेखक के कहा है कि "अपनी सम्पत्ति और अनुयायियों की संख्या के कारण वह भारत के राजाओं में शिरोमणि था।" जसवंतसिंह की अधीनता में मारवाड़ का राज्य विस्तार सबसे अधिक था और किसी हिन्दू राजा का राज्य इतना बड़ा नहीं था। ख्यातों से ज्ञात होता है कि जसवंतसिंह एक योग्य सेनापति और कुशल व्यवस्थापक थे वह अपने पीछे देशभक्तों का ऐसा समूह छोड़कर गए जिसने उनके बाद औरगंजेबग का नाको चने चबवा दिए लेकिन मारवाड़ को पराधीन नहीं होने दिया। डॉ० गोपीनाथ शर्मा के अनुसार मारवाड़ राज्य का वह (जसवंतसिह) अंतिम शासक था जिसने अपने बल और प्रभाव से अपने राज्य का सम्मान बनाये रखा। मुलग दरबार का सदस्य होते हुए भी उन्होने अपनी स्वतंत्र प्रवृत्ति का परिचय देकर राठौड़ वंश के गौरव और पद की प्रतिष्ठा बनाये रखी।" जब तक जसवंतसिंह जीवित रहे तब तक औरंगजेब के कई सपने, सपने बने रहे।

मुग़ल मारवाड़ संघर्ष

28 नवम्बर 1678 ई० को जमरूद में जसवंतसिंह की मृत्यु के साथ मारवाड़ की स्वतंत्रता को विपदा के काले बादलो ने घेर लिया। उनकी मृत्यु के साथ जोधपुर राज्य की स्वतंत्रता का संग्राम शुरू हुआ जो औरंगजेब की मृत्यु के बाद तक चलता रहा है। उसके अभी तक कोई पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ था यद्यपि उसकी रानियां गर्भवती थी। औरंगजेब अमरसिंह के पोते व अपने सामंत इन्द्रसिंह को जोधपुर का शासक बनाना चाहता था अत: उसने जोधपुर को शाही अधिकार में ले लिया। डॉ० यदुनाथ सरकार के अनुसार जोधपुर को खालसा करने के दो कारण थे। पहला औरंगजेब को जोधपुर अधिक्त करने से गुजरात का दिल्ली व आगरे से सीधे संपर्क का मार्ग मिलता था। और दूसरा वह जसवंतसिंह की हिन्दू समर्थक नीति में परिवर्तन लाकर अपनी हिन्दू विरोधी नीति लागू करना चाहता था। जोधपुर को खालसा करने के बाद जब राठौड़ सामंत रानियों सहित जमरूद से लाहौर पहुँचे तो रानियों ने दो पुत्रों अजीतसिंह व दलथम्मन को जन्म दिया। औरंगजेब को जब इसकी सूचना मिली तो वह इन दोनों नवजात शिशुओं का मारने का षडयंत्र करने लगा तथा जोधपुर का नाममात्र का शासक इन्द्रसिंह को बनाकर वहाँ के खजाने की तलाशी ली व नगर के मंदिर व मूर्तियों को नष्ट किया। औरंगजेब की क्रुर व आक्रामक नीति का राठौड़ सामंत दुर्गादास ने कुटनीति से सामना किया व अजीतसिंह की रक्षार्थ ऐसे प्रयास किए कि वह अजीतसिंह को जोधपुर सुरक्षित ले जाकर फिर मुग़लों के विरुद्ध विद्रोह करें। अत: दुर्गादास रानियों व अजीतसिंह के साथ जोधपुर पहुँच गया। जोधपुर पहुंचते ही दुर्गादास के नेतृत्व में राठौड़ो का विद्रोह आरंभ हो गया और यह संघर्ष 30 वर्षों तक चला।

औरगंजेब ने विद्रोही राठौड़ो के विरुद्ध अनेक आक्रमण लिए किन्तु राठौड़ छापामार युद्ध नीति अपनाकर मुग़ल सेना को छकाते रहे। औरंगजेब ने शाहजादा अकबर को राठौड़ों के दमन हेतु सोजत भेजा। विद्रोही राठौड़ों ने दुर्गादास के नेतृत्व में मेवाड़ के महाराणा से 14 जून 1681 को संधि कर मारवाड़ मेवाड़ संघ का निर्माण किया जिसके द्वारा सिसोदिया राठौड़ो की सम्मिलित शक्ति नें मुग़लों का सामना किया। डॉ० गोपीनाथ शर्मा ने सिंसोदिया राठौड़ संघ के निर्माण की परिस्थितियों का विश्लेषण करते हुए कहा है कि "वैसे तो मुग़लों की चारो ओर विजय की विजय हो रही थी परंतु उनकी विध्वसकारी आक्रमण नीति ने... राजपूतों में एक स्वाभाविक प्रतिक्रियात्मक भावों को उत्तेजित किया, जिससे वह निष्फल सिद्ध हुई। उन्होने अब जमकर लड़ने के बजाय लुका छिपी की युद्ध प्रणाली को

प्राधान्यता देकर मुग़लों को छकाना आरंभ किया। इतना ही नहीं सिसोदिया और राठौड़ो ने मिलकर मुग़ल प्रयत्नों के विफल बनाने की योजना बना ली। जिससे सम्पूर्ण युद्ध का स्वरूप बदल गया। महाराणा राजसिंह जो ऊपरी तौर से औरंगजेब से अच्छे संबंध बनाए हुए था इस युद्ध मे कूद पड़े। अजीतसिंह की मां जो राणा की संबंधी थी उसके द्वारा सहायता की अपेक्षा करती थी। इसके अतिरिक्त शाही सेना द्वारा मारवाड़ का विध्वंस मेवाड़ तक भी कालांतर में बढ़ सकता था, क्योकि दोनों राज्यों की सीमाएं एक स्थान पर मिलती थी। ऐसी स्थिति में महाराणा के लिए आवश्यक था कि इस अवसर का लाभ उठाकर मारवाड़ की सीमा की रक्षा करे और राठौड़ों के भी सहायक बने। इस आधारों पर दोनों वंशों का एक गुट बना। दो बड़े मोर्चे मुग़ल विरोध के लिए खोले गये। एक मोर्चा मेवाड़ और दूसरा मारवाड़ में था। राजस्थान के इतिहास में इस मैत्री संबंध का बड़ा महत्त्व है। इस संघ ने मुग़ल राज्य की नींव को हिला दिया। औरंगजेब अंततोग्वा सिसादिया और राठौड़ों को कुचल न सका।

सिसोदिया-राठौड़ संघ के तत्वावधान मे चले मुग़ल मारवाड़ संघर्ष का विवरण मुग़ल मेवाड़ संधि (1681 ई) तक पहले दिया जा चुका है। दुर्गादास का अकबर को लेकर मराठा दरबार में पहुँचना मुग़लों के लिए शोचनीय था क्योकि अब मुग़लों को दक्षिण में मराठों के विरुद्ध अपनी अधिकाशं सेना भेजनी पड़ी। इसका लाभ उठाकर राठौड़ो ने जगह- जग़ह (बगड़ी सोजत डीडवाना मेड़ता व जोधपुर) मुग़ल थानों को लूटा। अजीत सिंह को मेवाड़ से हटाकर 1687 ई० में सिरोही के कालिन्दी गंव के लाया गया व पालड़ी में 23 मार्च 1687 ई० को अजीतसिंह को जोधपुर का महाराजा घोषित कर राठौड़ सामंतों ने मारवाड़ संगठन सुदृढ़ किया। 21 अक्टूबर को दुर्गादास ने दक्षिण से वापस लौटकर मुग़लों से संघर्ष तेज कर दिया। उधर औरंगजेब ने राठौड़ों के अधिकार मे रह रहे अपने पौत्र बुलन्द अख्तर व पौत्री सफीयुतन्निसा बेगम को मुक्त कराने हेतु कूटनीति द्वारा दुर्गादास को बुलाकर उसने पटना का फौजदार नियुक्त कर व अजीतसिंह को मेड़ता की जागीर देकर कुछ समय तक शांत कर दिया। किन्तु अजीतसिह जोधपुर को हस्तगत करने के लिए प्रयत्नशील रहा। डॉ० गौरीशंकर हीरानंद ओझा के अनुसार "अंत में जब औरगजेब की मृत्यु 1707 ई में हो गई तो अजीतसिंह ने जफर कुली को निकालकर जोधपुर पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इसी तरह मेड़ता सोजत पाली स्थान भी उसके हाथ आ गए। एक लंबे संघर्ष के बाद राठौड़ों का अधिकार

मारवाड़ में पुन: जम गया।

इस प्रकार मुग़लों के प्रति मारवाड़ की सहयोग की नीति महाराजा जसवंत सिंह की मृत्यु (1678ई०) के बाद सहसा औरंगजेब की अदूरदर्शिता के कारण स्वतंत्रता प्राप्त करने हेतु सशस्त्र संघर्ष की नीति में बदल गई। इस संघर्ष मे कुछ समय तक मेवाड़ के सिसोदिया व मारवाड़ के राठौड़ों के संघ (1679 ई) ने मुग़लों को अपनी छापामार युद्ध नीति से काफी छकाया। किन्तु मुग़ल मेवाड़ संधि (14 जून 1681 ई) हो जाने के बाद अजीतसिंह के नेतृत्व में स्वयं राठौड़ों ने संघर्ष कर अंतत: जोधपुर का अधिकार कर दिया और अपने स्वाधीनता युद्ध की सफल परिणति की।

(3) आमेर (जयपुर)

औरंगजेब के समकालीन आमेर शासक प्रसिद्ध मिर्जा राजा जयसिंह (1621-1667ई) रामसिंह (1667-1688 ई), बिशन सिह (1688-1700ई०) तथा सवाई जयसिह द्वितीय (1700-1743ई) थे। मिर्जा राजा जयसिंह ने उत्तराधिकार युद्ध के प्रारंभिक दौर में दारा शिकोह का साथ दिया लेकिन बाद में वे औरंगजेब के साथ हो गए। शाहजहां के प्रति अपनी अंतिम वफादारी का प्रदर्शन करते हुए मिर्जा राजा जयसिह ने शुजा को 1657 ई मे बहादुरगढ़ में परास्त किया। सामूगढ़ के युद्ध (29 मई 1658) के समय जयसिंह दारा के पुत्र सुलेमान शिकोह के साथ बिहार में था। जयसिंह ने अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय देते हुए 25 जून 1658 ई को मथुरा जाकर औरंगजेब से भेंट करके अपने सहयोग और स्वामिभक्ति का आश्वासन दिया। 14 मार्च 1659 ई को अजमेर के निकट दोराई के मैदान में दारा के विरुद्ध औरंगजेब की सेना के अग्रभाग के सेनापतित्व का श्रेय जयसिंह को है। जब दारा युद्ध से भागा तो जयसिंह ने उसका पीछा सिंध तक किया। दूसरी ओर जयसिंह के पुत्र रामसिंह ने दारा के पुत्र सुलेमान शिकोह को गढ़वाल के श्रीनगर में पकड़ लिया। रामसिंह को ढाई लाख रुपये की जागीर और कीर्तिसिंह को कामा की फौजदारी मिली। बाद में दारा के पकड़े जाने पर जयसिंह को ढाई करोड़ रुपये की जागीर देकर सम्मानित किया गया। उत्तराधिकार युद्ध में औरगंजेब का साथ देकर जयसिंह नें मुग़ल दरबार में अपना महत्त्व बहुत बढ़ा लिया था।

औरंगजेब जयसिंह की योग्यता और नीति निपुणता से बहुत प्रभावित था। उसने उसे काबुल व दक्षिण में मुग़ल आधिपत्य स्थापित करते हुए देखा था। शुजा

की पराजय में भी जयसिंह का हाथ था। दारा को दौराई के मैदान में हराकर भी उसी ने भगाया था। राजा जसवंतसिंह को भी औरंगजेब के पक्ष में उसी ने किया था। इस प्रकार जयसिंह औरंगजेब का सबसे अधिक विश्वासपात्र सेनापति बन गया था। औरंगजेब ने बादशाह बनते ही यह अनुभव किया कि दक्षिण भारत मुग़लों के हाथ से निकला जा रहा है शिवाजी के नेतृत्व में मराठों का उदय और मराठों द्वारा आये दिन मुग़ल थानों में लूटमार करना एक सर दर्द बन गया था। सूरत को लूट कर और शाइस्ता खाँ आदि को अपमानित कर शिवाजी ने मुग़ल परिवार को अपमानित कर दिया था। ऐसी स्थिति में औरगंजेब ने जयसिंह को दक्षिण में शांति स्थापित करने के लिए 30 सितम्बर 1664 का दक्षिण का सूबेदार बनाकर भेजा गया। जयसिंह अपने दो पुत्र और सैकड़ों कछावा सरदारों के साथ दक्षिण पर आधिपत्य स्थापित करने चला। उसे पूर्ण अधिकार सौंप दिये गये थे। पूना पहुँच कर जयसिंह ने 3 मार्च 1665 ई को जसवंतसिंह से कार्यभार संभाल लिया। जयसिंह ने सबसे पहले दक्षिण की मूल शक्ति शिवाजी को वश में करने की योजना बनाई। इसलिए उसने शिवाजी के सभी शत्रुओं से मित्रतापूर्ण संधि कर उन्हें अपनी तरफ मिला लिया। जयसिंह ने यह भी चेष्टा की कि शिवाजी के सेनापति व साथी भी किसी प्रलोभन में आकर उनकी तरफ मिल जायें। इतिहासकार सर देसाई अपनी पुस्तक में लिखते है कि "एक अर्थ में शिवाजी को चारों ओर से चारो ओर से घेरने के लिये यह जयसिंह की तूफ़ानी लड़ाई थी।

एक तरफ शिवाजी को संधि कर भुलावा देकर जयसिंह उनके विरुद्ध संगठित गुट बना रहा था और दूसरी तरफ स्वयं युद्ध की तैयारियों में लगा था। जयसिंह ने तीन तरफ से शिवाजी पर आक्रमण करने का निश्चत किया। 11 जून 1665 ई को पालकी में बैठकर शिवाजी किले से बाहर निकले और जयसिंह से मिलने आये। पुरंन्दर की संधि के अनुसार शिवाजी को अपने 35 किलो में से 23 किले मुग़लों को देना पड़ा। अन्य 12 किले आसपास का इलाका शिवाजी के अधीन माना गया और उसे मुग़ल दरबार में रहना होगा। एक गुप्त शर्त के अनुसार जब मुग़ल सेना बीजापुर पर हमला करेगी तब शिवाजी को बालाघाट बीजापुर पद्दमघाट पर अधिकार करने की स्वतंत्रता प्राप्त हुई। अगले दिन ही शिवाजी ने पुरन्दर खाली कर दिया और 18 जून तक शम्भाजी भी जयसिंह के पास जा पहुँचा। औरंगजेब ने इन शर्तों को बड़ी खुशी से स्वीकार कर लिया और अपने अधिकारी के साथ एक फरमान और खिलअत भेजी। औरगंजेब ने शिवाजी को राजा की

उपाधि की और एक मणिजड़ित तलवार व छुराभेंट स्वरूप भेजा जिसे शिवाजी ने विधिवत् ग्रहण किया। संधि की पुष्टि का समाचार जयसिंह को 30 सितम्बर 1665 ई को प्राप्त हुए। जयसिंह के आश्वासन पर शिवाजी ने आगरा की यात्रा की किन्तु औरगंजेब के अपमानजनक व्यवहार पर शिवाजी के रूष्ट होने पर उन्हें बंदी बना लिया गया था। जयसिंह ने औरंगजेब के स्वभाव को जानते हुए शिवाजी की रक्षा का भार अपने पुत्र रामसिंह का सौप रखा था। शिवाजी अपनी चतुराई और रामसिंह की सहायता से बंदी गृह से भागकर मथुरा इलाहाबाद के पूर्वी रास्ते से दक्षिण पहुँचें। इधर जयसिंह को बीजापुर अभियान में अपेक्षित सफलता नहीं मिली और 2 जुलाई 1667 ई को बुरहानपुर में उनका निधन हो गया। जयसिंह एक कुशल सेनापति था। उसमें अपने दादा मानसिंह की योग्यता और परदादा भगवंतदास की राजनीतिक योग्यता का समावेश था। उसने भारत और भारत के बाहर तक मुग़ल राज्य की धाक जमा दी थी। अपने 46 वर्ष के शासनकाल में वह निरंतर युद्धों में लगा रहा जिसमें उसे सिर्फ बीजापुर क्षेत्र से निराशा लौटना पड़ा। उसकी कूटनीति का परिचय औरंगजेब का समर्थन, शिवाजी के विरुद्ध गुटबंदी और बीजापुर पर संयुक्त आक्रमणों की योजनाओं को देखने से मिलती है। वह शत्रुओं से भी काम निकाल लेता था और जो काम सेवा और शक्ति नहीं कर सकती थी वह अपनी कूटनीति से पूरा कर लेता था (जैसे शिवाली को आगरा भेजना)। मुग़ल बादशाह उसे हमेशा कठिन से कठिन काम सौंपते थे। जयसिंह एक अच्छा शासक भी था यद्यपि उसका अधिकांश समय सीमा पर या दक्षिण भारत में बीता लेकिन फिर भी उसने अपने राज्य में मुग़ल शैली पर आधारित शासन व्यवस्था लागू कर दी और अजमेर आदि की रियासतें ईनाम में पाकर अपना राज्य विंस्तार भी किया। सबसे बड़ी बात उसकी सफलता की यह है कि अधिकतर बाहर रहने के बावजूद भी राज्य में पूर्ण शांति और सुरक्षा बनी रहती थी। औरंगजेब से मिर्जा राजा जयसिंह को छै: हजारी मनसब मिला था लेकिन मिर्जा राजा के अंतिम दिन निराशा में बीते। बीजापुर युद्ध में जयसिंह ने मुग़ल साम्राज्य के 30 करोड़ रुपये खर्च किए साथ ही अपनी ओर से एक करोड़ रुपये लगा दिए। औरंगजेब ने बड़े ही तिरस्कार और अपमान के साथ यह रकम जयसिंह का लौटाई। इसके अतिरिक्त शिवाजी के भागने के षडयंत्र में औरंगजेब जयसिंह और उसके पुत्र रामसिंह पर संदेह करता रहा था। औरंगजेब ने जयसिंह के विरुद्ध षडयंत्र किए और उसे उसी के छोटे लड़के कीर्तिसिंह के हाथों जहर पिलवा कर मार डाला। डॉ० वी.एस. भार्गव ने

मिर्जा राजा के अंतिम दिनों का वर्णन करते हुए लिखा है- ''जिस सम्राट (औरंगजेब)को राजगद्दी दिलवाने में जयसिंह ने सक्रिय सहयोग दिया था। उसी सम्राट की ओर से जीवन के अंतिम दिनों में बूढ़े साम्राज्य भक्त को निराशा उपहार में मिली।''

मिर्जा राजा जयसिंह की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र रामसिंह (1667-1688 ई) को आमेर का टीका मिला। औरंगजेब रामसिंह पर शिवाजी को बंदीगृह से भगाने का संदेह करता था। अत: उस पर सर्तक दृष्टि रखी जाती थी। रामसिंह को चार हजार का मनसब देकर आसाम विजय हेतु भेजा गया तथा बाद में 1679 ई को खैबर दर्रे की सुरक्षा हेतु नियुक्त किया गया। जब जयसिह ने अपने पोते बिशनसिंह को दक्षिण भेजने से इंकार कर दिया। उसे कोहत भेज दिया गया। जहा निराशा मे उसका सन् 1688 ई को देहांत हो गया। रामसिंह के बाद उसका पोता और किशनसिंह (जिसकी मृत्यु दक्षिण अभियान में हुई थी।) का पुत्र बिशन सिंह (1688-1700ई०) शासक बना। उसने भी मुग़ल बादशाहों से सहयोग व समन्वय की नीति का पालन किया।

बिशनसिंह के पश्चात् उनका पुत्र इतिहास प्रसिद्ध सवाई जयसिंह (1700-1743ई) आमेर का शासक बना। बारह वर्ष की छोटी उम्र में जयसिंह द्वितीय का राज्याभिषेक 25 जनवरी 1700 ई में किया गया। तीन माह के अंदर जयसिंह द्वितीय को 2000 सवार के साथ दक्षिण कूच का हुक्म मिला। रामसिंह के समय से आमेंर की प्रति जाग्रत उपेक्षा का भाव सवाई राजा के समय भी देखने मिले जब उसे दक्षिण में मराठों के विरुद्ध अभियान मे सेनापति का पद न सौपकर शाहजादा बेदार बख्त के अधीन रखा गया। अपने प्रति अविश्वास और अपमानित व्यवहार को सहन करते हुए सवाई जयसिंह ने स्वामिभक्ति से अपना उत्तरदायित्व वहन किया।

(4) बीकानेर

औरंगजेब के समकालीन बीकानेर शासक महाराजा कर्ण सिंह (1631-1669 ई)अनुपसिंह (1669-1698 ई०) स्वरूप सिंह (1698-1700ई०) एवं सुजान सिंह (1700-1737 ई) थे। महाराज कर्णसिंह ने फतहखाँ शाहजी भोसले और परण्डे के अभियान में वीरता दिखलाई। शाहजहां के पुत्रों के उत्तराधिकार युद्ध में कर्ण सिंह तटस्थ रहा बाद में औरंगजेब के बादशाह बनने पर कर्णसिंह ने उसकी सेवाएं

स्वीकार कर ली। उसके उत्तराधिकारी अनुपसिंह (1669-1698 ई०) ने शिवाजी के विरुद्ध शाही सेनापति बहादुर खाँ की वीरता से सहायता की जिसके उपलक्ष मं उसे महाराजा का खिताब दिया गया औरउसे 1677 ई में औरंगाबाद का सूबेदार भी नियुक्त किया गया। इसके बाद उसने दक्षिण में आदूणी बीजापुर, गोलकुण्डा आदि के अभियानों में वीरता दिखाकर "माही मरातिब" का सम्मान प्राप्त किया। अनूपसिंह को पाँच हजार का मनसब भी दिया गया। महाराजा जसवंत सिंह के साथ अनूपसिंह भी काबूल के विद्रोह का दमन करने गया था और कार्य सम्पन्न होने पर लौट आया था। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र स्वरूप सिंह (1698-1700 ई०) बीकानेर का शासक बना। शीतला ज्वर से स्वरूपसिंह के निधन के पश्चात् अनुपसिंह का दूसरा पुत्र सुजानसिंह (1700-1737 ई०) बीकानेर का शासक बना। उसके शासनकाल में मुग़ल-बीकानेर सहयोग मैत्री बनी रही।

(5) जैसलमेर

औरंगजेब के समकालीन जैसलमेर शासक रावल सबल सिंह (सन् 1650-1660 ई०), रावल अमरसिंह (सन् 1660-1701 ई०) एवं रावल जसवंतसिंह (1701 -1707 ई) है रावल सबल सिंह को शाहजहां द्वारा जैसलमेर का टीका फरमान द्वारा दिया गया था। मुहम्मद वारिस कृत बादशाहनामा के अनुसार सबल सिंह को 1000 जात और 700 सवार का मनसब प्राप्त था। रावल सबलसिंह के उत्तराधिकार संघर्ष में भाग लेने के प्रमाण अप्राप्त है। रावल सबलसिंह के पश्चात् उसका द्वितीय पुत्र रावल अमरसिंह (1660-1701 ई०) 22 वर्ष की अवस्था में जैसलमेर की राजगद्दी पर बैठा। रावल अमरसिंह ने सीमांत प्रदेशों पर उपद्रव कर रहे बलोचों का दमन किया। सन् 1678 ई में जोधपुर हमले पर रावल अमरसिंह का छोटा भाई राजसिंह शाही सेना की ओर से युद्ध करते हुए मारा गया। इसके पूर्व राजसिंह बादशाह से जैसलमेर के लिए पोकरण और फलौदी के आधिकार हेतु शाही फरमान प्राप्त करने में सफल हो गया था लेकिन बाद में मुग़लों की नीयत बदल जाने पर जैसलमेर का इन इलाको पर अधिकार नहीं हो सका। बाद में उत्तरोत्तर जैसलमेर राज्य का संबंध केन्द्रीय मुग़ल सत्ता से शिथिल होता चला गया।

रावल अमरसिह की मृत्यु के पश्चात् उसका बड़ा पुत्र राव जसवंतसिंह (1701 -1707) ई० गद्दी पर बैठा। पूर्ववर्ती शासको की भांति रावल जसवंत सिंह के मुग़लों के साथ संबंध की कोई जानकारी स्पष्ट रूप से अप्राप्त है। ऐसा

प्रतीत होता है कि इस समय तक जैसलमेर के शासक निरतंर कमजोर होती जाती केन्द्रीय मुग़ल सत्ता के नियंत्रण से मुक्त होकर अर्धस्वतंत्र शासक के रूप में कार्य करने लगे थे।

(6) अन्य राजपूत राज्य

औरंगजेब के समकालीन बूंदी के हाड़ा शासको में वीर शत्रुशाल (1621-1658ई), रावभाव सिंह (1658-1681ई०) राव अनिरूद्ध सिंह (1681-1695 ई०) एवं राव बुधसिंह (1695-1734 ई) रहे। राव शत्रुशाल ने शाहजहां के समय दौलताबाद बुरहानपुर खानदेश कंधार बल्ख और बदख्शां के अभियानों के वीरता का प्रदर्शन किया। बावन युद्धों का विजेता शत्रुशाल हाड़ा उत्तराधिकार युद्ध में औरंगजेब के विरुद्ध दारा की ओर से लड़ता हुआ सामूगढ़ के युद्ध में मारा गया। रावभाव सिंह (1658-1681 ई०) पहले तो औरंगजेब के भेदभाव की नीति का शिकार हुआ परंतु बाद में उसे बूदी का शासक स्वीकार करके उसे मनसब दिया गया। भावसिंह को शाहजादा मुअज्जम के अंतर्गत औरंगाबाद का शासनाधिकारी नियुक्त किया गया। यहाँ जब मुअज्जम ने अपनी स्वतंत्र मनोवृत्ति का परिचय देते हुए बीकानेर के शासक महाराजा कर्ण सिंह (1631-1669ई०) के सर्वनाश का षडयंत्र रचा तब भावसिंह ने कर्णसिंह की रक्षा की थी। सन् 1681 ई में औरंगाबाद मे ही राव भावसिंह की मृत्यु हो गयी। कोई पुत्र न होने के कारण उसके बाद उसके भाई भीमसिंह का पोता अनिरूद्ध सिंह उसका उत्तराधिकारी हुआ। औरंगजेब ने स्वयं अनिरूद्ध सिंह के उत्तराधिकार की पुष्टि की और उसके राज्याभिषेक के समय सनद के साथ स्वयं को हाथी "गज-गौहर" भेजवाया। दक्षिण के युद्धों में अनिरूद्ध सिंह सदैव बादशाह के साथ रहता और एक बार उसने शाही हरम को शत्रुओं के हाथ में जाने से बचाया था। बाद में उसको आमेर के राजा विशनसिंह के साथ शाहजादे शाहआलम के अधिकार क्षेत्र में आने वाले साम्राज्य के उत्तरी पश्चिमी भू-भागों की व्यवस्था हेतु भेजा गया। यही अनिरूद्ध की सन् 1695 ई में मृत्यु हो गयी। राव अनिरूद्धसिहं के बाद रावबुधसिंह (1695-1734) बूदी के सिंहासन पर बैठा। औरगंजेब की मृत्यु के बाद हुए उत्तराधिकार युद्ध मे राव बुधसिंह ने धौलपुर के युद्ध में शाहआलम (मुअज्जम) के पक्ष में शाह आजम के विरुद्ध भाग लिया। मुअज्जम जो बहादुरशाह के नाम से गद्दी पर बैठा ने बुधसिंह को रावराजा की उपाधि देकर अपनी अंतरंग मित्र मंडली में सम्मिलित कर लिया।

औरंगजेब के समकालीन कोटा के शासक राव मुकुन्द हाड़ा। (1648-1658

ई०) राव जगतसिंह (1658-1683 ई०) रावकिशोर सिंह (1683-1686 ई०) एवं रामसिंह (1686 -1707 ई) थे। रावमुकुन्द हाड़ा ने उत्तराधिकार युद्ध में औरंगजेब के विरुद्ध धरमत के युद्ध में भाग लेकर अपने चार भाईयों सहित वीरगति प्राप्त की थी। लेकिन रावजगत सिंह ने औरंगजेब के अधीन खजुवा के युद्ध मे शुजा के विरुद्ध शाही सेना के हरावल में रहकर विजय प्राप्त की थी। उसे दो हजार का मनसब देकर दक्षिण भेजा गया जहाँ वह अपनी मृत्युपर्यत (1683 ई) युद्धों में व्यस्त रहा। निस्संतान जगतसिंह की मृत्यु के बाद धरमत के युद्ध में जीवित बचे रावमुकुन्द हाड़ा के छोटे भाई किशोर सिंह को कोटा की गद्दी पर बिठाया गया। औरंगजेब ने किशोर सिंह को पुन: दक्षिण भेज दिया। बीजापुर युद्ध में किशोर सिंह ने बहुत नाम कमाया लेकिन वह अर्काट के युद्ध (1986 ई०) में मारा गया। किशोर सिंह के बाद उसका दूसरा पुत्र रामसिंह अपने पिता के पद सम्मान और राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। 17 वी शती के अंतिम वर्षों के शाही इतिहास के पृष्ठों में निरंतर युद्ध एवं मराठों के विद्रोह का विवरण भरा हुआ है जिनमें रामंसिंह की भूमिका किसी भी अन्य राजपूत राजा से कम नहीं है। औरंगजेब की मृत्यु के बाद लड़े गये उत्तराधिकार संघर्ष में उसने शाहजादा आजम का साथ दिया और बड़े शाहजादे मुअज्जम के विरुद्ध लड़ते हुए जाजाऊ के मैदान में वीरगति को प्रदान हुआ। इस संघर्ष में बूंदी के राव बुधसिंह ने बड़े शाहजादे मुअज्जंम के पक्ष में युद्ध किया था इस युद्ध के बाद हाड़ाओं की इन दोनों शाखाओं का परस्पर संघर्ष प्रारंभ हुआ।

औरंगजेब के प्रारंभिग शासनकाल में डूंगरपुर, बासवाड़ा, देवलिया-प्रतापगढ़ इत्यादि के शासकों ने मुग़लों से सहयोग किया। लेकिन जैसे जैसे औरंगजेब के धार्मिक अत्याचारों में वृद्धि हुई, उसके स्वार्थ व अदूरदर्शिता ने राजपूतों को मुग़ल साम्राज्य से दूर कर दिया। जिन हिन्दुओं एवं राजपूतों के सहयोग के बल पर महान अकबर ने एक सुदृढ़ साम्राज्य की नींव रखी थी अदूरदर्शी औरंगजेब ने राजपूतों व हिन्दुओं के विरुद्ध धार्मिक अत्याचार करके एवं पक्षपातपूर्ण नीति अपना कर इस नींव का इस तरह तोड़ा कि उसकी मृत्यु के पश्चात् सुगल साम्राज्य ताश के महल की तरह भरभराकर गिर गया।

औरगंजेब की नीति एवं प्रभाव

व्यक्तिगत रूप में औरगंजेब बहुत अधिक साहसी असाधारण वीर तथा ठण्डे दिमाग से नापतौलकर काम करने वाला मनुष्य था। पन्द्रह वर्ष की उम्र में

हाथी की लड़ाई से लेकर 87 वर्ष की अवस्था में दक्षिण के वागिन खेड़ा का घेरा लगानें वाले मोर्चो में निर्भिक खड़े होकर उसने निरंतर अपनी निडरता और साहस का परिचय दिया। औरंगजेब फकीरों का सा जीवन व्यतीत करता था और धार्मिक रूप से कट्टर था। इसलिए उसको उसके समकालीन "शाही पोशाक में एक दरवेश" और उसकी "मुस्लिम प्रजा उसें" आलमगीर जिन्दा पीर" कहती थी' औरंगजेब की रीतियों नीतियों पर उसके व्यक्तिगत चरित्र और धार्मिक दृष्टिकोण का गहरा प्रभाव था।

औरंगजेब का चरित्रा एवं धार्मिक दृष्टिकोण

आलमगीर का उपनाम धारण करने वाला अंतिम महान मुग़ल औरंगजेब धर्मिक असहिष्णुता, बुद्धि की संकीर्णता, उदाराता की कमी तथा राजनीतिज्ञता के अभाव के होते हुए भी अपने कुछ गुणों के कारण महान था। उसके ये गुण ऐसे थे जो मनुष्यों के ऊपर शासन करने के सर्वोच्च क्षेत्र को छोड़कर जीवन के किसी क्षेत्र में उस सर्वोच्च स्थान दिलाने में समर्थ होते। वह एक सफल सेनापति, मंत्री, अध्यापक और आदर्श मुल्ला बन सकता था। परतु समय ने उसे सिंहासन की जिस संकटपूर्ण ऊंचाई पर बिठा दिया वह उसके जीवन को असफल बनाने और उसकी कीर्ति को नष्ट कर देने का कारण बनी। वह अपने अपने पारिवारिक संबंधों में पवित्र तथा संन्यासी की भांति सरल और संयमी था। वह बहुत ही कर्मपरायण था और उसे आरामतलबी व भोग-विलास से घृणा थी। उसके ये गुण जार्ज ग्रेनविल की याद दिला देते है। ग्रेनविल की अथक परिश्रमशीलता के साथ वह उसकी संकीर्णता और जिद्दीपन से भी पूर्ण था। यूरोपीय यात्री अधपके बालो वाले सम्राट को प्रतिदिन अपना खुला दरबार लगाते प्रत्येक प्रार्थनापत्र को पढ़ते और उन पर अपने हाथों से आदेश लिखते देखकर आश्चर्य किया करते थे। बख्तावर खाँ ने मीरात ए आलम मे बादशाह अबुल मुजफ्फर मुहीउद्दीन मुहम्मद औरंगजेब आलमगीर के चरित्र आदतो और परिमार्जित नैतिकता का वर्णन किया है। उसके अनुसार "औरंगजेब स्वभाव से ही भगवान का भक्त है और कठोरता के धर्म का अनुसरण करता है वह इमाम अबू हनीफा के सिद्धातों का अनुयायी है और कंज के पाँच मूलभूत सिद्धांतों की स्थापना करता है। वजू करने के बाद वह सदैव अपना अधिकांश समय ईश्वर के स्मरणमें लगाता है वह पहले मस्जिद में और फिर महल में सबके साथ और फिर अकेला और सबके साथ तल्लीन होकर नमाज पढ़ता है। वह शुक्रवार और अन्य पवित्र दिन व्रत रखता है और शुक्रवार की नमाज

मुसलमान जनता के साथ जामा मस्जिद में पढ़ता है। वह पवित्र रात्रियों में जागरण करता है भगवत् कृपा के प्रकाश के धर्म और समृद्धि के दीपक जलाता है। अपनी धार्मिकता के कारण वह मस्जिद मे रातें व्यतीत करता है और ईश्वर के भक्तों की संगति में रहता है। वह एकांत में कभी तख्त पर नहीं बैठता है। राजसिंहासन पर बैठने से पूर्व उसको भोजन और वस्त्र के लिए एक राशि मिलती थी। इसका एक अंश वह दान में दिया करता है और अब दिल्ली जिले के कुछ गांव की और दो तीन नमक उत्पादन के क्षेत्रों की जो उसकी निजी आमदनी है पुण्यार्थ दे दिया करता है। शहजादे भी उसका अनुसरण करते है। वह रमजान का पूरे मास का व्रत रखता है और निश्चित समय पर धार्मिक और विद्वानों की संगति में बैठकर कुरान का पाठ करता है। इन लोगों की संगति मे वह कभी 6 और कभी 9 घंटे रात में बैठा रहता है। इस मास के अंतिम 10 दिनों में वह मस्जिद में जाकर भगवान का स्मरण करता है। यद्यपि कई बाधाओं के कारण वह मक्का की यात्रा नहीं कर सकता तथापि उस पवित्र तीर्थ की यात्रा के लिए वह सुविधाएं बढ़ाया करता है जिसको यात्रा करने के समान ही समझा जाता है। अपनी बुद्धि के उदय के पश्चात वह हमेशा निषिद्ध मांस और कर्मों से दूर रहता है और उसमें इतनी पवित्रता है कि वह केवल शुद्ध और न्यायानुकूल ही कर्म करता है। यद्यपि अपने शासनकाल के आरंभ में वह कई संगीत सुनता था और नृत्य देखता था, उसकी संगीत में अच्छी गति है परंतु अब वह संयम और आत्मत्याग का जीवन व्यतीत कर रहा है और कितने ही वर्षों से महान इमाम के सिद्धांतों का पालन करता है। और वह विनोद से दूर रहता है यदि कोई गायक अपने व्यवसाय से लज्जित होता है तो सम्राट उसको वृत्ति दे देता है।'' या उसके निर्वाह के लिए जमीन देता है।'' औरंगजेब ने इस्लामी धर्म के राजत्व के सिद्धांतों के आधार पर राज्य करना शुरू किया था, जिसमें इस्लाम का पालन कराना ही राज्य का मूल कर्तव्य है। इस सिद्धांत ने अकबर के सुलह-ए- कुल के सिद्धांत को ध्वस्त कर दिया और मुग़ल सल्तनत की नीवों को खोखला कर दिया।

औरंगजेब की नीतियॉ -

औरंगजेब एक कट्टर सुन्नी मुसलमान प्रशासक था। कुरान के नियमों का वह अक्षरश: पालन करना चाहता था। यथा वह प्रत्येक दिन पाँचो वक्त नमाज पड़ता, शराब से परहेज रखता, सादा खाता सादा पहनता, अल्लाह पर विश्वास रख कर विकट से विकट परिस्थितियों में भी विचलित नहीं होता आदि। वह स्वयं को

साम्राज्य की सम्पूर्ण प्रजा का शासक मानता किन्तु मुसलमानों की श्रेष्ठता के आधार पर हिन्दुओं की रक्षा करना चाहता था। इस्लाम की रक्षा करना और उसका विस्तार करना वह अपना पवित्र कर्तव्य मानता था। अत: औरंगजेब की धार्मिक सहिष्णुता तथा धर्मांधता पर तत्कालीन परिस्थितियों एवं उसके व्यक्तित्व दोनों का असर था। गद्दी पर बैठने के बाद औरंगजेब ने सर्वप्रथम इस्लाम विरोधी उन सभी प्रथाओं को बंद करने का आदेश जारी किया जिन्हे अकबर ने चलाया था। औरंगजेब ने इस्लाम को भारत वर्ष एवं मुग़ल दरबार में उस स्थान पर स्थापित किया जिस पर वह अकबर के पूर्व प्रतिष्ठित था। उसने सिक्को पर कलमा खुदवाना बंद कर दिया, दरबार में नवरोज के पर्व तथा दशहरा, दीपावली एवं होली जैसे पर्वो को मनाने की प्रथा को समाप्त कर दिया। तुलादान, झरोखा दर्शन जैसे कार्यक्रम बंद कर दिए। उसने इस्लाम को पुन: राजधर्म घोषित कर दिया। उसका एक मात्र उद्देश्य भारत वर्ष को दार उल हर्व (काफिरो का देश) से दार-उल-इस्लाम (इस्लाम का देश) में परिवर्तित कर देना था। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसने बहुदेवतावादी कुफ को समाप्त करने की ठानी और जिहाद के नारे लगाए। इसी उद्देश्य से उसने देश के गैर मुसलमानों को राजनीतिक एवं आर्थिक अधिकारों से वचित रखने का कार्य किया ताकि वे इस हीनता से तंग आकर इस्लाम को स्वीकार कर ले। औरंगजेब ने हिन्दु प्रभावित प्रथाओं की समाप्ति कर दी, शराब एवं भांग ज़ैसे मादक द्रव्यों का सेवन निषेध कर दिया, बड़े शहरों में मुहतसिबों (धर्म निरीक्षक) की नियुक्ति की जो मुसलमानों के बीच कुरान के कानूनो को लागू करते थे। हिन्दू विधि से नमस्कार की प्रथा, तिलक की प्रथा, पशु अथवा मनुष्यों की मूर्तियों को रखने की प्रथा आदि को समाप्त कर दिया गया। आगरे में जहागीर के द्वारा स्थापित की गई हांथियो की मूर्ति को हटवा दिया। संगीत का पूर्ण बहिष्कार कर सब राजकीय संगीतज्ञों को निकाल बाहर किया। राज्य के हिन्दू ज्योतिषियों को पदच्युत कर दिया और वेश्यावृति का निषेध किया। कब्रों को छत से ढकने की मनाही कर दी तथा स्त्रियों का मजारों पर जाना बंद कर दिया, पुराने मजिस्दों की मरम्मत और नये मजिस्दो का निर्माण करवा कर उनके लिये इमाम मुअज्जम आदि नियुक्ति कराई आदि। औरंगजेब के काल में धर्म विरोधी एवं इस्लाम के निन्दकों को कठोर सजाएं दी जाती थी यथा अनेक सूफियों को उनकी उदारता के लिए दण्ड दिया गया। दारा के साथी सरमद को इस्लाम की निंदा के लिए तथा अनेक शियाओं को इस्लाम के प्रथम तीन खलीफाओं को कुछ अपशब्द कहने पर प्राण

दंड दे दिया गया। इस तरह से उसने इस्लाम को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। औरंगजेब ने भड़कीले पोशाकों का व्यवहार बंद कर दिया। उसके काल में पायजामें व दाढ़ी की लम्बाई निश्चित कर दी गई। मुहर्रम के समय जुलुस निकालने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। इसी तरह से उसने सती प्रथा पर भी प्रतिबंध लगाए। इन प्रयासो से साफ परिलक्षित होता है कि औरंगजेब ने इस्लाम के आदर्शो पर शासन करने का निश्चय कर लिया किन्तु सम्राट के ये प्रयत्न समान रूप से सफल नहीं हो पाए। संगीत को दफनाने की कामना प्राय: असफल रही है। इस पर प्रतिबंध के बाबजूद सरदार ओर सामंतो ने संगीतज्ञों को संरक्षण प्रदान किया। औरंगजेब का यह आदेश बड़े बड़े शहरो को छोड़कर मृत प्राय: ही रहा है। शराब भांग आदि मादक द्रव्यों के प्रतिबंध के आदेशों का ठीक से पालन नहीं हुआ। मनूची लिखता है कि शराब का ऐसा आम चलन था कि ओरंगजेब ने एक बार चिड़चिडाकर कहा था कि आश्चर्य है कि इस विशाल साम्राज्य में केवल दो ही व्यक्ति शराब से परहेज करते हैं एक मैं और दूसरा प्रधान काजी। वेश्यावृत्ति पर प्रतिबंध लगाने के बावजूद भी देश में सामन्त ओर सरदार वेश्याओं एवं नर्तकियों को अधिक संख्या में रखते थे। आर्विटन जैसे यात्रियों ने देश में वेश्याओं एवं नर्तकियों की उपस्थिति का वर्णन किया है। औरंगजेब ने अपने शासनकाल में सैकडों मंदिरो को ध्वस्त कर बहुसंख्यक हिन्दु प्रजा की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुचाई थी। अपने शासन काल के प्रारंभ में ही औरंगजेब ने एक हुक्म निकाला था, जिसमें उसने कटक से लेकर मेदनीपुर तक उड़ीसा के प्रत्येक शहर के स्थानीय हाकिमों को सारे मंदिर गिरवा देने की आज्ञा दी थी। पिछले 10 या 12 वर्ष के भीतर बने मिट्टी के झोपड़ों में स्थापित मंदिरो को भी इस हुक्म के अंतर्गत माना गया। औरंगजेब पुराने मंदिरों की मरम्मत करवाना भी बंद करवा दी।

फिर 9 अप्रेल 1669 को उसने एक आम हुक्म दिया कि हिन्दुओं के सभी विद्यालयों और मंदिर गिरा दिए जावें तथा उनकी धार्मिक प्रथाओं को दबाया जाए। अब यह उनकी विनाशकारी कुदाल सोमनाथ के दूसरे मंदिर, बनारस में विश्वनाथ के मंदिर और मथुरा के केशवराय जी के मंदिर के समान बड़े मंदिरों पर भी पड़ी, जिन्हे सारे भारत की समस्त हिन्दू जनता बड़े ही आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखती है। कई वर्ष पहले दारा ने उपहार स्वरूप मथुरा के केशवराय के मंदिर में पत्थर का मनमोहक जंगला लगवा दिया था। यह बात 14 अक्टूबर 1666 ई० को औरंगजेब को ज्ञात हुआ। उसने तत्काल ही हुक्म दिया कि उस जंगल को वहाँ से

हटा दिया जाए अंत में जनवरी 1670 ई० में उसने इस मंदिर को बिल्कुल ही विध्वंस कर देने की आज्ञा दी और यह भी हुक्म दिया कि मथुरा शहर का नाम बदल कर इस्लामाबाद कर दिया जावे। साम्राज्य के सारे सूबों परगनों शहरों और महत्त्वपूर्ण स्थानों में जनता के सदाचार की देख रेख करने के लिए मुहतसिब नियुक्त किए गए। जिनका एक प्रधान कर्तव्य भी होता था कि वे हिन्दुओं के तीर्थो और मंदिरों का विध्वंश कर उन्हें तहस नहस कर दे। जून 1680 में आम्बेर राज्य के स्वामिभक्त राजा की राजधानी के भी सारे मंदिर तुडवा डाले गए। गुजरात में हिन्दुओं को धमार्थ वजीफें के रूप में जो भी जमीनें दी गई थी वे सब सन् 1674 ई० में जब्त कर ली गई।

शाही हुक्म से 2 अप्रेल 1679 ई० को साम्राज्य के सब भागों में जजिया कर लगा दिया गया। यह कर गैर मुसलमानों से ही वसूल होता था। दिल्ली और वहीं के आसपास प्रदेश के हिन्दुओं ने एकत्रित होकर इस कर को हटा लेने के लिए औरंगजेब बड़ी ही करूणाजनक प्रार्थना की। लेकिन औरंगजेब ने उन्हें न सिर्फ अनसुना किया बल्कि अपना हाथी उस भीड़ पर चढ़ा दिया जिससे कई लोग मर गये। इस करसे बहुत बड़ी रकम वसूल होती थी। और इस कर के भार से बचने का एकमात्र उपाय इस्लाम धर्म अंगीकार कर मुसलमान बनना ही था। समकालीन इतिहासकार मनुची ने लिखा है "ऐसे अनेकों हिन्दू जो यह कर नहीं दे सकते थे इस कर को वसूल करने वालों द्वारा किए जाने वाले अपमानों से छुटकारा पाने के लिए मुसलमान हो गए और यह सब देखकर औरंगजेब आनंदित होता है।"

औरगंजेब ने हिन्दूओं के त्योहारो पर भी आंशिक प्रतिबंध लगाए। उदाहरण स्वरूप उसने सड़को पर होली खेलना तथा होली के लिए पैसा या लकड़ी वसूल करना बंद कर दिया। सती प्रथा पर भी उसने निषेध लगाया। हिन्दू मेलों तथा धार्मिक उत्सवों पर भी प्रतिबंध लगाये गए। 1659 में एक फर्मान के द्वारा पुराने मंदिरों के जीर्णोद्धार पर प्रतिबंध लगा दिया। इसके दस वर्ष पश्चात् अपने प्रांत के शासकों को काफिरों में मंदिरों तथा पाठाशालाओं के धार्मिक तथा पवित्र स्थानों पर तोड़ फोड़ करने तथा उनके विद्या के प्रचार को रोकने के कठोर आदेश दिए। जजिया के अतिरिक्त हिन्दुओं पर तीर्थयात्रा कर भी लगाया गया। दूसरे करों को वसूली में भी हिन्दुओं के विरुद्ध पक्षपात किया गया। मुस्लिम व्यापारियों को सीमा शुल्क से मुक्त कर दिया लेकिन हिन्दुओं से 5: चुंगी वसूली जाती रही। हिन्दूओं के बगीचों की पैदावार पर 20 प्रतिशत कर तथा मुलसमानों पर केवल 6 प्रतिशत कर

लगाया जाता था। इसी तरह से पशुओं की बिक्री पर हिन्दुओं को 5 प्रतिशत कर देना पड़ता जबकि मुसलमानों से केवल 2) प्रतिशत कर देना पड़ता था। औरंगजेब के शासन काल मे हिन्दुओं को अन्य दूसरे प्रकार के अपमान भी सहने पड़े जैसे उन्हे यह आदेश दिया गया कि वे मुसलमानों जैसे कपड़े न पहने। सन् 1695 में औरंगजेब ने राजपूतों को छोड़कर अन्य हिन्दुओं को हथियार लेकर निकलने अच्छे नस्ल के घोड़े या पालकी पर चढ़ने की मनाही कर दी। सन् 1671 में एक फर्मान के द्वारा हिन्दुओं को पेशकारो, करोड़ियों तथा दीवानों के पद से हटाकर उनके स्थान पर मुसलमान अधिकारियों की बहाली का आदेश दिया गया। किन्तु जब इस पद के लिए योग्य मुसलमान प्रत्याशी नहीं मिलने लगे तो 50 प्रतिशत मुस्लिम अधिकारियों को रखा जाना अनिवार्य किया गया। बड़े पदों और हिन्दूओं की संख्या दिन प्रतिदिन कम होती चली गई। औरंगजेब को इन कार्यों से भी जब संतोष नहीं हुआ तो उसने बलपूर्वक तथा अन्य कूटनीतिक चालों से हिन्दुओं का धर्म परिर्वतन करना शुरू किया। मुसलमान बनने के लिए उन्हें अनेक प्रकार के प्रोत्साहन दिए गये तथा अपराधियों को इस्लाम स्वीकार कर लेने पर छोड़ जाता। पदच्युत हिन्दू अधिकारियों का इस्लाम अंगीकार कर लेने पर पुनः नौकरी में बहाल कर लिया जाता। पंजाब के कुछ परिवारों के पास ऐसे फर्मान मौजूद है जिनमें इस्लाम स्वीकार करने पर सरकारी नौकरी देने का उल्लेख मिलता है। न्याय शासन भी इस पक्षपात से सर्वथ मुक्त नहीं रहां। अगर सम्पत्ति को लेकर दो व्यक्तियों में झगड़े हो जाते और उसमें से कोई एक इस्लाम स्वीकार कर लेता तो उसे ही सम्पत्ति दे दी जाती। उसने सिखों के गुरू तेग बहादुर, गुरू गोविन्द सिंह के बेटो तथा अन्य प्रतिष्ठित व्यक्तियें को भी मुसलमान बनाने का प्रयत्न किया। शिवाजी के पुत्र शम्भु जी तथा उसके मंत्री कवि कलश को भी मुसलमान होने पर अभयदान का आश्वासन दिया गया। इस प्रकार औरगंजेब के राज्य काल मे साम्राज्य इस्लाम के प्रचार की एक शक्तिशाली संस्था बन गई। औरगंजेब की इस धर्मान्ध एवं असहिष्णुता की नीति का अधिकांश भारतीय एवं पाश्चात् विद्वानों के कटु आलोचना की है। सर बूल्जे हेग ने औरगंजेब को धर्मान्ध सम्बोधित करते हुए लिखा है'' यंत्रणा, आर्थिक दबाव, रिश्वत जबदस्ती धर्म परिवर्तन, पूजा प्रतिबंध आदि उसके साधन थे''। डॉ० स्मिथ के शब्दों में ''औरंगजेब उस राज्य का निर्माण करना चाहता था'' जिसमें मुहम्मद और कुरान महान समझे जाये तथा वे लोगों के जीवन का पथ प्रदर्शन करे। इस भांति औरंगजेब का उद्देश्य हिन्दू धर्म का विनाश एवं मुस्लिम राज्य की स्थापना

करना थां'' वस्तुतः औरंगजेब ने अकबर के यशों पर पानी फेर दिया था और मुग़ल साम्राज्य की जड़ों को खोखला बना दिया था।

नीतियों का प्रभाव

औरंगजेब की धार्मिक नीति का उद्देश्य भारत को ''दार-उल-हर्व'' से ''दार-उल-इस्लाम'' मे परिवर्तित कर यहाँ इस्लामी साम्राज्य की स्थापना करना तथा हिन्दुओं पर पूर्ण नियत्रंण रखना था। किन्तु वह अपने दोनों उद्देश्यों मे असफल रहा। न तो वह साम्राज्य को सुदृढ़ कर सका, न हिन्दुओं को किसी बड़े पैमाने पर मुसलमान बना सका, न सम्पूर्ण मंदिरों का ध्वस्त करा सका और न हीं मूर्ति पूजा को समाप्त कर सका। संगीत एंव मादक द्रव्यों के निषेध में भी उसे असफलता ही मिली। उसके समर्थक मुसलमानो ने भी औरगंजेब की अनेक आज्ञाओं को नहीं माना। अपनी पक्षपातपूर्ण नीति से उसने हिन्दुओं का तो अपना दुश्मन बना लिया किन्तु मुसलमानों को भी अपना विश्वासपात्र नहीं बना सका। उसकी धर्मान्धता के परिणाम मुग़ल साम्राज्य के लिए विध्वंशकारी साबित हुए। सम्पूर्ण साम्राज्य में उसने अपने विरुद्ध क्रोध की ज्वाला को भड़काया। उसकी धर्मान्धता से क्षुब्ध होकर सिक्ख जाट, सतनामी राजपूत एवं मराठों ने साम्राज्य के विरुद्ध भंयकर विद्रोह किए और इन विद्रोहो का दबाने में मुग़ल शासक को अपार धन एवं जन की हानि उठानी पड़ी। साम्राज्य का कोष खाली होता चला गया और जब शिवाजी के अधीन मराठों का उत्कर्ष हुआ तो औरंगजेब उनकी शक्ति को कुचलने के असफल रहा। औरंगजेब अपनी धर्मान्धता से प्रेरित होकर ही दक्षिण भारत के शिया शासकों से उलझा। अकबर ने धार्मिक उदारता की नीति का अपनाकर वीर राजपूतों को मुग़ल साम्राज्य के पक्ष में कर लिया था जो इसकी उन्नति में मजबूत स्तंभ प्रमाणित हुए। अकबर के शासन काल में हिन्दु-मुस्लिम एकता का एक नया अध्याय प्रारंभ हुआ था और देश के राष्टीय जीवन का संचार हुआ थां किन्तु औरंगजेब ने अकबर के लिए किराए पर पानी फेर दिया। उसने धार्मिक असहिष्णुता एवं हिन्दू विरोधी नीति को अपना कर सिर्फ राजपूतों का समर्थन नहीं खो दिया वरन् अब वे मुग़ल साम्राज्य के कट्टर विरोधी हो गए और अब वे साम्राज्य की जड़ खोदने पर उतारू हो गए। औरंगजेब के शासन काल में राष्ट्रीय जीवन अस्तव्यस्त हो गया और हिन्दू मुस्लिम एकता भविष्य के लिए समाप्त हो गई। देश की सैनिक शक्ति दिन प्रति दिन घटती चली गयी और साम्राज्य का विघटन प्रारंभ हो गया। औरगंजेब की धार्मिक नीति प्रत्येक दृष्टिकोण

से असफल सिद्ध हुई थी।

औरंगजेब की नीतियों के फलस्वरूप औरगंजेब के शासन के प्रारंभिक दस वर्ष के अंदर ही मथुरा जिले में गोकुल जाट का विद्रोह प्रारंभ हो गया। अब्दुन्नबी खाँ जो अगस्त 1660 ई से मई 1669 ई तक मथूरा का फौजदार रहा ने बड़े उत्साह से औरंगजेब के मूर्ति विध्वंसकी आज्ञा का पालन किया। उसके कार्यों से अप्रसन्न किसानों ने गोकुल जाट के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया। युद्ध में अब्दुन्नबी खाँ 10 मई 1669 ई मारा गया। यह विद्रोह 1670 ई में जाकर समाप्त हुआ। सिर के सारे बाल और भौहों तक को मुड़वा दिए हुए सतनामियों से 1672 ई में एक साधारण से झगड़े ने एक बड़ा विद्रोह खड़ा कर दिया। दिल्ली से 75 कि.मी. दूर नारनौल के पास एक सतनामी किसान की एक सैनिक से हुई बहस ने शीघ्र की विद्रोह का रूप ग्रहण कर लिया। सतनामियों ने नारनौल के फौजदार को मार भगाया औरा शहर कब्जा कर लियां। विद्रोहियों ने नारनौल लूटकर मस्जिदों को गिरा दिया तथा जिले में अपना शासन कायम करके कर वसूलने लगे। घमासान एवं कठिन युद्ध के बाद शाही सेना बड़ी मुश्किल से इस विद्रोह पर काबू पा सकी। औरंगजेब अपनी धर्मान्धता के चलते सिक्ख गुरू गोविन्द सिंह का दमन करना चाहता था। गोविन्द सिंह भी मुग़लों में बदला लेने के लिए कटिबद्ध थे। औरंगजेब के काल में सिंक्ख गुरू की शक्ति बढ़कर अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी। भंगानी पराजय के बाद पहाड़ी राजाओं ने मुग़लों को वार्षिक कर देना भी बंद दिया था। इसलिए औरंगज़ेब ने सिक्खों और पहाड़ी राजाओं के विरुद्ध अलप के नेतृत्व में एक सेना भेजी। पहाड़ी राजाओं की सेना के साथ मिलकर सिंक्खों ने नांदौन के पास मुग़ल सेना के साथ 1685 ई में युद्ध किया। नांदौन के युद्ध में मुग़लों की पराजय हुई। पराजय के धब्बे को मिटाने और इस क्षेत्र में शांति एवं सुव्यवस्था स्थापित करने के उद्देश्य से औरगंजेब के अपने पुत्र शाहजादा मुअज्जम के नेतृत्व में एक बड़ी सेना भेजी। मुअज्जम को पहाड़ी राजाओं के दमन में तो सफलता मिल गई किन्तु सिक्ख गुरू को दबाने में वह असफल रहा।

अब तक सिक्ख गुरू गोविन्द सिंह ने (1676-1708) ने परिस्थितियों का उचित अवलोकन कर लिया था। उन्होने देश में राष्ट्रीय एकता लाने और प्रजा को औरंगजेब की कट्टर साम्प्रदायिकता से मुक्ति दिलवाने का विचार किया। उन्होने अशिक्षा एवं अंधकार में फंसी हुई जनता को देवी देवताओं के सामने सहायता के

लिए गिड़गिड़ाने के बजाय अपने साहस बाहुल्य तथा बलिदान पर निर्भर रहने का उपदेश दिया। गुरू ने घोषणा की तलवार, एकता साहस और बलिदान से बढ़कर कोई देवी देवता नहीं हैं। उन्होने सिक्खों को एक सुसंगठित सैनिक संगठन में परिणित करने और उनकी धार्मिक भावना को उत्तेजित करने का विचार किया। 30 मार्च 1699 ई बैसाखी के दिन सिक्ख गुरू ने आंनदपुर में सिक्खों के एक बड़े सम्मेलन का आह्वान किया। इस विशेष सम्मेलन में लगभग 80 हजार सिंक्ख एकत्र हुए। गुरू ने सिक्खों की धार्मिक भावना और उनकी आत्म बलिदान की परीक्षा लेने के उद्देश्य से अपने हाथ में नग्न खड्ग लेकर सिक्खों का बलिदान के लिए आह्वान किया। लोगों के बीच भय छा गया। जब गुरू ने तीसरी बार कहा मुझे कुछ ऐसे सिक्ख चाहिए जो इस खड्ग द्वारा खुशी से बलिदान हो सके तो इस मांग पर बारी-बारी से पाँच व्यक्ति आगे आये। गुरूजी के द्वारा ली गई परीक्षा में ये व्यक्ति सफल रहे। कुछ समय पश्चात् गुरू ने उन्हे दीवान में लाकर खड़ा कियां। उन्हे खंड (खड्ग का अमृत) पिलाकर पंजपियारे की संज्ञा से विभूषित किया। वे ही खालसा या खलिख (शुद्ध) कहलाये। इस तरह से गुरू गोविन्द ने सिक्खों के बीच खालसा पंथ की स्थापना की। खालसा पंथ की स्थापना के बाद गुरू गोविंद सिंह के नेतृत्व में सिक्खों और मुग़ल सेना के मध्य निरंतर झड़पे होती रही। इन्ही झगड़ों में गुरू गोविन्द की माता गुजरी और उनके दो पुत्रों को सरहिंद सुबेदार वज़ीर खाँ ने क्रूरता पूर्वक मरवा दिया। गुरू ने चमकौर में शरण ली जहाँ से वह 1704 ई० में सुरक्षित निकल गये।

चमकौर से निकल जाने के बाद 1706 ई में गुरू गोविन्द सिह को फिरोजपुर जिले के खिदराना नामक स्थान में अतिम बार मुंगलों से युद्ध करना पड़ा। इस युद्ध में सिक्खों ने मुग़लों को पराजित कर दिया। इस घटना के कुछ ही दिनों के बाद 1707 ई में औरंगजेब की मृत्यु हो गई। सन् 1707 में नए बादशाह बहादुरशाह ने गुरू से मित्रता करके दक्षिण में चलने का आमंत्रण दिया जहाँ नांदेड में एक अफगान मे उन्हें छुरा भोंक दिया जिससे गुरू गोविन्दसिंह की मृत्यु हो गई। (1708ई)

मुग़ल राजपूत नीति के संदर्भ में औरंगजेब के शासन काल का विशिष्ट महत्त्व है। अकबर ने राजपूतों के साथ मित्रता सहयोग एवं उदारता की नीति को अपनाया था तथा औरंगजेब अनेक अर्थों में अकबर का विरोधाभास था। धर्म के क्षेत्र में अकबर के विपरीत उसने अनुदारता की नीति को अपनाया। मध्यकालीन इतिहास में औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता एवं धर्मान्धता विख्यात है। विशेषकर

हिन्दू धर्म का वह कट्टर विरोधी था उसके शासन का आदर्श भारतवर्ष में दार-उल-इस्लाम की स्थापना करना था और इस उद्देश्य में उसने गैर सुन्नियो पर और विशेष रूप से हिन्दुओं पर घोर अत्याचार किये। उसने हिन्दुओं पर पुनः जजिया, तीर्थ यात्रा कर, उनके धार्मिक अनुष्ठान पर्व त्यौहार एवं धार्मिक कार्यों पर अनेक प्रतिबंध लगा दिये। इतना ही नहीं उसने बड़े स्तर पर हिन्दू मंदिरों का विध्वंस कराना प्रारंभ किया तथा हिन्दुओं को नये मंदिरों के निर्माण और पुराने मंदिरों के जीर्णोद्धार की अनुमति नही दी। औरंगजेब की हिन्दू विरोधी नीति का प्रभाव स्वाभिमानी राजपूतों पर भी पड़ा। चूंकि राजपूत हिन्दुओं के नेता थे और मुग़ल प्रशासन में प्रभावशाली थे अतः औरंगजेब की घृणा उनके प्रति और तीव्र थी। परतु भारत में जब तक आमेर नरेश राजा जय सिंह और मेवाड़ नरेश राजा जसवंत सिंह जैसे शक्तिशाली राजपूत प्रधान जीवित रहे औरंगजेब पूर्ण रूप से राजपूतों का विरोध करने में असमर्थ रहा। किन्तु उनकी मृत्यु के बाद उसने अपने उद्देश्य की पूर्ति का शुभ अवसर प्राप्त हो गया और उसने राजपूतों का दमन प्रारंभ किया। औरंगजेब की प्रतिक्रियावादी एवं अनुदार राजपूत नीति सम्राट एवं साम्राज्य दोनों के लिए अत्यंत घातक प्रमाणित हुई। राजपूत युद्धों में औरंगजेब को कही निर्णयात्मक सफलता प्राप्त नहीं हो पाई और इस चलते उसे अपार धन-जन का हानि उठानी पड़ी। औरंगजेब की नीति ने सम्राट के पद पर तो भंयकर कुठारा घात किया ही इसके आर्थिक परिणाम और भी बदतर साबित हुए। अकबर ने राजपूतों प्रति उदारता सहयोग और मित्रता की नीति को अपना कर मुग़ल साम्राज्य का अद्वितीय विस्तार किया तथा उसे शक्तिशाली बनाया था। अकबर के शासन काल में राजपूत मुग़ल साम्राज्य के आधार स्तंभ बन गये थे जबकि औरंगजेब ने उनके प्रति अदूरदर्शिता एवं अविवेकपूर्ण नीति को अपनाकर उन्हें साम्राज्य का घोर शत्रु बना लिया। राजपूतों के अलग हट जाने से अथवा उनकी वैमनस्यता के कारण साम्राज्य की नींव डगमगा गयी। अतः औरंगजेब को न तो पश्चिमोत्तर सीमा में असंतुष्ट अफगानों की शक्ति को कुचलने और न ही दक्षिण के युद्धो में राजपूतों का सहयोग प्राप्त हुआ। औरंगजेब के विरुद्ध अन्य राज्यों में भी असंतोष फैलने लगा था। उसकी मृत्यु के बाद राजस्थान के अन्य राज्यों ने भी मुग़लों की अधीनता का त्याग कर अपनी-अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। संपूर्ण मुग़ल साम्राज्य में अशांति लूटपाट और विद्रोह की आग भड़क उठी और जैसे ही औरंगजेब की जीवन लीला समाप्त हुई इस आग की लपटों ने मुग़ल साम्राज्य के महल को

जलाकर राख कर दिया। धार्मिक अत्याचार और राष्ट्र के दमन पर बीज बोकर औरंगजेब को युद्ध तथा शांति दोनो में असफलता ही मिली। सार रूप में यह लिखा जा सकता है कि अकबर ने जिस सुलह-ए-कुल की नीति को अपनाकर मुग़ल साम्राज्य करे सुदृढ़ किया था उसके प्रपौत्र औरंगजेब ने उस नीति को उलट कर तथा धार्मिक असहिष्णुता की नीति को अपनाकर मुग़ल साम्राज्य को ध्वस्त कर दिया।

◆◆◆

संदर्भ ग्रंथ सूची

- अबुल फजल, शेख : अकबरनामा; अनु. मथुरा लाल शर्मा, कैलाश पुस्तक सदन ग्वालियर।
- अबुल फजल, शेख : आइन-ए-अकबरी ; अनु. वाई० एच. ब्लोखमन, सम्पादन एस एल गुमर; आदिएश बुक डिपो दिल्ली (सेकण्ड एडीशन 1965)
- अलबरूनी : भारत : नेशनल बुक ट्रस्ट दिल्ली 1997
- आक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ इंडिया : सम्पादन व्ही ए स्मिथ।
- एर्स्काइन, विलियम, हिस्ट्री आफ इंडिया अण्डर हुमांयू : अटलांटिक पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर नई दिल्ली 1994
- एर्स्काइन, विलियम, हिस्ट्री आफ इंडिया अण्डर बाबर : अटलांटिक पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर नई दिल्ली 1994
- ओझा, डा. पी एन ; मुग़लकालीन भारत का सामाजिक जीवन; क्लासिकल पब्लिसिंग कंपनी नई दिल्ली 1984
- ओझा डा. गोरी शंकर हीरानंद: डूंगरपुर राज्य का इतिहास
- बाबर : तुजुक ए बाबरी: अनु. मथुरा लाल शर्मा; कैलाश पुस्तक सदन गवालियर।
- बाबर ; बाबर नामा: अनु. युगजीत नवलपुरी, साहित्य अकादमी नई दिल्ली 1998
- बेवरिज ए एस : मेमायर्स आफ बाबर।
- बाधेला हेतसिंह: राजस्थान के इतिहास की रूपरेखा; रिसर्च पब्लिकेशंस जयपुर 1998
- बाधेला हेतसिंह: मध्यकालीन राजस्थान का इतिहास ; रिसर्च पब्लिकेशंस जयपुर 1998
- भार्गव डा. वी एस : राजस्थान के इतिहास का सर्वेक्षण
- कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, वाल्यूम प्प् एण्ड वाल्यूम प्ट ; सम्पादन वेल्सले हेग, एस चांद एण्ड कंपनी दिल्ली 1965
- काम्मिस्सेरियत, एम एस : हिस्ट्री आफ गुजरात , वाल्यूम प्द मुग़ल पीरियड - फ्राम 1573 टू 1738, ओरिएण्टे लागमेन बम्बई, 1957

- दिवाकर बी एम : राजस्थान का इतिहास ; साहित्यागार जयपुर।
- इलियट एवं डाउसन: भारत का इतिहास: अनु. मथुरा लाल शर्मा, पुनरीक्षक आर्शीवादीलाल श्रीवास्तव, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कंपनी, आगरा, खण्ड एक से सात 1969
- गुप्त शिवकुमार: मध्यकालीन भारत का इतिहास (1526-1656) पंचशील प्रकाशन जयपुर 1999।
- गुप्त शिवकुमार: मध्यकालीन भारत का इतिहास (1656-1761) पंचशील प्रकाशन जयपुर 1999।
- गुप्त मानिक लाल : मध्य कालीन भारत का इतिहास (मुग़ल कालीन भारत - 1526 से 1739) अटलांटिक पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर दिल्ली 1998।
- ईश्वरी प्रसाद: ए शार्ट हिस्ट्री आफ मुस्लिम रूल इन इंडिया, द इंडियन प्रेस(पब्लिकेसन) प्राइवेट लिमिटेड इलाहाबाद 1965
- जहांगीर : तुजुक ए जहागीरी ; अनु. मथुरा लाल शर्मा कैलाश पुस्तक सदन ग्वालियर 1976
- कानूनगो डा. कालिका रंजन: दाराशिकोह गया प्रसाद एण्ड संस , आगरा द्वितीय संस्करण। (1953)
- कानूनगो डा. कालिका रंजन: शेरशाह और उसका समय अनु मथुरा लाल शर्मा कैलाश पुस्तक सदन ग्वालियर 1969
- लेनपुल स्टैनले , मध्यकालीन भारत, एस चांद एण्ड कंपनी नई दिल्ली
- मजूमदार रमेश चंद्र , रायचौधरी हेमचंद , एवं दत्त कालिकिंकर : भारत का वृहत इतिहास(द्वितीय भाग मध्यकालीन भारत) ; मैकलिन एण्ड कंपनी लंदन 1960
- माहेश्वरी डा. हरिबल्लभ: जैसलमेर राज्य का मध्यकालीन इतिहास ; राजस्थानी ग्रंथागार जोधपुर 1997।
- मुंशी देवीप्रसाद कृत शांहजहांनामा: सम्पादक डा. रधुवीर सिंह एवं डा. मनोहर सिंह राणावत; पब्लिकेसन स्कीम जयपुर 1990
- पाण्डे अवध बिहारी: मध्यकालीन भारत ; सेन्ट्रल बुक डिपो इलाहाबाद।1967
- राधेश्याम डा.; मुग़ल सम्राट बाबर; बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी पटना 1974।

- सरदेसाई, गोविंद सखाराम : मराठों का नवीन इतिहास, प्रथम खण्ड शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी आगरा (1972)
- सरकार यदुनाथ : औरंगजेब के उपाख्यान ; शिवलाल अग्रवाल एण्ड कपनी, आगरा (1967)
- सरकार, यदुनाथ : औरंगजेब (1618-1707) हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर प्राइवेट लिमिटेड, बम्बई (1970)
- सरकार, डॉ. एस.सी. एवं दत्त, डॉ. के.के. भारत का आधुनिक इतिहास (सन् 1526 से) इंडियन प्रेस पब्लिकेशन प्रा.लि., इलाहाबाद (1967)
- सक्सेना, बनारसी प्रसाद : मुग़ल सम्राट शाहजहां, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर (1974)
- सिन्हा, विपिन बिहारी : मध्यकालीन भारत : ज्ञानदा पब्लिकेशंस पटना (1987)
- शास्त्री, डॉ. के.एल. नीलकण्ड : दक्षिण भारत का इतिहास,अनु. डॉ. वीरेन्द्र वर्मा, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी पटना (1978)
- शर्मा एस.आर. : द क्रेसेण्ट इन इण्डिया ए स्टडी इन मिडीवल हिस्ट्री : हिन्द किताब लिमिटेड, बम्बई (1966)
- शर्मा, एस.आर. : भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास : लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा (1965)
- शर्मा, मथुरा लाल : मुग़लकालीन भारत ; कैलाश पुस्तक सदन, ग्वालियर (1970)
- शर्मा, गोपीनाथ : राजस्थान का इतिहास : राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर (1970)
- शर्मा, गोपीनाथ : मेवाड़ मुग़ल संबध : राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर (1976)
- श्रीवास्तव आर्शीवादी लाल : भारत का इतिहास (1000-1707) शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा (1979)
- श्रीवास्तव, हरिशचंद्र : हुमायूं : स्टर्लिग पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली (1985)

भारत के इतिहास में ईस्वी सन् 1526 एक नए युग का प्रस्थान बिंदु माना जाता है। जब पिता की ओर से तैमूर का वंशज और माता की ओर से चंगेज खां से संबंधित बाबर ने हिन्दुस्तान में मुग़ल साम्राज्य की नींव डाली। मुग़लिया सल्तनत के प्रारंभिक 150 वर्ष भारतीय इतिहास में अविस्मरणीय हैं।

राजपूत जो तत्कालीन भारत की शक्तिशाली सैनिक जाति थी, परम्परानुरूप मुग़लों से विशेष रूप से बाबर से, जमकर लड़ाईयाँ लड़ीं । अकबर ने ठीक ही सोचा कि यदि राजपूतों की शत्रुता खतरनाक है, तो उनकी मित्रता भी उतनी ही काम की होगी। अकबर के नवस्थापित साम्राज्य के लिए यह आवश्यक भी था कि राजपूत उसके नियंत्रण में रहें, अत: उसने (अकबर) राजपूतों के प्रति मैत्रीपूर्ण नीति अपना कर उन्हें (राजपूतों को) साम्राज्य का सम्माननीय समर्थक बना लिया। बदले में राजपूतों ने सेना, शासन, अर्थनीति, साहित्य और कला आदि विभिन्न क्षेत्रों में मुग़ल साम्राज्य की अविस्मरणीय सेवा की। इस प्रकार मुग़ल राजपूत मैत्री ने उस राजनीतिक एकता, शासन की योग्यता और संास्कृतिक चमत्कार की प्रेरित में अभूतपूर्व योगदान दिया। इस पुस्तक का मूल उद्देश्य सन् 1526 से 1707 तक की अवधि में मुग़लों एवं राजपूतों के मध्य संबंधों का विश्लेषणात्मक अध्ययन करना है।

डॉ0 प्रदीप शुक्ल

एम० ए०, पी० एच-डी०

* **जन्म : 15.5.1962**
* **वर्तमान पद :**

उपाचार्य, रीडर एवं अध्यक्ष, इतिहास विश्वविद्यालय शिक्षण विभाग, गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर (छत्तीसगढ़)।

* कुलानुशासक (प्राक्टर) गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर (छत्तीसगढ़) का अतिरिक्त प्रभार।
* शोध निर्देशक के रूप में 20 छात्र-छात्राओं के पी० एच-डी० शोध प्रबन्ध हेतु निर्देशन।
* **शोध-पत्र** : 75 से अधिक शोध-पत्र राष्ट्रीय स्तर की शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित।
* **अनुभव** : 20 वर्षों से स्नातकोत्तर कक्षाओं में अध्यापन अनुभव।
* **प्रकाशित कृति :**

उदयाचल से उत्तरायण, 1993

* म0 प्र0 विधानसभा से संसदीय एवं रचनात्मक लेखन हेतु डॉ0 अम्बेडकर स्मृति पुरस्कार से सम्मानित।
* **अध्यक्ष,** अध्ययन मण्डल इतिहास, गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर (छत्तीसगढ़)।
* **सदस्य,** केन्द्रीय अध्ययन मण्डल, इतिहास, छत्तीसगढ़।

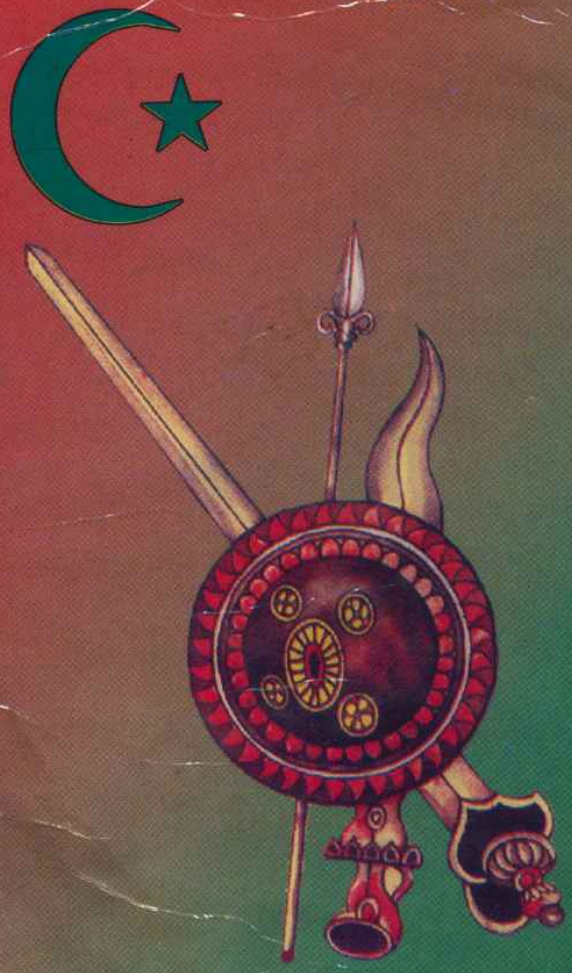

मुग़ल साम्राज्य और राजपूत